सूरदास और उनका भ्रमरगीत

(महाकवि सूरदास के व्यक्तित्व एवं कृतित्व तथा उनके भ्रमरगीत का आलोचनात्मक और व्याख्यात्मक अध्ययन)

दामोदरदास गुप्त एम०ए०, साहित्यरत्न

हिन्दी साहित्य संसार
दिल्ली-६ पटना-४

प्रकाशक
रामकृष्ण शर्मा
हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली–६
ब्रांच
खजांची रोड, पटना–४

प्रथम संस्करण
अक्टूबर १९६१

मूल्य
साढ़े बारह रुपये (१२.५०)

मुद्रक
[illegible] (रजि०)
[illegible], दिल्ली–१२

दो शब्द

हिन्दी भाषा-साहित्य में टीका ग्रंथों को जो उपेक्षा एवं निरादर प्राप्त हुआ है उसका एकमात्र कारण यह है कि इस 'टीका' शब्द का प्रयोग बहुत रूढ़ अर्थ में होता रहा है। अन्य भाषाओं के साहित्य में इस शब्द की दशा इस प्रकार की नहीं है। मराठी में टीका आलोचना को ही कहा जाता है। महाराष्ट्र का आलोचक टीकाकार ही कहलाता है। संस्कृत में भी टीका शब्द उपेक्षणीय नहीं है। आदरणीय श्री राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में टीका को आलोचना का ही एक रूप माना है। पाश्चात्य जगत् में भी टीकाकार होना गौरव की बात ही समझी जाती है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो टीका उस व्याख्यात्मक आलोचना, जिसे मौल्टन ने सर्वश्रेष्ठ समीक्षा-पद्धति की संज्ञा दी है, का ही एक रूप है। वस्तुतः टीकाकार में भी वही प्रतिभा अपेक्षित है जो एक सत्समालोचक में होनी चाहिए।

यह भी सत्य है कि हिन्दी में टीका-ग्रंथों का अभाव है। जो कुछ पुस्तकें टीका ग्रंथ के नाम से प्रकाशित की जा रही हैं वे वस्तुतः टीका ग्रंथ नहीं कहला सकतीं। बाजार में जो पुस्तकें कुंजी, मार्गदर्शक, पथप्रदर्शक तथा गाइड आदि नामों से बिक रही हैं उन्हें टीका की संज्ञा देना 'टीका' जैसे महान् शब्द का अपमान करना है। सच पूछा जाय तो इसी प्रकार की पुस्तकों की बहुलता के कारण ही टीका उपेक्षा की वस्तु बन गई है। इसी अभाव की पूर्ति के हेतु इन पंक्तियों के लेखक ने महाकवि सूरदास के 'सूरसागर' नामक काव्यग्रंथ के आधार पर प्रस्तुत भ्रमरगीत का सम्पादन (टीका सहित) किया है। शायद प्रस्तुत पुस्तक टीका के प्रति उपेक्षा को कम करने में किसी दृष्टिकोण से किसी न किसी मात्रा में सहायक बने।

व्याख्या के सम्बन्ध में एक बात और कह देना चाहता हूँ। मराठी में 'व्याख्या' को रसग्रहण कहा गया है। मराठी का यह 'रसग्रहण' शब्द व्याख्या के लिए अत्यन्त उपयुक्त एवं सार्थक शब्द है। व्याख्याकार किसी भी पद अथवा पंक्ति का स्पष्टीकरण ठीक तभी कर सकता है जबकि वह उसका रसास्वादन कर सके। यदि मैं कहना चाहूँ तो कह सकता हूँ कि हमारे कुंजी लेखक महाशयों के सम्मुख रसग्रहण का प्रश्न ही नहीं उठता। वे तो प्रकाशक महोदय द्वारा प्रदान किये हुए पैसे से रसग्रहण करने के आदी बन चुके हैं। उनकी इन पुस्तकों के विषय में यदि यह कह दिया जाय कि वे 'लोकहिताय' के स्थान पर लोभप्रधान का ही आदर्श प्रस्तुत करती हैं तो कुछ भी अत्युक्ति न होगी। इन पंक्तियों का लेखक अपनी इस टीका की मुकम्मलता पर कोई गर्व

प्रगट करना तो नहीं चाहता किन्तु हाँ, इतना अवश्य कह सकता है कि उसने सूर के पदों को समझने का प्रयास अवश्य किया है।

सूर का 'भ्रमरगीत' प्रायः प्रत्येक विश्वविद्यालय की एम०ए० कक्षा में पढ़ाया जाता है। लेखक ने पुस्तक के लिखने में जहाँ सूर के रसिक पाठकों को सामग्री दी है वहाँ इन उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों के हित का भी ध्यान रखा है। पहले कुछ पृष्ठों में भ्रमरगीत से सम्बन्धित एक भूमिका है जो सूर के इन पदों को समझने में पाठक को सहायता प्रदान करेगी तथा साथ ही विद्यार्थियों के लिए परीक्षोपयोगी प्रश्नों के उत्तर भी दे सकेगी।

अतृप्ति लक्ष्यपूर्ति में साधक होती है, इस बात को समझते हुए लेखक अपनी इस कृति पर पूर्ण संतोष नहीं कर पा रहा है। अतः वह अपने उन मित्रों का सदैव आभारी रहेगा जो इसकी त्रुटियों और अभावों की ओर उसका ध्यान आकृष्ट करावेंगे।

पुस्तक आपके हाथों में है। कैसी बन पड़ी है, इसका निश्चय आप ही करेंगे। मैं तो केवल इतना ही कह सकता हूँ कि इसकी उपादेयता का श्रेय महाकवि सूरदास को है जिनके पदों से यह अलंकृत हो पायी है और इसकी त्रुटियों का दायित्व मेरी स्वयं की अल्पज्ञता पर है।

दामोदरदास गुप्त

हापुड़
१५–१०–६३

८. उद्धव-गोपी संवाद ३७९
९. मथुरा लौटने पर उद्धव का वचन कृष्ण-प्रति ३८० से ३९९ तक
१०. कृष्ण-वचन उद्धव-प्रति ४००

८. उद्धव-गोपी संवाद १९
९. गोपी वचन २० से ३७६ तक
१०. यशोदा का वचन उद्धव-प्रति ३७७ से ३७९ तक
११. मथुरा लौटने पर उद्धव-वचन कृष्ण-प्रति ३८० से ३९९ तक
१२. श्रीकृष्ण-वचन उद्धव-प्रति ४००

पदों के क्रम में अन्तर

निम्न विवरण से जहाँ एक ओर सूर के भ्रमरगीत के विद्यार्थियों को यह ज्ञात होगा कि इन दोनों संग्रहों के पदों के क्रम में महान् अन्तर है, वहाँ साथ ही उन्हें यह भी सुगमता से पता लग जायगा कि इस संग्रह का कौनसा पद दूसरे संग्रह में किस स्थान पर संगृहीत है।

प्रस्तुत संग्रह के पद		शुक्ल जी के संग्रह में	प्रस्तुत संग्रह के पद		शुक्ल जी के संग्रह मे
१.	—	३	१७.	—	१६८
२.	—	४	१८.	—	३७८
३.	—	५	१९.	—	३७९
४.	—	६	२०.	—	१६
५.	—	१	२१.	—	१८
६.	—	७	२२.	—	१९
७.	—	८	२३.	—	२२
८.	—	९	२४.	—	२३
९.	—	२	२५.	—	२०
१०.	—	१०	२६.	—	२१
११.	—	११	२७.	—	२६
१२.	—	१२	२८.	—	२७
१३.	—	१३	२९.	—	२४
१४.	—	१४	३०.	—	२५
१५.	—	१५	३१.	—	३०
१६.	—	१७	३२.	—	३१

प्रस्तुत संग्रह के पद		शुक्ल जी के संग्रह में	प्रस्तुत संग्रह के पद		शुक्ल जी के संग्रह में
३३.	—	२६	६४.	—	६१
३४.	—	२८	६५.	—	६४
३५.	—	३४	६६.	—	६५
३६.	—	३५	६७.	—	६२
३७.	—	३२	६८.	—	६३
३८.	—	३३	६९.	—	६८
३९.	—	३८	७०.	—	६९
४०	—	३९	७१.	—	६६
४१.	—	३६	७२.	—	६७
४२	—	३७	७३.	—	७०
४३.	—	४०	७४.	—	७१
४४.	—	४१	७५	—	७४
४५.	—	४२	७६.	—	७५
४६.	—	४३	७७.	—	७२
४७.	—	४६	७८.	—	७३
४८.	—	४७	७९.	—	७८
४९.	—	४४	८०.	—	७९
५०.	—	४५	८१.	—	७६
५१.	—	५०	८२.	—	७७
५२.	—	५१	८३.	—	८४
५३.	—	४८	८४.	—	८५
५४.	—	४९	८५.	—	८६
५५.	—	५४	८६.	—	८७
५६.	—	५५	८७.	—	८८
५७.	—	५२	८८.	—	८९
५८.	—	५३	८९.	—	९०
५९.	—	५८	९०.	—	९१
६०.	—	५९	९१.	—	८२
६१.	—	५०	९२.	—	८३
६२.	—	५७	९३.	—	९२
६३.	—	६०	९४.	—	९३

प्रस्तुत संग्रह के पद		शुक्ल जी के संग्रह में	प्रस्तुत संग्रह के पद		शुक्ल जी के संग्रह में
१५७.	—	१५४	१८८.	—	१८६
१५८.	—	१५५	१८९.	—	१८७
१५९.	—	१५६	१९०.	—	१८८
१६०.	—	१५७	१९१	—	१८९
१६१.	—	१५८	१९२.	—	१९०
१६२.	—	१५९	१९३	—	१९१
१६३.	—	१६०	१९४.	—	१९२
१६४.	—	१६१	१९५	—	१९३
१६५.	—	१६२	१९६	—	१९४
१६६.	—	१६३	१९७.	—	१९५
१६७.	—	१६४	१९८.	—	१९६
१६८.	—	१६५	१९९	—	१९७
१६९.	—	१६६	२००	—	१९८
१७०	—	१६७	२०१	—	१९९
१७१.	—	१६८	२०२.	—	२००
१७२.	—	१६९	२०३	—	२०१
१७३.	—	१७०	२०४.	—	२०२
१७४.	—	१७१	२०५	—	२०३
१७५.	—	१७२	२०६	—	२०४
१७६.	—	१७३	२०७	—	२०५
१७७	—	१७४	२०८	—	२०६
७८.	—	१७५	२०९	—	२०७
१७९.	—	१७६	२१०.	—	२०८
१८०.	—	१७७	२११.	—	२०९
१८१.	—	१७८	२१२.	—	२१०
१८२.	—	१७९	२१३.	—	२११
१८३.	—	१८०	२१४.	—	२१२
१८४.	—	१८१	२१५.	—	२१३
१८५.	—	१८२	२१६.	—	२१४
१८६.	—	१८३	२१७	—	२१५
१८७	—	१८४	२१८.	—	२१६

प्रस्तुत संग्रह के पद		शुक्ल जी के संग्रह में
२८१.	—	२७९
२८२.	—	२८०
२८३.	—	२८१
२८४.	—	२८२
२८५.	—	२८३
२८६.	—	२८४
२८७.	—	२८५
२८८.	—	२८६
२८९.	—	२८७
२९०.	—	२८८
२९१.	—	२८९
२९२.	—	२९०
२९३.	—	२९१
२९४.	—	२९२
२९५.	—	२९३
२९६.	—	२९४
२९७.	—	२९५
२९८.	—	२९६
२९९.	—	२९७
३००.	—	२९८
३०१.	—	२९९
३०२.	—	३००
३०३.	—	३०१
३०४.	—	३०२
३०५.	—	३०३
३०६.	—	३०४
३०७.	—	३०५
३०८.	—	३०६
३०९.	—	३०७
३१०.	—	३०८
३११.	—	३०९

प्रस्तुत संग्रह के पद		शुक्ल जी के संग्रह मे
३१२.	—	३१०
३१३.	—	३११
३१४.	—	३१२
३१५.	—	३१३
३१६.	—	३१४
३१७.	—	३१५
३१८.	—	३१६
३१९.	—	३१७
३२०.	—	३१८
३२१.	—	३१९
३२२.	—	३२०
३२३.	—	३२१
३२४.	—	३२२
३२५.	—	३२३
३२६.	—	३२४
३२७.	—	३२५
३२८.	—	३२६
३२९.	—	३२७
३३०.	—	३२८
३३१.	—	३२९
३३२.	—	३३०
३३३.	—	३३१
३३४.	—	३३२
३३५.	—	३३३
३३६.	—	३३४
३३७.	—	३३५
३३८.	—	३३६
३३९.	—	३३७
३४०.	—	३३८
३४१.	—	३३९
३४२.	—	३४०

अनुक्रमणिका

आलोचना-खण्ड

ग्यारहवाँ अध्याय

पृष्ठ

: १ :

जीवन-परिचय और भ्रमरगीत-मूल्यांकन

जीवन-झाँकी

हिन्दी साहित्य के स्वर्ण-युग भक्ति-काल के कवियों के व्यक्तिगत जीवन के विषय में प्रामाणिक एवं निश्चित रूप से कुछ कहना बड़ा कठिन है। इस काल के कवि, कवि होने से पूर्व अपने आराध्यदेव के महान् प्रेमी भक्त थे। उनका व्यक्तित्व एवं स्वार्थ अपने प्रिय द्वारा निर्मित सृष्टि के कण-कण में व्याप्त हो गया था। वे अपने प्रिय के प्रेम में इतने तन्मय हो गये थे कि अपने विषय में वे न तो कुछ कहना ही चाहते थे और न उनके पास इसके लिए कोई अवकाश ही था। उनके संसर्ग में आने वाले व्यक्तियों ने भी उनके जीवन के विषय में बहुत कम लिखा है। 'सूरसागर' के रचयिता महात्मा सूरदास के जीवन के विषय में भी यह कथन बावन तोले पाव रत्ती सही ही उतरता है। उनके जीवन का प्रामाणिक एवं मतभेदों से मुक्त वृत्त अप्राप्य है।

किन्तु तो भी विभिन्न विद्वानों ने इस विषय में अब तक अनेकों खोज की हैं और अन्तःसाक्ष्य एवं बाह्यसाक्ष्य के आधार पर अपने-अपने मतों की पुष्टि करने का प्रयास किया है। यहाँ हम उन सब विवादग्रस्त मतों के चक्कर में न पड़कर सर्वाधिक उपयुक्त, प्रामाणिक एवं तर्कसंगत मतों के आधार पर ही उनके जीवन की झाँकी प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे। सारल्य की दृष्टि से यदि हम अपने चरितनायक के जीवन-क्रम को विभिन्न शीर्षकों में विभक्त कर लें, तो उचित ही रहेगा।

जन्म-स्थान तथा जन्म-तिथि

वह कौनसा पावन स्थान था जिस पर भक्तराज सूरदास ने जन्म लिया था? इस विषय में गोपाचल, रुनकुता, गऊघाट तथा सीही आदि स्थानों का अनुमान लगाया जाता है। डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल गोपाचल को सूर की जन्मभूमि मानते हैं। आचार्य शुक्ल तथा डॉ० श्यामसुन्दर दास ने अपना मत रुनकुता के पक्ष में प्रगट किया है। गऊघाट वाली बात तो लगभग सभी प्रमुख विद्वान नहीं मानते। यहाँ तो सूरदासजी बाद में आये थे। सर्वाधिक प्रामाणिक, उपयुक्त एवं तर्कसंगत मत हमें वार्ता-साहित्य से ही उपलब्ध होता है। इसके अनुसार दिल्ली से चार कोस दूर सीही नामक ग्राम ही सूर की जन्मभूमि है। इस मत की पुष्टि के प्रमाण सर्वाधिक युक्तिसंगत प्रतीत होते हैं। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के भावप्रकाश में श्री हरिरायजी

देवीप्रसाद आदि 'साहित्य लहरी' के इसी पद को ठीक मानकर सूर को चन्द्रबरदाई का वंशज मानते हैं। आगरा का 'एजुकेशनल गजट' तथा 'कल्याण' का 'योगांक' भी इसी के पक्ष में दृष्टिगत हुआ है। प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर चन्द्रवरदाई भाट ठहरते हैं अतः यदि सूरदास इनके वंशज थे तो वे जाति से भाट हुए। किन्तु यह मत हमें भ्रामक प्रतीत होता है। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के पुत्र गोस्वामी यदुनाथ जी ने विट्ठलनाथ जी के ही सेवक श्रीनाथ भट्ट ने तथा इन्हीं के समकालीन कवि श्री प्राणनाथ ने सूर को स्पष्ट रूप से ब्राह्मण लिखा है। ये सूरदास के समकालीन थे। अतः इनकी बातों पर उपर्युक्त विद्वानों से अधिक विश्वास करना न्यायसंगत तथा उचित है अत. निश्चित है कि सूरदास जी चन्द्रवरदाई के वंशज नहीं थे। चन्द्रवरदाई भाट थे और सूर ब्राह्मण जाति के थे।

नेत्रहीनता

इसमें तो अब कोई सन्देह ही नहीं है कि सूरदास जी नेत्रविहीन थे। वाद-विवाद का विषय तो यह बना हुआ है कि वे जन्म से ही अन्धे थे अथवा उनके नेत्रों की ज्योति बाद में किसी कारणवश चली गई थी। अधिकांश विद्वान अन्तःसाक्ष्य एवं वाह्यसाक्ष्य के आधार पर इन्हें जन्मांध ही बताते हैं। श्री मुन्शीराम शर्मा, प० द्वारिकाप्रसाद पारीख तथा डॉ० नन्ददुलारे बाजपेयी उनके समकालीन कवियों जैसे श्री नाथ भट्ट, प्राणनाथ तथा हरिराय जी के अनेक कथन उद्धृत कर इनका जन्मांध होना ही प्रमाणित करते हैं। जो विद्वान जन्मांध होने में सन्देह करते हैं उनका सबसे प्रबल तर्क यह है कि एक जन्म से अंधा इस प्रकार के पूर्ण, सूक्ष्म, स्वाभाविक एवं मनोरम वर्णन नहीं कर सकता। यह तर्क हमें भी कुछ कम प्रभावशाली तथा तर्क-संगत प्रतीत नहीं होता। सूरदास जी दिव्य-दृष्टि सम्पन्न थे—ठीक है होंगे। किन्तु अपनी दिव्य दृष्टि से ही इतने सूक्ष्म निरीक्षण कर लिये, यह बात हमारी समझ में नहीं आती। हाँ, अभी हाल में ही प्रकाशित 'सूर-निर्णय' मे सूरदास के कुछ ऐसे पद खोजकर उद्धृत किये गये हैं जो उनके जन्म से ही नेत्रविहीन होने का स्पष्ट उल्लेख करते हैं। यदि ये पद पूर्णतः प्रामाणिक सिद्ध हो जायें तो यह विवाद सदैव के लिए मिट जाय।

संक्षिप्त जीवन क्रम तथा देहावसान

अब तक की समस्त खोजों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सूरदास लगभग छः वर्ष की आयु तक अपने माता-पिता के साथ रहे तथा तत्पश्चात् घर छोड़ कर चले गये। अपने जन्म स्थान से चार कोस दूर जाकर वे एक ग्राम मे रहने लगे और अट्ठारह वर्ष की आयु तक वहीं रहे। यहाँ इस काल में वे सच्ची भविष्य वाणी करने वाले के रूप मे बहुत प्रसिद्ध हो गये थे। यहाँ उनके कई सेवक भी बन गये तथा धन भी पर्याप्त अर्जित किया। इसी बीच उन्होंने संगीत-कला का भी अच्छा अभ्यास कर लिया।

किन्तु शान्ति का खोजी अशान्ति की दलदल मे फँस गया। घर से निकले थे

सच्ची शान्ति की प्राप्ति के लिए, माया के चक्कर में फंसकर फंस गये अशान्ति की दलदल में। *इस समय उन्हें इस अवस्था में महान पश्चात्ताप हुआ,* उनके *विनय* के पद इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं। सम्भवतः इसी कारण सूरदास जी ने पुनः अपना सब वैभव त्याग दिया और व्रज की भूमि में चले गये। पहले कुछ समय तक वे मथुरा रहे और फिर गऊघाट (मथुरा और आगरा के बीच) पर अपना निवास स्थान बना लिया। यहाँ वे पूर्णतः विरक्त रहकर स्वरचित विनय के पद गाया करते थे कि एक दिन एक महान् सुधारक (श्री वल्लभाचार्य) गऊघाट पर ठहरे और सूरदास को भक्तराज ही बना गये। उन्होंने आचार्यजी को विनय और दीनता से पूर्ण पद सुनाए। श्री आचार्य जी ने कहा 'तुम सूर होके ऐसे घिघियात काहे को हो—कछु *भगवद्लीला गावो।' अब क्या था, सूर ने पुष्टि सम्प्रदाय की दीक्षा ली तथा आचार्यजी* से भगवद्लीलाओं का ज्ञान प्राप्त किया। इसके पश्चात् सूर आचार्यजी के साथ ही चल दिये और गोवर्धन पर्वत पर पहुँच कर श्रीनाथ जी के मन्दिर में कीर्तन करने का भार प्राप्त किया।

सूरदास जी का शेष जीवन स्थायी रूप से श्रीनाथ जी का कीर्तन करते हुए ही व्यतीत हुआ। यहाँ कीर्तन करते हुए इन्होंने सहस्रों पद बनाये। धीरे-धीरे सूर की प्रसिद्धि सर्वत्र फैल गई। कहते हैं कि तत्कालीन भारत सम्राट अकबर ने भी इनसे भेंट करने की इच्छा प्रकट की थी जो पूरी हुई। श्री आचार्यजी की मृत्यु के पश्चात् उनके *पुत्र श्री विट्ठलनाथ ने उनकी गद्दी संभाली।* इन्होंने *अपने पिता के चार तथा अपने* चार शिष्यों को लेकर अष्टछाप की स्थापना की। सूरदास जी का स्थान इसमें सर्वप्रमुख था। कहते हैं कि एक बार जबकि सूर श्री विट्ठलनाथ जी के साथ जगन्नाथपुरी की यात्रा को जा रहे थे तो मार्ग में इन्होंने कामतानाथ पर्वत पर *तुलसीदास जी से* भेंट की थी।

जन्म-संवत् के समान सूर का निधन-संवत् भी विवादग्रस्त बना हुआ है। 'सूर निर्णय' का मत इस विषय में कुछ अधिक प्रामाणिक माना जाता है। इसके अनुसार इनका देहावसान सं० १६४० में हुआ। कहते हैं कि अपनी मृत्यु का अनुमान उन्होंने पहले से ही लगा लिया था। उस दिन वे मन्दिर में अपना कार्य पूरा करके पारसोली नामक ग्राम में चले गये और वहीं एक चबूतरे पर लेट कर मृत्यु की प्रतीक्षा करने लगे। जब गोस्वामी जी ने उन्हें शृंगार-झाँकी के अवसर पर अनुपस्थित देखा तो समझ गये कि आज सूर अपना नश्वर शरीर छोड़कर जा रहे हैं। उन्होंने सेवकों से कहा कि 'पुष्टि मार्ग का जहाज जा रहा है, जो कुछ भी लेना है ले लो, हम राजभोग के बाद आते [illegible]।' गोसाईं जी का आदेश पाकर भक्तजन चले गये तथा पूजा की समाप्ति पर वे भी [illegible]। कुछ देर पश्चात् 'खंजन नैन रूप रस माते' नामक अन्तिम पद को गाते-गाते [illegible] ने अपना नश्वर शरीर त्याग दिया।

[विषय वस्तु

देखने को मिलता है। उसमें यह प्रसंग इस रूप में है कि जब मथुरा में निवास करते-करते कृष्ण को पर्याप्त समय हो गया तो उन्हें ब्रज में अपने वियोग से पीड़ित माता-पिता तथा गोपियों के नाम कुछ संदेश भेजने की इच्छा हुई। इस कार्य की पूर्ति के लिए उन्हें वृष्णि-वंशियों में श्रेष्ठ और अपने सर्वाधिक प्रिय सखा उद्धव जी उपयुक्त पात्र प्रतीत हुए। अतः उन्होंने अपने हाथ में उनका हाथ लेकर कहा कि हे सखा उद्धव! ब्रज से आये हुए मुझे कई दिन हो चुके। वहाँ माता यशोदा, बाबा नंद तथा परम प्रिय गोपियाँ मेरे विरह में व्याकुल हैं। तुम वहाँ कुशलता का संदेश ले जाओ और उन्हें सांत्वना देने का पूर्ण प्रयास करो। मुझे इस बात का दृढ़ विश्वास है कि गोपियों को मेरे अतिरिक्त और कुछ सूझता ही न होगा। उनके लिए मैं ही सब कुछ हूँ। मैं भी उनके लिए जो सब कुछ मुझे ही मानकर अपने समस्त लौकिक और पारलौकिक धर्मों का त्याग कर देते हैं, सदैव तत्पर रहता हूँ। वे सभी अब वास्तव में मेरे बिना बहुत दुखी हैं। वे सब जीवित भी इसी आशा में हैं कि मैं लौटकर जाऊँगा क्योंकि मैं ही उन्हें ऐसा आश्वासन देकर आया था। अतः हे उद्धव! तुम जाओ और उन्हें समझाओ।

इस प्रकार का आदेश पाकर उद्धव जी ब्रज को चल दिये और गोधूलि के पश्चात् वहाँ पहुँच गये। ब्रज की गोधन से सम्पन्न शोभा ने उनका मन हर लिया। सर्वप्रथम वे नंद जी से मिले। नंद जी ने इनका पर्याप्त सत्कार किया और कृष्ण की कुशल मंगल तथा कंसवधादि की बात सुनकर वे बड़े आनन्दित हुए। इस प्रकार का आश्वासन देते हुए कि कृष्ण शीघ्र ही लौटेंगे, उद्धव जी ने यशोदा और नंद को उपदेश देना आरम्भ कर दिया। उनके उपदेश का सार यही था कि कृष्ण तो निराकार सर्वव्यापी परमब्रह्म हैं इसलिए उनका वियोग ही क्या? उपदेश देते-देते रात्रि व्यतीत हो गई। प्रातःकाल जब गोपियों ने नन्द के द्वार पर एक वैसा ही रथ खड़ा देखा जैसा कि कृष्ण को ले जाने वाले अक्रूर का था, तो वे उनको कोसने लगीं। तभी उद्धव जी उनके पास तक आ पहुँचे। कृष्ण सखा का भान होने पर गोपियाँ बहुत प्रसन्न हुईं। सत्कार के पश्चात् वे कटाक्ष करती हुई कृष्ण को उपालम्भ देने लगीं। इसी समय एक भ्रमर अपनी अस्पष्ट गुंजन करता हुआ वहाँ आ पहुँचा। खीझ से भरी हुई गोपियों ने इसी भ्रमर को सम्बोधित करके अपने तीव्र व्यंग्य-वाण छोड़ने आरम्भ कर दिये। कृष्ण की निष्ठुरता की भ्रमर की निष्ठुरता से समानता प्रदर्शित करते हुए उन्होंने अनेक व्यंग्य कसे। किन्तु इतना होते हुए भी साथ ही वे ऐसे निष्ठुर की चर्चा छोड़ने में भी अपनी असमर्थता प्रकट करती हैं। उन्हें कृष्ण पर क्रोध अवश्य था किन्तु उनसे सम्बन्ध-विच्छेद भी उन्हें असह्य था। उन्होंने उपालम्भ भी अवश्य दिये तथा व्यंग्य वाण भी खूब तीखे कसे किन्तु प्रत्युत्तर तथा कृष्ण-संदेश सुनने की उत्सुकता को दबाना उनके वश के बाहर था।

कृष्ण के प्रति गोपियों के इस अटूट प्रेम को देखकर उद्धव भी उनकी प्रशंसा किये बिना नहीं रह सके। किन्तु फिर भी उन्हें इनके इस प्रेम में उन्हें मोहांधता का अंश दिखाई दिया। अतः उन्होंने प्रेम-भक्ति के स्थान पर ज्ञान और योग का सन्देश

दिया। उन्होंने कृष्ण की ओर से भी इसी प्रकार का सन्देश सुनाया कि वे तो सर्वव्यापी परमब्रह्म है अतः फिर वियोग कैसा ? प्रियतम के इस प्रकार के ज्ञान-भरे सन्देश को सुनकर गोपियाँ बहुत प्रसन्न हुई। इस संदेश से उनके दिव्य चक्षु खुल गये और उन्हें शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति हो गई। उनका विरह वेग अब सन्तुलित हो गया। उद्धवजी इसी प्रकार वहाँ कई माह रहे और उनके शोक को कम करने के लिए उपदेश देते रहे।

गोपियाँ कुछ शान्त सी अवश्य हो गईं किन्तु कृष्ण-दर्शन और सहवास की लालसा उनमें अब भी दृष्टिगत थी। किन्तु उनकी विह्वलता मनः शान्ति में अवश्य बदल गई। इस प्रकार भागवतकार के अनुसार उद्धवजी के ज्ञानोपदेश से गोपियों का विरहवेग शान्त हो गया और उनके हृदय की उदार वृत्तियाँ जाग गई।

यह है भागवत मे वर्णित कथा का अत्यन्त सक्षिप्त रूप जो भ्रमरगीत काव्यों का आधार रही है। हिन्दी के कवियों को यह विषय कुछ इतना प्रिय लगा है कि उन्होने इसी के आधार पर अलग से काव्य लिखने आरम्भ कर दिये और उसकी एक लम्बी परम्परा चल पड़ी। इस परम्परा में रचित काव्यों में व्यक्ति विशेष के अनुसार पारस्परिक विभिन्नतायें चाहे रही हों किन्तु मूल रूप में उनकी विचारधारा एक ही रही। एक बात अवश्य है। इन सभी का दृष्टिकोण भागवतकार के बिल्कुल विपरीत रहा है। कथावस्तु तक में इन्होने अनेक परिवर्तन कर दिये। इन्हें न तो उद्धव की ज्ञान-चर्चा ही अच्छी लगी और न उसका गोपियों द्वारा शिरोधार्य करना ही पसन्द आया। गोपियो के वचनों से भी इन्हे कोई विशेष संतोष नही हुआ। वास्तव में इन्होंने इस प्रसंग को कुछ नया ही रंग दे दिया। भागवत और इन भ्रमरगीतों में कई अन्तर हो गये जो निम्न रूप मे दर्शनीय हैं—

१. भागवतकार के अनुसार उद्धव का ज्ञानोपदेश गोपियाँ मान लेती हैं और उनका शोकावेग कम हो जाता है, जिसका तात्पर्य यह हुआ कि ज्ञान और योग ने प्रेम-भक्ति पर विजय प्राप्त कर ली। ठीक इसके विपरीत इन भ्रमरगीतों में ज्ञान-योग पर प्रेम-भक्ति की विजय प्रदर्शित की गई है। गोपियों के शान्त होने के स्थान पर इनमें उद्धव का ज्ञानवेग शान्त दिखा दिया है। वे गोपियों की प्रेम-लग्न को देखकर चकित रह गये तथा स्वयं प्रेमी बन कर लौटे।

२. दूसरा अन्तर है गोपियों की वार्ता प्रणाली में। भागवत में भी उपालम्भ तो अवश्य हैं किन्तु इसकी गोपियों के स्वर मे वह तीव्रता, व्यंग्य, कटाक्ष तथा तर्क नहीं है जो इन भ्रमरगीत काव्यकारों की गोपियों के स्वर में दृष्टिगत है।

३. राधा जिसका भागवत में नाम तक नही है, बाद के इन भ्रमरगीतो में स्वाभाविक रूप से एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

४. भागवत मे यह प्रसंग एक कथा-मात्र ही है जबकि बाद के भ्रमरगीत महत्त्वपूर्ण काव्य हैं।

इन मौलिक उद्भावनाओं का श्रेय है हमारे चरितनायक महात्मा सूरदास को ... साधारण प्रसंग को इतना महत्त्वपूर्ण

बना दिया। भागवत की सिसकती हुई गोपियाँ सूर द्वारा इतनी अश्रुमयी बन गईं कि एक विशाल सरिता ही उमड़ पड़ी।

हमारा यहाँ मुख्य विषय है—सूर का भ्रमरगीत, अतः उसकी विषय-वस्तु पर ही कुछ प्रकाश डालना उचित रहेगा। सूर के भ्रमरगीत का आरम्भ भी कृष्ण के अतीत-स्मरण तथा उद्धव से संदेश लेकर ब्रज जाने को कहने से ही होता है। इस संदेश के भेजने मे कृष्ण की आकुलता के तो दर्शन होते ही हैं किन्तु इसके पीछे एक महान् उद्देश्य और दिखाई देता है। उद्धवजी को अपने ज्ञान पर बड़ा गर्व था, वे कृष्ण को भी ज्ञान का उपदेश देते रहते थे। गोपियो की दृढ तथा तीव्र प्रेमभक्ति की प्रबल पवन के आगे उद्धव की ज्ञान-भित्ति उड जायगी, ऐसा सोचकर ही वे उन्हें वहाँ भेजते हैं। संदेश देने से पूर्व कृष्णजी उद्धव को जो-कुछ समझाते हैं वैसे तो बहुत साधारण सी बातें हैं किन्तु सूर ने उनका वर्णन कर उन्हें बहुत आकर्षक बना दिया है। पहले नन्द से प्रणाम करना और इसके पश्चात् यशोदा माता को पालागन कहना आदि कुछ शिष्टाचार की ही तो बातें हैं। इसके पश्चात् वे उन्हे प्रत्येक बात समझाते हैं कि उन्हें किस प्रकार किस-किस से भेंट करनी है? इधर कुब्जा भी अपनी ओर से उन्हें कुछ विशेष सलाह देती है। इन सब बातों को हृदयगम करके उद्धवजी ब्रज पहुँचते हैं। इनके आगमन की सूचना समस्त ब्रज प्रदेश में हलचल उत्पन्न कर देती है। पहले तो उन्हे कृष्ण ही समझा जाता है किन्तु बाद में उद्धव जानकर भी उनका प्रेमपूर्ण सत्कार होता है। नन्द के आँगन मे एक सभा जुड़ती है जहाँ उद्धव कृष्ण द्वारा भेजी हुई संदेश की पाती उनको देते हैं। लेकिन प्रेम-पाती पढ़ें कैसे, नयन तो जल से भर गये।

यही से अवसरवश आये हुए भ्रमर पर डालकर गोपियों के तीखे उपालम्भ आरम्भ हो जाते हैं। इनके उपालम्भो की विशेषता यह है कि वे कटु होते हुए भी मधुर है। शायद ही कोई उपालम्भ और उपालम्भ का ढग बचा हो जिसका प्रयोग इनके भ्रमरगीत मे न हो। लगभग ढाई सौ पदो में गोपियो के हृदय मे भरा हुआ गुबार ही बाहर आया है। गुबार की यह विशालता इस तथ्य को प्रमाणित करती है कि वास्तव मे नारी के पास अश्रुओ का कोष ही होता है। गुबार निकलने के पश्चात् आखिर गोपियों का हृदय फूट ही पड़ता है। कृष्ण के वियोग मे ब्रज की जो दयनीय दशा हो गई है उसका चित्रण हृदयवेधक शब्दों में विद्यमान है। शाब्दिक तथा सैद्धान्तिक युद्ध ने यदि उद्धवजी को निरुत्तर कर दिया था तो वस्तुस्थिति के इस प्रकार के वर्णन ने उनको बिलकुल ही भुना दिया। वास्तव मे उद्धव पर जितना प्रभाव उनकी विषम स्थिति का पड़ा उतना तर्कों का नही। ब्रज से लौटने पर उन्होने कृष्ण से गोपियों की लगन की प्रशंसा करते हुए उनकी विषम स्थिति का ही वर्णन किया, उनके तर्कों का नहीं। एक बात और भी उल्लेखनीय है। गोपियों का अपनी दशा का वर्णन वास्तविक ही है। उसमें कुछ अतिशयोक्ति नही है।

गोपियो की लगन को देखकर उद्धव निरुत्तर हो जाते हैं और उनको अपने पास

कोई ऐसा तर्क नहीं दिखाई देता जिससे वे गोपियों को प्रेम-भक्ति से हटा कर अपना योग-ज्ञान सिखा सकें। गोपियों के रंग-में-रंग कर वे कृष्ण के पास वापिस लौटते हैं और कृष्ण से गोपियों आदि की विरह दशा का वर्णन कर उनसे ब्रज जाने का आग्रह करते हैं। कृष्ण मुस्करा कर कह देते हैं कि 'आयहु जोग सिखाय' जोग सिखा आये। अर्थात् आखिर पराजित होकर अपने आये न वापिस। गये सिखाने अपना योग-ज्ञान, सीख आये प्रेम-भक्ति।

यह है सूरदास के भ्रमरगीत की विषय-वस्तु का संक्षिप्त विवरण।

यदि यहाँ तनिक यह भी विचार कर लिया जाय कि सूर का भ्रमरगीत किस प्रकार का काव्य है, तो अप्रासंगिक न होगा। इसका निर्णय विषय, शैली तथा स्वरूप तीन दृष्टियों से होना चाहिए। विषय की दृष्टि से यह स्पष्ट रूप से एक उपालम्भ काव्य है। शैली की दृष्टि से निस्सन्देह रूप में यह गीतात्मक है। परन्तु स्वरूप की दृष्टि से इसे मुक्तक काव्य कहा जाय अथवा प्रबन्ध काव्य। यह तनिक कठिन है। मुक्तक काव्य किसी शृंखला से मुक्त अपना एक अलग अस्तित्व रखने वाले छोटे कलेवर वाले काव्य को कहते हैं। इसमें एक पद दूसरे पद से अपना कोई सम्बन्ध नहीं रखता। कम-से-कम इतना सम्बन्ध तो वास्तव में नहीं होता कि दूसरे पद का अर्थ लगाने के लिए पहले पद से कुछ सहायता लेनी पड़े। उसका अर्थ अपने आप अलग स्पष्ट होता है। इसके विपरीत प्रबन्ध काव्य में छन्दों की एक शृंखला होती है। दूसरे छन्द का सम्बन्ध पहले पद से जुड़ा रहता है। पहले के बिना दूसरे का प्रसंग अथवा अर्थ कुछ भी स्पष्ट नहीं होता। इसका कलेवर बड़ा होता है। इतिवृत्ति का स्थान इसमें बहुत महत्वपूर्ण है। मुक्तक के विपरीत इसका प्रभाव भी स्थायी होता है। मुक्तक की भाँति थोड़ी देर रहने वाला नहीं।

सूरकृत भ्रमरगीत के पदों की यदि अलग-अलग परीक्षा की जाय तो निश्चय रूप से वह एक मुक्तक काव्य ही प्रतीत होता है। उसका प्रत्येक पद अपना एक अलग स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है और वह अपना प्रसंग एवं अर्थ स्वयं स्पष्ट करने में पूर्ण रूप से समर्थ है। कथावस्तु भी इतनी छोटी है कि उसे प्रबन्ध काव्य के अनुपयुक्त कहा जायगा। किन्तु इसके सब मुक्तक पदों में प्रबन्ध का एक पतला सा धागा निकलता चला गया है, यह भी निश्चित ही है। दूसरे सारे भ्रमरगीत का उद्देश्य भी एक ही है, पदों के उद्देश्य कुछ अलग-अलग नहीं है। विशेष रूप से उल्लेखनीय तथ्य तो यह है कि अन्त में पाठक के हृदय पर उसका प्रभाव भी स्थायी रूप में पड़ता है जो प्रबन्ध काव्य के अनुरूप ही है। मुक्तक काव्य का प्रभाव इस प्रकार [illegible] होता।

[illegible] प्रकार दोनों ओर के लिए प्रबल तर्क है। अतः उसे दोनों का समन्वित [illegible] है। अतः हमारी दृष्टि में इसे मुक्तक-प्रबन्ध काव्य कहना

भ्रमरगीत की परम्परा

भ्रमरगीत काव्य परम्परा का बीजारोपण जो आगे चलकर एक विशाल वृक्ष के रूप में विकसित हुआ श्रीमद्भागवत में दिखाई देता है। यहाँ श्रीकृष्ण द्वारा प्रेषित उद्धव ब्रज में आते हैं और नन्द, यशोदा आदि से कृष्ण के ब्रह्म स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं। भगवान के निर्विकार, अनादि, अनन्त और सर्वगत स्वरूप का निवेदन करके वे नन्द और यशोदा आदि को उनके इसी स्वरूप की प्राप्ति के लिए ज्ञान का उपदेश देते हैं। बाद में गोपियाँ उन्हें एकान्त में ले जातीं हैं। इसी बीच एक भ्रमर भ्रमता हुआ वहाँ आ पहुँचता है और गोपियाँ भ्रमर के बहाने उपालम्भ करना आरम्भ कर देती हैं। उनका इस प्रकार का यह उपालम्भ ही 'भ्रमरगीत' के नाम से प्रसिद्ध है।

श्रीमद्भागवत मे इस प्रसंग को कुछ विशेष महत्त्व नहीं दिया गया है। इसमें सौन्दर्य भरने का श्रेय परवर्ती हिन्दी कवियों को है जिन्होंने इस प्रसंग को अत्यन्त प्रभावशाली बना दिया। भागवत मे इस प्रसंग का कोई स्वतन्त्र महत्त्व न होने के कारण वर्णनात्मकता ही अधिक दिखाई देती है। चित्रोपमता तो कुछ है भी, भावनात्मकता का तो नितान्त अभाव है। भागवतकार की दृष्टि योग और ज्ञान पर ही केन्द्रित रही है। परवर्ती हिन्दी-कवियों ने इसके स्थान पर प्रेम और भक्ति की भावना को सामने रखकर इस प्रसंग को इतना मोहक बनाना आरम्भ कर दिया कि हिन्दी मे इसकी एक लम्बी परम्परा चल पडी और 'भ्रमरगीत' नाम से एक अलग साहित्य खड़ा हो गया। सर्वप्रथम इस प्रकार का कार्य महात्मा सूरदास ने आरम्भ किया। इन्होंने इस प्रसंग को कुछ ऐसे रूप में अपनाया कि वह इतना मोहक सिद्ध हुआ कि वामपक्षी विचारधारा के आने तक कोई भी सहृदय कवि इस प्रसंग पर कुछ न कुछ लिखने का मोह संवरण नहीं कर सका।

इस परम्परा के अन्तर्गत आने वाले कवियों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—ग्रन्थकार कवि तथा दूसरे फुटकर पद रचना करने वाले कवि। कालक्रम के अनुसार इन कवियों की यदि हम एक तालिका बना दें तो कुछ अधिक उत्तम रहेगा। तालिका निम्न प्रकार से बनाई जा सकती है—

भ्रमरगीत की परम्परा

प्रबन्धकार कवि

(अ) भक्तिकाल:—कवि तथा ग्रंथ
१. सूरदास (भ्रमरगीत)
२. परमानन्ददास (परमानन्दसागर)
३. नन्ददास (भंवरगीत)
४. प्रधर अनन्य (प्रेम दीपिका)

(ब) रीतिकाल
१. रसनायक (विरह विलास)
२. रसरासि (रसिकपच्चीसी)
३. ग्वाल (गोपी पच्चीसी)
४. व्रजनिधि (प्रीति पच्चीसी)

(स) आधुनिक काल
१. हरिऔध (प्रियप्रवास)
२. रत्नाकर (उद्धव शतक)
३. मैथिलीशरण गुप्त (द्वापर)
४. सत्यनारायण 'कविरत्न' (भ्रमरदूत)
५. डॉ० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' (रसालमंजरी)

फुटकर कवि

(अ) भक्तिकाल कवि का नाम
१. तुलसीदास
२. रहीम

(ब) रीतिकाल
१. मतिराम
२. देव
३. घनानन्द
४. दास
५. सेनापति
६. पद्माकर

(स) आधुनिक काल
१. भारतेन्दु
२. प्रेमघन

अब इन कवियों तथा इनकी रचनाओं की विशेषताओं पर संक्षिप्त रूप से प्रकाश डाल देना अनुपयुक्त न होगा। जैसा हमने पीछे कहा कि इस प्रसंग का बीजारोपण भागवतकार द्वारा हुआ। हिंदी में इस परम्परा को आरम्भ करने का श्रेय सूरदासजी को है। इन्होंने इस प्रसंग को एक प्रकार से नितान्त मौलिक ही बना दिया। वास्तव मे इस प्रसंग की लोकप्रियता ही सूरदासजी के कारण हुई। इन्होंने उद्धव और गोपियों के आधार पर एक ओर तो ज्ञान की नीरसता और भक्ति की सरसता प्रदर्शित करके भक्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया तथा दूसरी ओर विरह और उपालम्भ काव्य का एक अद्वितीय नमूना उपस्थित कर दिया। विचारधारा ही नहीं उसकी कथा में भी सूर ने परिवर्तन कर दिया है। व्रज मे आकर उद्धव भागवतकार के उद्धव की भाँति नन्द और यशोदा के समीप नही जाते। गोपियाँ दूर से ही उनके रथ को देख लेती हैं। उन्हें कृष्ण के आने का सन्देह होता है। मिलने पर कृष्ण सखा जानकर कुशल-मंगल पूछती हैं। ऊधोजी इनके कृष्ण-मोह के निवारण हेतु ज्ञानोपदेश करते हैं। गोपियाँ उनको उत्तर देकर अपनी विवशता प्रगट करती ... पर भ्रमर की कल्पना करके

को 'सहज लरिकाई को प्रेम' बता कर तथा 'एक हुतो सो गयो स्याम संग को आराधै ईस' आदि कह कर अपनी विवशता प्रगट करती हैं तथा दूसरी ओर ज्ञान और योग की ओर उपहासास्पद संकेत करती हैं। उद्धवजी इनके सहज प्रेम से इतने प्रभावित होते हैं कि मथुरा लौटकर कृष्णजी से ब्रज जाने की प्रार्थना करने लगते हैं। इस प्रकार सूरदासजी ने भागवत की कथा आदि में परिवर्तन करके इस प्रसग को अत्यन्त मनमोहक बना दिया और एक महान् परम्परा का निर्माण किया।

इस विषय में दूसरा नाम अष्टछाप के प्रमुख कवि परमानन्ददास जी का आता है। यद्यपि इस प्रसंग पर इनका कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं है किन्तु किंचित् विस्तार, प्रभावशाली शैली तथा सरस व्यंजना के कारण इस परम्परा मे इनका भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनकी गोपियाँ भी अत्यन्त भोली-भाली और कृष्ण के प्रेम में सराबोर हैं। सतर्क बुद्धि उनके पास नहीं है किन्तु गम्भीरता उनके वचनों में सदैव रहती है और किसी भी प्रकार उद्धव का उपदेश उन पर प्रभाव नहीं डालता।

इस परम्परा में नंददास जी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन्होंने तो भ्रमरगीत की कथा को उद्धव-गोपी संवाद ही बना डाला। सूरदास जी तो पहले कृष्ण-उद्धव वार्ता करवाते हैं और कृष्ण नंद, यशोदा और गोपियों के लिए अपना अलग-अलग संदेश भेजते हैं। गोपियाँ उन्हें दूर से ही देख लेती हैं किन्तु नददासजी के भ्रमरगीत का आरम्भ ही 'ऊधो को उपदेश सुनो ब्रज नागरी' से होता है। गोपियों के मिलने से पूर्व की कथा की नददासजी चर्चा तक नहीं करते। वे तो सीधे गोपियों के बीच उपस्थित होकर कृष्ण सदेश कहना आरम्भ कर देते हैं। कृष्ण का नाम सुनते ही गोपियों को उनका स्मरण हो उठता है और वे चेतनाहीन हो जाती हैं। उद्धवजी उन्हें जल के छींटे देकर जगाते हैं और ज्ञान का उपदेश देने लगते हैं। गोपियाँ भी उनके आध्यात्मिक तर्कों का उत्तर ठीक उसी प्रकार देती हैं। निर्गुण-सगुण तथा ज्ञान-भक्ति पर सुन्दर तर्क-वितर्क होता है जिसमे स्पष्ट रूप में उद्धव जी की हार होती है। गोपियों की तार्किकता के सामने उद्धव जी का ज्ञान-गर्व घुटने टेक देता है और वे कभी वेद और पुराण की दुहाई देने लगते हैं तो कभी उन्हें जोग की लोक-प्रसिद्धि का सहारा लेना पड़ता है। तर्क का यह क्रम न तो भागवत मे ही है और न 'सूर सागर' मे ही। हाँ, सूरदासजी का एक पद 'ऊधो को उपदेश सुनो किन कान दै' अवश्य ही कुछ इस पद्धति का तथा अन्य पदों से बडा है। इसमें वादविवाद का थोड़ा-सा क्रम भी है। साथ ही इसमें सक्षिप्त मे सम्पूर्ण भ्रमरगीत भी है। सम्भवतः नददास जी ने इस पद का आधार लेकर विस्तार कर दिया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि नददास जी के भ्रमर-गीत में दार्शनिक पक्ष अधिक प्रबल है। उनकी विशेषता यह है कि उन्होंने वल्लभ सम्प्रदाय के गूढ़-से-गूढ दार्शनिक सिद्धान्तों को सरल और सीधे शब्दों में समझा दिया है। यही कारण है कि इनका भंवरगीत सम्प्रदाय की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ माना जाता है। कलात्मकता की दृष्टि से भी यह ग्रंथ कृष्ण काव्य में अपना एक बिल्कुल अलग और विशिष्ट स्थान रखता है। 'और कवि गढ़िया नंददास जड़िया' वाली

उक्ति वस्तुतः सत्य ही है।

अक्षर अनन्य का नाम भी इस परम्परा में साधारण रूप से आता है। परम्परागत महत्व की दृष्टि से इनमें कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं दिखाई देती। प्रारम्भिक कवियों की प्रणाली के आधार पर ही इन्होंने भी रचना कर दी है। हाँ, इनकी गोपियों की ग्रामीणता तथा तीव्रता अवश्य स्मरणीय है। भक्तिकाल में फुटकर कवियों में तुलसी और रहीम का नाम भी आता है। तुलसी का तो इस परम्परा में कोई महत्व है ही नहीं हाँ, रहीम का कुछ विशिष्ट स्थान अवश्य है। इन्होंने बड़े व्यापक आधार पर कृष्ण के वियोग से उत्पन्न गोपियों की वेदना को ग्रहण किया है। उनकी मौलिकता एवं सहृदयता वास्तव मे देखने-योग्य है। इन्हें बरवै छन्द के अत्यन्त छोटे से शरीर में विस्तृत भावों के प्रगट करने मे कोई बाधा नहीं है। इनकी गोपियों को सहज-मुग्ध नायिका की संज्ञा दी जा सकती है। उनके वचनों में कृत्रिमता नहीं है किन्तु साधारण ढंग से वस्तु स्थिति का स्पष्टीकरण है।

रीतिकालीन कवियों में इस परम्परा की दृष्टि से फुटकर रचना करने वाले कवियों का ही अधिक महत्व है। इस काल के फुटकर छंद हृदय में जो क्षणिक चमत्कार उत्पन्न करते हैं वैसा प्रभाव इस काल के ग्रंथों का नहीं पड़ता। ग्रंथकार कवियों में रसनायक, रसरासि, ग्वाल, ब्रजनिधि के नाम आते हैं। फुटकर छंदों के रचने वालों में मतिराम, देव तथा घनानन्द का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

आधुनिक काल मे कालक्रम के अनुसार सर्वप्रथम फुटकर कवियों में भारतेन्दु तथा प्रेमघन का नाम लिया जाता है। बिखरे हुए होते हुए भी पद लालित्य और स्वाभाविक भाव व्यंजना के कारण भारतेन्दुजी के पदों का महत्व विशेष है। इन दो कवियों के अतिरिक्त इस काल के प्रबंधकारों का बहुत महत्व है। इनमें से प्रत्येक का अलग-अलग व्यक्तित्व है। ब्रजभाषा में रत्नाकरजी का उद्धव शतक इस परम्परा में अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। इनके ग्रंथ का आरम्भ ही बहुत मधुर है। इन्होंने जो उक्तियाँ गोपियों के मुख से कहलाई हैं उनके लिए उनका काव्य सहृदयों मे सदैव ही स्मरण किया जायगा। वास्तव में भ्रमरगीत की परम्परा का समस्त निचोड़ सुव्यवस्थित रूप में हमें उद्धव-शतक मे दिखाई दे जाता है। कहें तो कह सकते हैं कि उनकी गोपियों मे हमे सूर की भाव-प्रबल नारियों से लेकर आज तक की स्पष्ट वक्ता कहलाने वाली महिलाओं के दर्शन हो जाते हैं। खड़ी बोली में इस परम्परा मे एक ग्रंथ का नाम बहुत आदर के साथ लिया जाता है। वह ग्रंथ है हरिऔधजी का 'प्रियप्रवास' जिसे खड़ी बोली का प्रथम महाकाव्य कहलाने का महान् गौरव प्राप्त है। संस्कृत वर्ण वृत्तों मे अतुकान्त प्रणाली में लिखा हुआ यह [illegible] वास्तव मे अपनी तुलना नहीं रखता। इस ग्रंथ में यह प्रसंग पूर्ण रूप से [illegible]लिक दृष्टिकोण रखता है। इस ग्रंथ का आधार शुद्ध मनोवैज्ञानिक और तर्क-[illegible] है। कुछ ऐसी घटनायें जो कृष्ण के विषय मे प्रचलित हैं और जिन पर [illegible] का बुद्धिवादी युग विश्वास तक नहीं करता, इसमें इस रूप से वर्णित है कि कोई

अस्वाभाविकता नहीं लगती। मैथिलिशरण गुप्तजी ने इस प्रसंग में अपने सहज-स्वभाव के अनुकूल एक सन्तुलन बनाये रखने का प्रयास किया है। उनके 'द्वापर' का वास्तविक महत्त्व तो उस समय दिखाई देता है जबकि वे उर्मिला और यशोधरा की भाँति इसमें भी उपेक्षिता नारियों को प्रधानता देने में प्रयत्नशील दिखाई पड़ते हैं।

सत्यनारायण 'कविरत्न' के भ्रमरदूत का नाम भी यद्यपि इस परम्परा में लिया जाता है किन्तु उसका स्वरूप सर्वथा भिन्न है। यह गोपियों का भ्रमरगीत नहीं है। इसमें तो यशोदा (भारत माता) कृष्ण के पास अपना भ्रमर दूत भेजती है और उन्हें बुलाने का प्रयत्न करती है। इस प्रकार इसमें राष्ट्रीय-भावना का ही प्राधान्य है, अतः हमारी दृष्टि में इस काव्य का अध्ययन तो अलग ही दृष्टिकोण से होना चाहिए।

हाँ, डॉ० रमाशंकर शुक्ल रसाल ने इस परम्परा के निर्वाह में सफलता प्राप्त की है। भावों की दृष्टि से इनकी 'रसाल मंजरी' में मौलिकता के दर्शन भी होते हैं।

आज के इस तर्क और विज्ञान के युग में इस विषय पर कुछ और उदीयमान कवियों ने भी लेखनी चलाई है जिनका मूल्यांकन होने की अभी आवश्यकता है।

यही है उस भ्रमरगीत परम्परा का संक्षिप्त विवरण जिसका बीजारोपण हुआ था भागवतकार के द्वारा और वृक्ष विकसित हुआ सूर आदि के हाथों।

आधारभूत दार्शनिक और जीवन-सिद्धान्त

भारतीय दर्शन का प्रारम्भ सभी विद्वान् वेदों से मानते हैं। यद्यपि वेदों में सैद्धान्तिक विवेचन नहीं है, किन्तु सृष्टि के अनन्त व्यापार के प्रति आश्चर्य तथा उसके नियन्ता के प्रति व्यापक श्रद्धा अवश्य ही अभिव्यक्त है। यह तो ठीक है कि सैद्धान्तिक विवेचन तथा दर्शन के क्षेत्र में बुद्धिगत तर्क-वितर्क का श्रीगणेश आगे चलकर ही हुआ कि यह कहना भी नितान्त सही है कि सभी ने वेदों को सदैव माना है। उन्हीं को अपना आधार बनाया है और अपने सिद्धान्तों को साक्षी दिलवाने के लिए इन्हीं के सूत्रों की शरण ली है। षट्दर्शन के रचयिता महर्षि बादरायण आदि के द्वारा भारतीय दर्शन अत्यन्त गहन बन गया था। किन्तु पौराणिक काल की समाप्ति के पश्चात् सर्वसाधारण पर शुद्ध रूप से उसका कोई प्रभाव नहीं रह गया था। ऐतिहासिक काल में आकर उनमें एक नई ज्योति की लहर दौड़ गई। कौन नहीं जानता कि श्री शंकराचार्य ने वेदान्त को सम्पूर्ण भारत में फिर से गुंजा दिया था। अद्वैतवाद आज भी सर्व प्रसिद्ध सिद्धान्त है। उनके पश्चात् उनके सिद्धान्तों में कुछ उलट-फेर करके तीन नये सिद्धान्त और बन गये थे। इन तीनों में श्री वल्लभाचार्य जी का शुद्ध द्वैतवाद सर्व साधारण पर प्रभाव की दृष्टि से अपना एक विशेष स्थान रखता है।

इन दोनों सिद्धान्तों की तुलना करना हमारे लिए उपयोगी होगा। श्रीशंकराचार्य जी ईश्वर को निर्गुण, निर्विकार तथा नित्य मानते थे। उनकी दृष्टि में न वह कर्ता है और न भोक्ता। जगत की कोई वास्तविक सत्ता उनकी दृष्टि में नहीं है। जीव और ब्रह्म का उनकी दृष्टि में अविच्छिन्न सम्बन्ध है। उनके विपरीत

श्रीवल्लभाचार्य जी ने परमात्मा को सगुण और निर्गुण दोनों रूपों में बताया। उनकी दृष्टि में जहाँ वह निराकार एवं निर्विशेष है, वहाँ सर्वशक्तिमान तथा सर्वधर्मा भी है। वही सर्वकर्त्ता है और वही सर्वभोक्ता। सृष्टि की रचना वह लीला के निमित्त करता है। जगत ब्रह्म का परिणाम रूप है अतः वह असत अथवा मिथ्या नहीं है। जीवात्मा को श्री आचार्य जी भिन्न और अभिन्न दोनों मानते हैं। आत्मा और परमात्मा दोनों का सम्बन्ध पूर्णरूपेण शुद्ध है। 'माया' जैसी कोई शक्ति दोनों के बीच मे नही है। उक्त दोनों विद्वानों के दार्शनिक मत में सिद्धान्त पक्ष के इस अन्तर के कारण साधन-पक्ष मे भी अन्तर हो जाता है। शंकराचार्य ब्रह्म-प्राप्ति के लिए ज्ञान और योग का विधान बताते हैं। अपनी आत्मा में ज्ञान उत्पन्न करके, माया को अपने वशीभूत बनाकर तथा भ्रान्ति का निवारण करके निर्गुण ब्रह्म की उपासना करना ही उनका मार्ग है। ठीक इसके विपरीत श्री वल्लभाचार्य भक्ति योग का प्रतिपादन करते हैं। उनके मतानुसार अपने हृदय में ईश्वर के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करके तथा धीरे-धीरे उसके प्रेम में अनन्य होकर ईश्वर की प्राप्ति करना ही ईश्वर प्राप्ति का सुगम मार्ग है। जिस तत्त्व की प्राप्ति ऋषि मुनियों तक को गहन तपस्या करने के पश्चात् भी नही होती वह प्रेम के कारण साधारण प्राणियों को सहज ही प्राप्त हो जाता है।

भ्रमरगीत मे उक्त दोनों ही आचार्यों की विचार धाराओं के विवरण दिखाई देते हैं। शंकराचार्य का मत ज्ञानी उद्धव के द्वारा तथा बल्लभाचार्य का मत प्रेम विह्वल गोपियों द्वारा प्रतिपादित होता है। यह दोनों मतों का पारस्परिक वाद-विवाद भी लक्षित होता है। जो सम्भवतः तत्कालीन परिस्थितियों के प्रभाव के कारण आया हुआ प्रतीत होता है। सूरदास जी ने यद्यपि वल्लभाचार्य जी के मत को ही शंकराचार्य के मत से अधिक महत्त्व दिया है किन्तु तो भी अद्वैतवाद को उन्होंने हेय कहीं नही माना। निर्गुण का खंडन वे कहीं नहीं करते। हाँ, उसे दुःसाध्य और इसे सहज बता कर इसका महत्व अवश्य प्रदर्शित किया है। उद्धव जब गोपियों को योग ज्ञान की शिक्षा देते हैं तो गोपियाँ उनके इस मार्ग को स्वीकार नहीं करतीं। वे कुछ अपने सिद्धान्तों का विवेचन नही करतीं। वे तो अपनी अटूट भक्ति तथा प्रिय-वियोग से उत्पन्न विरह वेदना का ही वर्णन करती हैं। इस प्रकार परोक्ष रूप से वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करती हैं। वे उद्धव के कथन को विकृत कभी नहीं कहती, हाँ, परिस्थितियों के प्रतिकूल बताकर अग्राह्य अवश्य कहती हैं।

सूर के समय मे योगमार्ग की तूती की ध्वनि भी बहुत तीव्र थी। इस साधना [illegible] अन्तर्गत भिन्न-भिन्न प्रकार की क्रियाओं द्वारा शरीर को साधा जाता है [illegible] ही सकल ब्रह्माण्ड के दर्शन किये जाते हैं। सूरकृत भ्रमरगीत मे [illegible] के साथ-साथ अपने आप ही इस मार्ग का भी विरोध होता गया [illegible] से देखा जाय तो कहा जा सकता है कि सूर ने योग-मार्ग का तो तीव्र [illegible] है।

इस प्रकार यह भली-भांति स्पष्ट है कि सूर-कृत भ्रमरगीत में वल्लभाचार्य जी के शुद्ध द्वैतवाद का ही मंडन है। उनके दार्शनिक सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि में यही वाद कार्य कर रहा है। किन्तु एक बात अवश्य है। उन्होंने भ्रमरगीत में इन सिद्धान्तों का समावेश शुद्ध रागात्मक आधार पर किया है। धर्म के तीन प्रधान अंग माने जाते है—ज्ञान, भक्ति और कर्म। इन तीनों का ही यहाँ समन्वय दिखाई देता है। परिणाम यह हुआ है कि यह काव्य परब्रह्म की प्राप्ति के ध्येय से च्युत नहीं हुआ है और साथ ही उसमें लोक-संग्रह का पुट भी आ गया है।

जब किसी व्यक्ति के दार्शनिक सिद्धान्तों को केन्द्र बनाकर उसके आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी विचारों का अध्ययन किया जाता है तो इस बात का पता लगाना भी आवश्यक हो जाता है कि उसका जीवन के प्रति क्या दृष्टिकोण रहा है? उसका यह दृष्टिकोण स्वस्थ है अथवा नहीं। यदि उसका जीवन के प्रति जो दृष्टिकोण है, स्वस्थ नहीं है तो फिर चाहे उसके दार्शनिक सिद्धान्त कितने ही गहन हों, हमारी दृष्टि में वे अवांछनीय ही समझे जायेंगे। संसार में अब तक दार्शनिकों के प्रति यही समझा जाता रहा है कि वे जीवन के प्रति कोई उत्साहवर्धक दृष्टिकोण नहीं रखते। किन्तु उनका यह समझना नितान्त गलत है। वास्तविकता तो यह है कि अब तक जितने भी उच्च दार्शनिक हुए हैं सभी का जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण ही रहा है। माना जा सकता है कि कुछ लोक प्रसिद्ध दार्शनिकों ने जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण नहीं रखा। ऐसे दार्शनिकों के विषय में हमारा तो यही विचार है कि वे समाज के विकास में बाधा ही बने हैं। वास्तव में जीवन सिद्धान्तों को दार्शनिक सिद्धान्तों से अलग रखकर देखना अनुचित ही है। ये दोनों एक ही प्रश्न के दो पहलू हैं। एक के अभाव में दूसरे के अस्तित्व की कल्पना भी नहीं हो सकती।

भारतीय संस्कृति का जीवन के प्रति सदैव से ही स्वस्थ दृष्टिकोण रहा है। उद्योग, संयम तथा समन्वय पर आधारित सतुलित जीवन उसका आदर्श रहा है। उसका आदर्श कभी भी अव्यवहारिक अथवा अस्वाभाविक नहीं हो पाया है। हमें इस बात पर गर्व है कि संसार में जितने भी आदर्श प्रचलित हैं उन सब में यह आदर्श अद्वितीय है। यह हम मान सकते हैं कि प्रवृत्ति-मार्ग की अपेक्षा निवृत्ति-मार्ग को ही अधिक श्रेयस्कर माना जाता रहा है किन्तु क्या इससे जीवन की उपेक्षा होती है। उससे तो केवल इतना ही तात्पर्य होता है कि उसके द्वारा मानव के प्राकृतिक स्वार्थों का दमन हो जाय, समाज में अव्यवस्था एवं अशान्ति का अड्डा न बन जाय तथा समभाव का संग्रह करके व्यक्ति के हृदय में काल-गति के प्रभाव से कोई क्षोभ उत्पन्न न हो जाय। वस्तुतः यह निवृत्ति-मार्ग जीवन को सदैव आनन्दमय बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील है, इसे जीवन के प्रति उदासीन नहीं कहा जा सकता। उस सिद्धान्त को जो आत्मा को अजर और अमर मानता हो, जीवन के प्रति निराशात्मक दृष्टिकोण रखने वाला कौन कह सकता है? कुछ विचारकों का कहना है कि भारतीय दर्शन जीवन को गौण समझता है। हमारा विचार है कि शायद उन्होंने वैदिक कवि 'जीवेम शरद शतम्' उत्साहमय

घोष नहीं सुना, नहीं तो वे ऐसा नहीं कहते। ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थ और संन्यास जिनमें उपभोग और संयम का आनन्दमय संतुलन है जीवन के सच्चे रूप का आदर्श-चित्र नहीं तो और क्या है? इस प्रणाली के द्वारा एक व्यक्ति तथा सम्पूर्ण समाज दोनों के जीवन के महत्व पर दृष्टि डाली गई है। समाज के जीवन की परम्परा अमर है जबकि एक व्यक्ति का जीवन सीमित है। दोनों में मेल रखने के लिए आवश्यक है कि नई पीढ़ी तथा समाज में उठती हुई नयी विचारधारा के लिए पुरानी पीढ़ी स्वयं स्थान रिक्त कर दे। यही यहाँ की जीवन-प्रणाली का मूल आदर्श रहा है। कौन कह सकता है कि यह आदर्श विकास को अवरुद्ध करता है? भ्रमरगीत की मूल भावनाओं में सर्वत्र जीवन के प्रति यही स्वस्थ दृष्टिकोण दिखाई देता है।

कुछ विद्वानों की दृष्टि में कर्त्तव्य का भावना से बहुत ऊँचा स्थान है। हम भी इस बात से सहमत हैं किन्तु हम एक बात अवश्य कहना चाहते हैं। बात यह है कि भावनाओं के प्रति क्या कुछ हमारे कर्त्तव्य नहीं हैं? हैं, और अवश्य हैं। जो उपदेशक शुष्कता के रेगिस्तान में विचरण करते हैं वे तथ्यों को नहीं समझते। फिर जीवन तथ्यों से अलग हो ही नहीं सकता। वस्तुतः जीवन का लक्ष्य जीवन से हटकर नहीं है, उसकी सीमा में ही है। किसी समस्या का हल भी उतना ही यथार्थ है जितनी कि स्वयं वह समस्या। यही दृष्टिकोण भ्रमरगीत में गोपियों के माध्यम से व्यक्त होता है। वैसे भ्रमरगीत में पात्रानुसार अलग-अलग दृष्टिकोण दिखाई देते हैं—कृष्ण और गोपियों का अलग, उद्धव का अलग तथा कुब्जा का अलग। किन्तु सूरदास का अपना दृष्टिकोण है कृष्ण और गोपियों का दृष्टिकोण। यही भ्रमरगीत की केन्द्रीय भावना है।

यहाँ हम जीवन-निर्यापन-प्रणाली को स्पष्ट रूप से दो रूपों में विभक्त देख रहे हैं—एक है बौद्धिक और दूसरी है हृदयगत भावनाओं से मंडित। सूरकृत भ्रमरगीत की भावना के अनुसार जीवन में कोरी बौद्धिकता हेय है। वे तो उसके स्थान पर हृदयगत सम्बन्धों पर ही अधिक बल देते हैं। इस प्रकार भ्रमरगीत में निहित जीवन-सिद्धान्तों में एक ओर जहाँ उद्धव के कल्पनात्मक आध्यात्मवाद का तिरस्कार दृष्टिगत है और इसके स्थान पर जीवन की अमर सत्यता का उद्घाटन है, वहाँ दूसरी ओर इसमें उस बौद्धिकता की भी उपेक्षा है जो जीवन को अतिभौतिक और आजकल के समान कृत्रिम बना देती है। भ्रमरगीत के ये जीवन-सिद्धान्त नितान्त सरल और सहज गम्य हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भ्रमरगीत का जीवन-सिद्धान्त पूर्णतया स्वस्थ एवं [illegible]। आवश्यकता तो आज इस बात की है कि हम उसमें से आज के युग के [illegible] की खोज करें और उसे अपने जीवन में अपना कर [illegible] और [illegible] करें।

काव्यगत सौन्दर्य

समय-समय पर विभिन्न विद्वानों ने काव्य को एक निश्चित परिभाषा देने का प्रयास किया है किन्तु तो भी आज तक उसकी कोई एक सर्वमान्य परिभाषा स्थिर नहीं हो पाई है। वस्तुतः उसे एक निश्चित सीमा में बाँधना भी नहीं चाहिये क्योंकि यदि प्रयत्न करके एक परिधि का निर्माण कर भी दिया तो वह व्यर्थ ही प्रमाणित होगा। कारण, समय परिवर्तनशील है, इसकी गति उस परिधि को तोड़ देगी। हम वैसे ही यह भविष्यवाणी नहीं कर रहे हैं, इतिहास इस तथ्य का साक्षी है। कितनी ही बार ऐसा हो चुका है। कोई देश और कोई भाषा समय की परिवर्तनशीलता के आघात से नहीं बची। इतना सब-कुछ होते हुए भी काव्य के दो तत्त्व सर्वदा अपरिवर्तित रहे हैं। इन दो तत्त्वों के विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न नाम रखे हैं। किन्तु साधारण रूप में इन्हें आन्तरिक पक्ष तथा बाह्य पक्ष अथवा भावपक्ष और कलापक्ष कहा जाता है। भावपक्ष के अन्तर्गत सुन्दर सुललित भाव, हृदयग्राही कल्पनाएँ, संवेदनशील अनुभूतियाँ तथा प्रभावशाली विचार आते हैं। कलापक्ष में अभिव्यंजना सौष्ठव, आकर्षक शैली, अनुपम चित्रोपमता, सौन्दर्यमयी अलंकार-योजना, भावानुकूल प्रौढ़ भाषा तथा विषयानुकूल छन्दोबद्धता का समावेश होता है। इन्हीं कसौटियों के आधारों पर किसी काव्य के महत्त्व का मूल्यांकन किया जाता रहा है। हम भी इन्हीं कसौटिय के आधार पर सूरकृत 'भ्रमरगीत' के काव्यगत सौन्दर्य की परख करेंगे।

भावपक्ष

कहने की आवश्यकता नहीं कि भ्रमरगीत वियोग शृंगार से सम्बन्धित एक सफल काव्य है। किन्तु इसमें केवल वियोग-दशा का ही चित्रण नहीं है, अपितु वियोगिनी गोपियों के द्वारा परोक्ष रूप में कृष्ण को दिये गये उपालम्भों का कोष है। इस काव्य में अधिकांशतः स्वयं गोपियों के ही कथन हैं। कवि ने जहाँ तक गोपियों का सम्बन्ध है स्वयं अपनी ओर से कुछ नहीं कहा है। यदि कहीं कभी कुछ कहा भी है तो वह 'न' के बराबर है और काव्य में कथासूत्र जोड़ने के लिए ही है। साथ ही इसमें निर्गुण और सगुण-जैसे गम्भीर विषय पर वादविवाद भी देखने को मिल जाता है। अतः यह काव्य केवल भावमग्न करने वाला ही नहीं, विचारोत्तेजक भी बन जाता है।

'Our sweatest songs are those which tell our saddest thoughts' के अनुसार यह काव्य स्वतः ही हृदयग्राही है। फिर जब भ्रमर प्राकृतिक प्रतिभा वाले कवि सूरदास के हाथों में पड़ कर एक निश्चित उद्देश्य को लेकर हमारे सम्मुख आता है तो और भी प्रभावोत्पादक बन जाता है। कुछ विद्वानों का कथन है कि यह तो पूर्णतः उपालम्भ-काव्य ही है। ठीक है, इसमें उपालम्भों का अक्षय भण्डार है किन्तु इन उपालम्भों में ही तो गोपियों का प्रेम-विह्वल हृदय स्पष्ट रूप में खुलकर सामने आता है। इन गोपियों के हृदय का वह कौन-सा कोना है जहाँ सूर की दृष्टि नहीं पहुँची है? असीम वेदना का वह कौन-सा पक्ष है जिसे सूर ने स्पर्श नहीं किया है?

वेदना की वह कौन-सी अन्तिम से अन्तिम गहराई है जहाँ सूर न पहुँचे हों? रस में डूबे हुए गोपियों के हृदय को शुष्क बातों तथा अपरिचित उपेक्षा जो ठेस पहुँची तथा फलस्वरूप उनपर इसकी जो प्रतिक्रिया हुई उसे सहज स्वाभा किन्तु मार्मिक रूप में वर्णित देख कर कौन ऐसा आलोचक होगा जो उ अद्भुत अन्तर्दृष्टि की सराहना न कर उठेगा। यदि यह कोई अद्वितीय बात थी तो फिर उनके परवर्ती कवि उनका आधार लेकर भी सफलता का मुख क्यों देख सके? गोपियों के उपालम्भ ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे मानो अवसरानुकूल हृ हृदय से ही निकल पड़े हों। उनके काव्यों में हमारे हृदयों की एकत्रित खीझ दिखाई पड़ती है। वास्तव में गोपियों की वेदना केवल गोपियों की ही वेदना न है, वह तो नारी-मात्र की वेदना है। हम कह सकते हैं कि वह प्रत्येक बिछु हुई आत्मा की वेदना है जो परम प्राप्ति की इच्छा से चिरन्तन काल से जलती च आ रही है। वस्तुतः प्रस्तुत काव्य में ईश्वर के सगुण रूप की महत्ता का जो प्रति पादन है, वह मनुष्य-जीवन की सार्थकता का अमिट उद्घोष ही कहा जाना चाहिए

भ्रमरगीत के भाव पक्ष का वास्तविक सौन्दर्य दो स्थानों पर विशेष रूप देखने को मिलता है। एक तो विरह संतप्त हृदयों की मनोदशाओं के अत्यन्त सू स्वाभाविक एवं मार्मिक चित्रणों में तथा दूसरे गोपियों की उन उक्तियों में जिन द्वारा वे ज्ञान के देवता उद्धव का मधुर तिरस्कार करती हैं, कृष्ण को उपाल देती हैं, अपने हृदय की खीझ का प्रगटीकरण करती हैं, अपने प्रेम की अनन्यत स्पष्ट करती हैं तथा साथ ही सगुण रूप की महत्ता को भी प्रतिपादित करने सफल होती हैं।

आइये, अब कुछ तनिक विस्तार से विचार करलें। कृष्ण के आग्रह पर उद्ध का संदेश लेकर ब्रज जाने तक की घटनाओं पर सूर ने बहुत संक्षेप में प्रकाश डाला है। स्पष्टतः प्रतीत होता है कि सूर का हृदय यहाँ तक रमा ही नहीं है। उनके हृद में तो सम्भवतः उत्सुकता शीघ्र ही गोपियों और उद्धव के वार्तालापों में पहुँचने की थी। काव्य का केन्द्रीय उद्देश्य भी गोपियों के वचनों में ही था किन्तु तो भी वे यह वात्सल्य को नहीं भूले जो उनकी सफलता का ही प्रमाण है। सूर अनुपम स्नेहमयी माता यशोदा के प्रति कृष्ण के हृदय में उमड़ती हुई भावनाओं को पहचानते थे। यदि वे यशोदा के पुत्र-वियोग से व्यथित हृदय को विस्मृत कर देते तो उनकी सफलता ही क्या रहती? उन्होंने उसे कृष्ण का जो संदेश भिजवाया है, दर्शनीय है—

'जोऊ रहिए जसुमति मैया।
आवेंगे दिन-चार पांच में हम हलधर दोऊ भैया॥'

अपनी भूल को हँसी में टालते हुए स्वयं नन्द को जो कृष्ण द्वारा मीठा उलाहना दिलवाता है वह भी देखिये कितना हृदयग्राही है—

'कहियो जाय नंद बाबा सों निपट कठिन हिय कीन्हों।
सूर स्याम पहुँचाय मधुपुरी बहुरि सँदेस न लीन्हों॥'

यशोदा के पश्चात् गोपियों का नम्बर आता है। विरह से व्यथित गोपियाँ इतने दिनों बाद जब अपने प्रिय का संदेश पाने की आशा देखती हैं तो उनकी भाव-विह्वलता की सीमा टूट जाती है। कृष्ण की संदेश-पत्रिका को देखकर देखिए गोपियों का क्या दशा हो जाती है—

'निरखत अंक स्याम सुन्दर के बार बार लावति छाती।
लोचन जल कागद मस मिलि के ह्वै गई स्याम स्याम की पाती॥'

गोपियों को आशा थी कि वे उद्धव के मुख से प्रिय के शीघ्र ही आगमन का सुखद संदेश सुनेंगी। किन्तु इसके स्थान पर जब उन्होंने सुना उद्धव का शुष्क तथा दम घोटने वाला ज्ञानोपदेश तो उनके हृदय को एक बड़ा गहरा धक्का लगा। एक क्षण तो वे ठगी-सी ही रह गईं। जब आशा के बिल्कुल विपरीत इस प्रकार कोई संदेश मिले तो मनुष्य ठगा सा रह ही जाता है। अब निम्नलिखित के अतिरिक्त उनके पास चारा ही क्या था—

'सुनत संदेस दुसह माधव के गोपीजन बिलखाती।
सूर विरह की कौन चलावै नयन ढरत अति पाती॥'

इसके पश्चात् तो उनके हृदय का वेदना-सागर खीझ बनकर बाहर आ निकला और कई रूपों में प्रस्फुटित हो गया। गोपियाँ कभी तो उद्धव को उपालम्भ देकर अपना व्यथित हृदय शान्त करती हैं। कभी उपहास करके कुछ सुख का अनुभव कर लेती हैं और कभी अपने रुदन तथा विषम स्थिति का प्रकटीकरण करके कुछ हल्कापन अनुभव करती हैं। गोपियों के इस प्रकार के वचनों से यह प्रमाणित हो जाता है कि सूर में जहाँ एक ओर नवीन प्रसंगों की उद्‌भावना की शक्ति थी वहाँ दूसरी ओर हृदय के अनन्त भावों को पकड़ने की शक्ति भी थी। सूर से पहले के कवि वियोग-पक्ष में प्राय बाह्य पक्ष का ही चित्रण किया करते थे किन्तु सूर ने इसके स्थान पर आन्तरिक प० को ही अधिक महत्त्व दिया है और इस प्रकार अपनी अनुपमता तथा श्रेष्ठता का परिचय दिया है।

गोपियों को पहले तो यही विश्वास नहीं होता कि उद्धव जी जो कुछ कह रहे हैं उनसे ही कह रहे हैं। जब यह विश्वास हो जाता है कि उद्धव जो जो कुछ कह रहे हैं उनसे ही कह रहे हैं तथा वही कह रहे हैं जो वे समझ रही हैं तो उन्हें उद्धव पर विश्वास ही नहीं होता। वे सोचती हैं कि कृष्ण तो कभी ऐसा कह ही नहीं सकते। कृष्ण पर इतना अटूट विश्वास उनके प्रेम की अनन्यता का कितना सबल प्रमाण है। निम्न उक्ति उदाहरण स्वरूप द्रष्टव्य है—

'ऊधो जाय बहुरि सुनि आवो कहा कह्यो है नन्दकुमार।
यह न होय उपदेस स्याम को कहत लगावन छार॥'

किन्तु जब उन्हें यह विश्वास हो जाता है कि वास्तव में यह संदेश उनके निष्ठुर प्रियतम का ही है तो उनका दुःख सीमाहीन हो जाता है। इस दुःख का प्रगटीकरण निम्न पद में देखिये—

'ऊधो ! यह हरि कहा करयो ?
राजकाज चित्त दये साँवरे गोकुल क्यों बिसरयो ?
जो लौं घोस रहे तौ लौं हम सन्तत सेवा कीनो।
वारक कबहुँ उलूखल बाँधे सोई मानि जिय लीनी ॥
जो तुम कोटि करो ब्रजनायक बहुतं राजकुमार।
तौ ये नंद पिता कह मिलि हैं अब जसुमति महतारि ॥
कहँ गोधन कहँ गोप-वृन्द सब गोरस को सैंबो ?
'सूरदास' अब सोई करो जिहि होय कान्ह को ऐबो।'

गोपियों को इस बात का दुःख तो था ही कि कृष्ण उनसे बिछुड़ कर चले गये, किन्तु इससे भी बड़ा दुःख इस बात का हुआ कि मथुरा जाकर इतनी उपेक्षा कर दी। उन्हें बड़ा दुःख होता है कि कृष्ण ने तो प्रेम की रीति को ही कलंक लगा दिया। दुःख के साथ कहती हैं:—

'प्रीति करि दीन्हो गरे छुरी।
जैसे बधिक चुगाय कपट कन पाछे करत बुरी ॥'

अब तनिक उपालम्भों की भी परख कर लीजिये। उपालम्भ का सबसे बड़ा कारण है कुब्जा जिसे कृष्ण ने मथुरा जाकर अपना लिया था। कुब्जा को लक्षित करके गोपियों ने जो तीखे ताने कसे हैं उनमें सह-पत्नी के हृदय में समायी हुई ईर्ष्या का प्रगटीकरण देखते ही बनता है—

'कुबजा काज कंस को मार्‌यो भई निरन्तर प्रीति।
सूर विरह ब्रज भलो ना लागत जहाँ ब्याहु तहँ गीति ॥'
'हरि सौं भलो सो पति सीता को।
दूत हाथ लिख उन्हें न पठायो निगम ज्ञान गीता को ॥
अब धौं कहाँ परेखो कीजै कुबिजा के मीता को ॥'

गोपियों के उपहास करने में भी सर्वत्र सूर ने एक स्तर रखा है। उस स्तर से पतन होता कहीं नहीं दिखाई देता। इनके उपहास में वह प्रौढ़ता तथा सरलता विद्यमान है जो प्रत्येक परिष्कृत अथवा अपरिष्कृत हृदय को प्रभावित कर सकती है। इन उपहासों की शक्ति का तो कहना ही क्या ? इन्हीं से उद्धव का रंग फीका हुआ, इन्हीं से उद्धव का ज्ञान-गर्व चूर-चूर हुआ, इन्हीं के द्वारा एक महान् उद्देश्य की पूर्ति हुई। इन उपहासों में हास्य की अवस्थिति मानी जा सकती है किन्तु यह हास्य भी कुछ और ही प्रकार का है। उस पर वेदना और क्षोभ का आवरण चढ़ा हुआ है। उसे करुणात्मक हास्य की संज्ञा दी जा सकती है। कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं—

"बिलगि जनि मानहु ऊधो प्यारे।
ये मथुरा काजर की कोठरी, जे आवहिं ते कारे ॥
तुम कारे, सुफलक सुत कारे, कारे मधुप संवारे।"

'मधुकर यह कारे की रीति।
मन दै हरत परायो सर्वसु करै कपट की प्रीति ।।'

× × ×

ऊधो जाहु तुम्हें हम जाने।
स्याम तुम्हें यहाँ नहिं पठाए तुम तो बीच भुलाने।।
ब्रजवासिन सौं जोग कहत हौ बातहु कहत न जाने।'
'आयो घोस बड़ो व्यापारी।
लादि खेप गुन ज्ञान जोग की ब्रज में आय उतारी।'
'आये जोग सिखावन पाँडे।
परमारथी पुराननि लादे ज्यों बनजारे टाँडे ।।'

ये तो हुए उन उपहासों के उदाहरण जिनमें गोपियों ने स्पष्ट रूप से उद्धवजी पर तीखे छींटे कसे हैं। इनका एक दूसरा भाग भी है जिसमें तार्किकता का अंश अधिक है। इन उपहासों के द्वारा सूर ने निर्गुण ब्रह्म की साधना के स्थान पर सगुण-साधना तथा योग-मार्ग के स्थान पर प्रेम-मार्ग की महत्ता प्रदर्शित की है। ऐसा करने में गोपियों को कुछ अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ा है। उन्होंने अपने मत के प्रतिपादन के लिए कारण और तर्क नहीं दिये हैं। अधिकांश में उद्धव से प्रश्न पूछने में ही सारी बातें स्वतः ही स्पष्ट हो जाती हैं। एक उदाहरण ही इस बात की पुष्टि के लिए पर्याप्त होगा—

"निर्गुन कौन देस को बासी।
मधुकर ! कहि समुझाय सौंह दे बूझत, साँच न हाँसी ।।
को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि को दासी। आदि

विश्वास के लिए आवश्यकता होती है आत्मीयता की और आत्मीयता का आधार होते हैं स्पष्ट तथ्य। गोपियाँ उद्धव की बात भी मानने को तैयार हैं किन्तु कब ? जबकि वे अपने निर्गुण ब्रह्म को उनके सामने लाकर खड़ा कर दें—

"तो हम मानैं बात तुम्हारी।
अपनो ब्रह्म दिखावहु ऊधो, मुकुट पीताम्बर धारी ।।
भजि तब ताको सब गोपी सहि रहि हैं बरुधारी।"

गोपियों के मनोभावों के चित्रण के अन्तर्गत यदि उनकी दशा तथा उनके हृदय की विह्वलता और प्रेम की अनन्यता पर कुछ प्रकाश न डाला गया तो बात कुछ अधूरी-सी ही रह जायगी। गोपियों ने चाहे कितना ही उपहास किया, कितना ही व्यंग्य किया तथा कितना ही अपने को सँभालने का प्रयास किया, आखिर थीं तो साधारण नारियाँ ही। वे अपने मुख से अपनी व्यथा प्रगट किये बिना कैसे रह सकती थीं ? उद्धव को प्रभावित करने के हेतु भी ब्रज की वास्तविक स्थिति का दिग्दर्शन आवश्यक था। हीन दशा का यह चित्रण इतना स्पष्ट तथा हृदयभेदी शब्दों में है कि इसका चित्र तो नेत्रों के सम्मुख नाच ही जाता है, पाठक भी असीम वेदना में डूब

जाता है। उद्धव सबसे अधिक प्रभावित इसी दशा के वर्णन से हुए थे। उन्होंने कृष्ण के पास जाकर पहले इसी दीन दशा का ही वर्णन किया है। एक उदाहरण देखिये गोपियाँ क्या कह रही हैं—

'निसि दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहत पावस ऋतु हम पै जबते स्याम सिधारे॥'

उद्धव के शब्दों में इसका मार्मिक चित्र निम्न शब्दों में दर्शनीय है—

"कहाँ लौं कहिए ब्रज की बात।
सुनहु स्याम तुम बिन उन लोगन जैसे दिवस बिहात॥
गोपी ग्वाल गाय गोसुत सब मलिन बदन, कृस गात।
परम दीन जनु सिसिर हेम हत अंबुज गन बिनु पात॥
जो कोई आवत देखि दूर तें सब पूछति कुसलात।
चलन न देति प्रेम आतुर उर कर चरनन लपटात॥
पिक चातक बन बसन पावै बायस बलिहिं न खात।
सूर स्याम संदेसन के डर पथिक न वा मग जात॥"

इस पद से जहाँ ब्रज की आकुलता स्पष्ट होती है वहाँ उनके प्रेम की अनन्यता भी झलक रही है। कृष्ण की इतनी उपेक्षा होने पर भी गोपियों को अपने प्रेम पर अटल विश्वास है। अनन्य प्रेमी को भी यदि इतना विश्वास न होगा तो फिर और किसे होगा? वे अपनी अनन्यता तथा असमर्थता के लिए इतने सुन्दर तर्क देती हैं कि हृदय बस उनकी न्याय सगतता को स्वीकार करता ही दिखाई देता है—

"ऊधो! मन नाहीं दस बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम संग, को अवराधे तुव ईस।"

⊠ ⊠ ⊠

"उर में माखन चोर गड़े।
अब कैसेहूँ निकसत नाहीं ऊधो! तिरछे ह्वै जु अड़े॥"

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सूरकृत भ्रमरगीत का भावपक्ष अत्यन्त सबल है। सुन्दर सुललित भाव, हृदयग्राही कल्पना, संवेदनाशील अनुभूतियाँ तथा प्रभावशाली विचार आदि ने इस काव्य को अत्यन्त उच्च श्रेणी का काव्य बना दिया है।

कलापक्ष

कलापक्ष के अन्तर्गत जैसा कि हमने पीछे बताया कि भाषा, शैली, अभिव्यञ्जना सौष्ठव, छन्दोबद्धता, चित्रोपमता, अलंकार-योजना की गणना की जाती है। सूरकृत 'भ्रमरगीत' के कलापक्ष को कसौटी पर कसने के हेतु, अपने विवरण को इन्हीं शीर्षकों में विभक्त कर लेना उपयुक्त रहेगा।

भाषा

विचारों और मनोभावों के प्रगट करने का साधन भाषा होती है। जिस

साहित्यकार का भाषा पर अधिकार नहीं है वह साहित्यकार ही क्या ? जिनका भाषा पर अधिकार नहीं होता उनके भाव अस्फुट ही रह जाते हैं। काव्यकार के लिए तो भाषा पर सच्चा और पूर्ण अधिकार होना बहुत ही आवश्यक है क्योंकि वहाँ केवल महत्त्व इस बात का नहीं है कि क्या कहा जा रहा है, इस बात का भी है किस प्रकार कहा जा रहा है ? बिना भाषा पर असाधारण अधिकार हुए कोई भी कवि महान् कवि कहला ही नहीं सकता।

महात्मा सूरदास का भाषा पर असाधारण अधिकार दिखाई देता है। उनके पास शब्दों का अभाव कभी नहीं रहा। भावों के प्रकट करने के तो न जाने वे कितने ढंग जानते थे। सबसे बड़ी विशेषता तो उनकी यह है कि उनकी भाषा सदैव भावानुकूल रही है। यदि वियोग का स्थल है तो भाषा भी विह्वल दिखाई देगी, यदि व्यंग्य का स्थल है तो उसमे भी वैसी ही तीव्रता के दर्शन होते हैं, स्नेह का अवसर है तो उसमें कोमलता रहेगी और यदि भक्ति का अवसर है तो उसमें भी अपेक्षित दीनता दिखाई देगी। 'भ्रमरगीत' में तो उनकी भाषा का यह गुण और भी स्पष्ट रूप मे दिखाई देता है।

महाकवि सूरदास ने अपने काव्य की रचना ब्रजभाषा में की है। यदि हम सूर की शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा के पूर्व के राजस्थानी से मिश्रित ब्रजभाषा के विकास पर एक दृष्टि डालें तो कहना पड़ेगा कि वे किसी ब्रजभाषा की अज्ञात परम्परा मे अवतरित हुए थे। किन्तु जिस प्रकार द्विवेदी-युग के कवियों ने खड़ीबोली को सत्ता पहले से ही रहने पर भी, उसे भावनाओं का वाहक बनाया था, उसी प्रकार ब्रजभाषा के परिष्कार और अलंकृति मे सूर का एक ऐतिहासिक महत्व है। सूर के ब्रज-भाषा प्रयोग की कुछ विशेषताओं पर दृष्टिपात कर लेना अत्यन्त आवश्यक सा प्रतीत हो रहा है। इस भाषा को कोमलता का चोला पहनाने के हेतु उन्होंने वैदिक 'ऋ' के स्थान पर 'रि', 'र' का प्रयोग किया। स्वरो के प्रयोग और विशेष रूप से सानुनासिक स्वरो के प्रयोग ने इस दृष्टि से उनकी बहुत सहायता की है। कुछ लोगों के विचार मे डिंगल मिश्रित ब्रज भाषा में प्रयुक्त द्वित्वप्रधान तथा संयुक्ताक्षरों का प्रयोग कम करके भी सूरदास ने कोमलता की सृष्टि की है। कुछ लोगों का विचार है कि सूर साहित्य मे संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग बहुत मिलता है। किन्तु हम उनकी बात से सहमत नहीं हैं। जहाँ वे भागवत का आधार लेते हैं वहाँ अवश्य ही कुछ तत्सम शब्दों की प्रधानता लक्षित हो जाती है किन्तु भ्रमरगीत में जहाँ कवि भाव-विभोर ही रहना चाहता है, शास्त्रीय शब्दावली का प्रयोग बहुत कम है। वहाँ लोक साहित्य की शब्दावली ही वे अधिक प्रयोग में लाते हैं। इनके तो संधिपूर्ण शब्द भी अपेक्षाकृत सरल हैं। सूर की भाषा का विशेष अध्ययन करने वाले श्री प्रेमनारायण टंडन ने स्पष्टतः लिखा है कि सूर-साहित्य में स्वर-संधि-प्रधान शब्द ही अधिक मिलते हैं, व्यंजन-संधि तो अपवाद ही समझना चाहिए। सूर प्रायः उन शब्दों के प्रयोग से बचते ही रहे हैं जो भाव-प्रवाह के मध्य पत्थर की भाँति अड़कर काव्य की प्रेषणीयता

को हानि पहुँचाते हैं। 'भ्रमरगीत' में इस विषय में वे विशेष सतर्क दिखाई पड़ते हैं। प्राकृत के शब्दों के विषय में भी यही बात है। 'साहित्यलहरी' तथा अन्यत्र उन्होंने प्राकृत शब्दों का प्रयोग अधिक मात्रा में किया है। 'भ्रमरगीत' में तो यदि कुछ शब्द अपनाये भी हैं तो वे अत्यन्त मधुर हैं जैसे चिहुर, फटिक, केहरि आदि। इसी प्रकार क्या अवधी, क्या अरबी और क्या फारसी सभी देशी-विदेशी भाषाओं के शब्दों का प्रयोग पहले तो सूर ने किया ही बहुत कम है यदि कहीं किया भी है तो अत्यन्त मधुर बनाकर।

सूरदास जी की भाषा की एक और विशेषता है ध्वन्यार्थमूलक शब्दों का प्रयोग। श्री प्रेमनारायण टंडन के अनुसार इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग सूर ने देशज शब्दों से कहीं अधिक किया है। 'भ्रमरगीत' में इस प्रकार के भी शब्द कम ही मिलते हैं क्योंकि यहाँ सूर का उद्देश्य वातावरण की सृष्टि करना नहीं था। 'भ्रमरगीत' की भाषा की तो सबसे बड़ी विशेषता है परिस्थिति के अनुकूल उसका प्रयोग। कुछ उदाहरण इसकी पुष्टि के लिए यहाँ प्रस्तुत करना अनुपयुक्त न होगा। उपहास और विद्रूप करते समय देखिये सूर की भाषा भी कितनी व्यंगमयी और चपल हो जाती है—

"ऊधो, जाहु तुम्हें हम जाने।
श्याम तुम्हें ह्याँ नाहिं पठाए, तुम हो बीच भुलाने।"
× × ×
कहो कहाँ ते आए हो
जानति हो अनुमान मनो तुम। जादवनाथ पठाए हो।
× × ×
ऊधो, भली करी तुम आये।
ये बातें कहि कहि या दुख में ब्रज के लोग हँसाये॥

भावातिरेक-प्रधान स्थलों की सूर की भाषा तो भाषा और अभिव्यक्ति के सभी बन्धन तोड़ डालती है। यहाँ तो सूर की भाव-धार ब्रह्मपुत्र नदी के समान 'हहरि-हहरि' करती हुई दौड़ती दृष्टिगोचर होती है। हाँ, उद्धव के प्रति व्यंग्य करते हुए सूरदास में जो चपलता और अत्यधिक व्यवहारिकता दृष्टिगोचर होती है, उसका ऐसे स्थलों पर अभाव ही रहता है। उपहास अथवा व्यंग्य करते समय सूर बाह्य जीवन पर ही अधिक ध्यान देते हैं। उस समय वे बाहर से ही अधिक शब्द चुनते हैं किन्तु भावुकतापूर्ण स्थलों में तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानो भाषा कवि के अन्तर से ही निकल रही है। व्यंग्य करते समय जो खीझ और झल्लाहट दिखाई पड़ती है। वह यहाँ दैन्य, विवशता और अवसाद में परिवर्तित हो जाती है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

काहे को गोपीनाथ कहावत?
जो पै मधुकर कहत हमारे, गोकुल काहे न आवत।
× × ×

जीवन मुंह चाहीं को मीको।
बरस परस दिन रात करति हैं, कान्ह पियारे पी को।

× × ×

बिरहो कहँ लौ आपु संभारै?
जब तें गंग परी हरिपद तें, बहिबौं नाहिं निवारै।

भाषा भी बेचारी ऐसे प्रसंगों में मानो अपने आप को नहीं संभाल पा रही है, उसे गंगा की भाँति प्रवाहित होते रहना ही पड़ता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सूरदास जी पात्रों की मानसिक स्थिति से नहीं, उनकी अभिव्यक्ति के भिन्न-भिन्न रूपों से भी परिचित थे। भिन्न-भिन्न मानसिक स्थितियों में भाषा का रूप भी भिन्न-भिन्न दिखाई देता है।

कहावतों और मुहावरों का भी काव्य में एक विशेष स्थान है। काव्य को प्राणवन्त करने के लिए इनका प्रयोग वांछनीय माना जाता है। सूर ने इनमें सबसे अधिक लोकोक्तियों का प्रयोग किया है। 'भ्रमरगीत' में 'सूरसागर' के अन्य सभी भागों से इनका प्रयोग अधिक मात्रा में मिलता है। कुछ उदाहरण देखिये—

'हमारे हरि हारिल की लकरी।'

× × ×

जोग ठगौरी ब्रज न बिकैहै।
दाख छाँडि के कटुक निबौरी, को अपने मुख खैहै।
मूरी के पातन के केना को मुक्ताहल दैहै।

शैली

विचार अथवा मनोभाव यदि काव्य की आत्मा हैं तो शैली उसका शरीर। जिस प्रकार भावों की कोई संख्या नहीं है, जिस प्रकार विचारों की कोई संख्या नहीं है, उसी प्रकार शैली की भी कोई संख्या नियत नहीं की जा सकती। 'Style is the man himself' के अनुसार शैली पर अलग-अलग व्यक्तित्व की अलग-अलग छाप होती है। अतः यह कहना कि शैली कैसी होनी चाहिए, बड़ा कठिन है। हाँ, एक बात कही जा सकती है और वह यह कि वह भाव नुकूल हो। जैसे भाव हों वैसी ही शैली हो।

इतने व्यापक अर्थ में तो शैली के अन्तर्गत अभिव्यंजना, ध्वनि, अलंकार, छन्द आदि सभी कुछ आ जाते हैं किन्तु हम यहाँ भाषा, अलंकार, छन्द आदि सभी को अलग-अलग ले रहे हैं। अतः यहाँ शैली के कुछ संकुचित अर्थ को ही लेकर 'भ्रमरगीत' की कतिपय विशेषताओं पर प्रकाश डालेंगे। यदि शैली के व्यापक अर्थ की दृष्टि से भी कुछ कहना चाहें तो एक वाक्य में यही कहेंगे कि उसकी शैली सदैव भावानुकूल रही है। अब देखना यह है कि भ्रमरगीत में सूर ने अभिव्यक्ति का कौन-सा ढंग अपनाया है। मुख्य रूप से इस काव्य में तीन विधियों को अपनाया गया है—संबोधन, अन्योक्ति और कथोपकथन। इन्हीं तीनों के आधार पर 'भ्रमरगीत' में प्रयुक्त शैलियों

को सम्बोधन शैली, अन्योक्ति शैली तथा कथोपकथन शैली नाम दिये जा सकते हैं।

'भ्रमरगीत' में कवि अपनी ओर से कुछ भी कहना नहीं चाहता। बहुत आवश्यक स्थलों पर ही कवि के स्वगत कथन देखने को मिल सकते हैं। जो कुछ वह कहना चाहता है अधिकांश में उसके लिए पारस्परिक संवाद और सम्बोधनों का ही आश्रय लिया है। भ्रमरगीत के मुख्य पात्र हैं—कृष्ण, उद्धव, गोपियाँ और यशोदा। वैसे तो भ्रमर भी एक पात्र है किन्तु उद्धव और उसे एक ही माना जा सकता है। ये पात्र आपस में ही एक-दूसरे को सम्बोधन करते हैं और संवाद करते हैं। इनके इस प्रकार के पारस्परिक सम्बोधन और वार्तालाप से इस काव्य में वह सजीवता आ गई है जो दृश्य काव्य में ही देखने को मिल सकती है। इन दोनों शैलियों के अतिरिक्त इस काव्य में अन्योक्ति शैली का भी आश्रय लिया गया है। 'भ्रमरगीत' नाम भी इस शैली के कारण सार्थक प्रतीत होता है। गोपियों ने कुछ विशेष कारणों के वशीभूत होकर उद्धव से सीधे वार्तालाप नहीं किया वरन् एक उड़ते हुए भौंरे को माध्यम बनाकर किया है

अभिव्यंजना सौष्ठव

किसी भी बात का बहुत-कुछ महत्व उसके कहने के ढंग पर निर्भर करता है। कोई साधारण-सी बात भी सुन्दर ढंग से कहने के कारण अत्यन्त आकर्षक और प्रभावशाली बन सकती है। ठीक इसके विपरीत श्रेष्ठ-से-श्रेष्ठ बात यदि ठीक ढंग से नहीं कही जा सकी तो वह नितान्त प्रभावहीन बन जाती है। ठीक यही बात काव्य के क्षेत्र में है। कहने के सुन्दर ढंग को ही अभिव्यंजना सौष्ठव कहते हैं। जहाँ तक इस दृष्टि से सूरकृत भ्रमरगीत का प्रश्न है, निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि इसमें जितनी महान अनुभूतियाँ, भावनाएँ तथा कल्पनाएँ हैं उतना ही कुशल उनका अभिव्यंजना सौष्ठव है। गुप्तजी की 'अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति ही है कला' के आधार पर सूर को एक सच्चा कलाकार कहा जा सकता है। 'भ्रमरगीत' का तो कुछ विषय ही ऐसा है कि यदि उसके वर्णन करने का ढंग सुन्दर न हो तो उसका सारा सौन्दर्य ही धूमिल पड़ जाता। सूर में यह सामर्थ्य बहुत अधिक मात्रा में है, इसलिए उनका काव्य बहुत उच्च श्रेणी का माना जाता है। उन्होंने जो भी भाव जितने प्रभावशाली रूप में कहना चाहा है, वे कह सके हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। कहीं भी उनकी अभिव्यंजना-शक्ति हमें निर्बल नहीं दिखाई देती। भावों की कितने ही स्थानों पर पुनरुक्ति दृष्टिगत होती है किन्तु उनके कहने के ढंग में सदैव नवीनता रहती है। अतः वह पुनरुक्ति, पुनरुक्ति होते हुए भी खटकती नहीं है। पुनरुक्ति भी जब नहीं खटकती तो फिर अभिव्यंजना-सौष्ठव की जितनी प्रशंसा की जाय उतनी थोड़ी। कितने ही उदाहरणों द्वारा सूर की अभिव्यंजना शक्ति प्रमाणित की जा सकती है। पीछे के विवरण में इस शक्ति के प्रमाण के लिए कितने ही उदाहरण खोजे जा सकते हैं।

छन्दोबद्धता

सूरदासजी ने 'भ्रमरगीत' दोहा-चौपाई और पदों में रचा है। उनके दोहा चौपाइयों को देखकर तो यही कहा जा सकता है कि यहाँ उनका मन रमा ही नहीं है। इनमें तो ज्ञान और वैराग्य के ही गीत अधिक मात्रा में गाए गये हैं। विजय यहाँ भी भक्ति की दिखाई गई है। किन्तु यहाँ से वे बहुत ही शीघ्र आगे बढ़ जाना चाहते थे। इस हेतु दोहा-चौपाई जैसे छन्द ही अधिक उपयुक्त थे।

उनका पदों में लिखा हुआ 'भ्रमरगीत' बहुत अधिक लोकप्रिय है। यहाँ संगीत तत्व की प्रधानता होने के कारण आन्तरिक भावों में बहुत अधिक तीव्रता आ गई है। उनके इन पदों की पंक्तियाँ तथा इनकी मात्राएँ कुछ निश्चित नहीं रहती क्योंकि वे राग-रागनियों के आधार पर ही चलते हैं। फलतः भाव-प्रगटीकरण के लिए उनके पास पर्याप्त स्थान रहा है। सम्बोधन-शैली होने के कारण कुछ अन्य असुविधाएँ भी उन्हें नहीं होने पाती। कहा जा सकता है कि छन्दोबद्धता की दृष्टि से सूरदासजी एक परम सफल कलाकार हैं।

चित्रोपमता

चित्रोपमता काव्यकार का एक ऐसा गुण है कि जिसके द्वारा वह परिस्थिति एवं मानसिक स्थिति का सच्चा चित्र हमारे हृदय-पटल पर अंकित कर सकता है। चित्रोपमता लाने के लिए किसी भी कवि के पास सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति तथा मनोवैज्ञानिक ग्रहणशील दृष्टि का होना आवश्यक है। यदि ये न हो तो फिर वह कैसे समझ सकता है कि कौनसी बातें उसे बिल्कुल उसी रूप में चित्रित करनी हैं और कौनसी नहीं ?

किसी भी काव्य में चित्रोपमता का विवेचन करने के लिए बाह्य-दशा-चित्रण तथा आन्तरिक भाव चित्रण दोनों चित्रणों को देखा जाता है। 'भ्रमरगीत' में आकर्षक चित्रोपमता का प्रभाव कहीं भी दृष्टिगत नहीं होता। दोनों ही क्षेत्रों में अद्भुत चित्रोपमता दिखाई देती है। सूर में अद्भुत सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति भी है और ग्रहणशील मनोवैज्ञानिक दृष्टि भी। 'भ्रमरगीत' क्योंकि सलाप शैली में रचा हुआ है इसलिए उसमें बाह्य दशा के चित्रण के लिए अधिक स्थान नहीं है। किन्तु तो भी जो चित्रण हुआ है वह अत्यन्त स्वाभाविक है। उद्धव के ब्रज-आगमन पर गोपियों की उत्सुकता की जो व्यंजना सूर ने की है, उसका यहाँ प्रस्तुत करना ही उदाहरणों की दृष्टि से पर्याप्त होगा—

> 'धाई सब गलगाजि कै ऊधो देखे जाय।
> लै आई ब्रजराज पै, आनंद उर न समाय॥
> अरघ आरती, तिलक, दूब, दधि माथे दीन्हीं।
> कंचन कलस भराय आनि परिकरमा कीन्हीं॥'

भाव-चित्रणों का तो इस काव्य में ढेर लगा हुआ है। पीछे भाव-पक्ष के वर्णन के अन्तर्गत दिये गए उदाहरण यद्यपि इस कथन की पुष्टि के लिए पयाप्त हैं

किन्तु यहाँ भी एक उदाहरण दे देना न्यायसंगत ही रहेगा। गोपियों के अन्तर की निराशा निम्न शब्दों में, देखिए कितने सुन्दर एवं स्वाभाविक ढंग से वर्णित है—

> 'ऊधो ! अब नहीं स्याम हमारे।
> मधुबन, बसति बदलि से गे वे, माधव मधुप तिहारे ॥'

अलंकार योजना

इस बात से तो सभी सहमत हैं कि अलंकार का काव्य क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण स्थान है। वादविवाद इस बात पर रहा है कि इनका काव्य में किस मात्रा में प्रयोग हो ? विभिन्न प्रकार के वादविवादों के पश्चात् जो निर्णय अधिकांश विद्वानों की राय में ठीक रहा है, वह यह है कि *अलंकार काव्य के लिए कोई आवश्यक वस्तु नहीं है।* आवश्यक तो है रस। किन्तु काव्य की शोभा बढ़ाने के लिए इनका प्रयोग वांछनीय है। काव्य की शोभा बढ़ाने वाले धर्मों को ही अलंकार कहा जाता है। अतः जहाँ तक इनसे काव्य की शोभा बढ़े, वहाँ तक तो इनका प्रयोग ठीक है। किन्तु जब उनसे कविता-कामिनी के सौन्दर्य को कुछ हानि पहुँचने लगे तो इनका प्रयोग वर्जित है। अतः निष्कर्ष यह है कि जानबूझ कर हम अलंकारों को बिलकुल निकाल फेंककर न तो अपनी हठधर्मी ही दिखावें और न इन्हें ही काव्य का मेतना मानकर कविता-कामिनी का गला घोट दें।

सूर-काव्य में अलंकारों का एक अक्षय भण्डार है और कहीं-कहीं एक-दो स्थानों पर इनकी भरती करने का प्रयास भी दृष्टिगत होता है किन्तु ऐसे स्थान अपवाद मात्र ही कहे जा सकते हैं। जहाँ कहीं उन्होंने ऐसा किया है वहाँ किसी विशेष रचना करने के कारण जैसे दृष्टिकूट के पद। किन्तु अधिकांश में तो उनकी भावनाओं का ही सागर उमड़ता देखा जाता है। वास्तव में तो बात यह है जब अनुभूतियाँ तीव्र होती हैं तो इन इधर-उधर की बातों के लिए कवि के पास न तो समय रहता है और न स्थान। कवि-समुदाय बुरा न माने तो मैं यह कहता हूँ कि अलंकारों आदि पर तो वे ही अधिक ध्यान देते हैं जिनके पास भावनाओं का अभाव रहता है।

सूरकृत भ्रमरगीत एक व्यंग्य प्रधान काव्य होने के कारण यद्यपि तुलनात्मक रूप में कुछ अधिक अलंकारों से सुसज्जित है किन्तु यह निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि इस काव्य में प्रयुक्त अलंकार सुन्दर एवं स्वाभाविक ढंग में ही है। वे भावों का उत्कर्ष दिखाते हैं तथा वस्तुओं का रूप, गुण और क्रिया का तीव्र अनुभव कराते हैं। यही अलंकारों के प्रयोग करने का प्रयोजन होता है। सूर-काव्य में अलंकार प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं किन्तु क्या कोई कह सकता है कि वे बरबस लाये हुए से प्रतीत होते हैं। क्या कोई कह सकता है कि उनसे काव्य का सौन्दर्य कहीं कम हुआ है ? उनसे काव्य की शोभा बढ़ी ही है। घटी कहीं नहीं है।

अन्योक्ति को भी कुछ विद्वान अलंकार मानते हैं। हमने यद्यपि इसे शैली के अन्तर्गत ही ले लिया है किन्तु यदि हम विषय में यहाँ भी कुछ कहना चाहें तो स्पष्टतः कहा जा सकता है कि यही वह अलंकार है जो सूरकृत 'भ्रमरगीत' में सबसे अधिक

प्रयुक्त हुआ है। इस काव्य में प्रयुक्त शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, यमक, श्लेष तथा अनुप्रास ही प्रचुर मात्रा में प्रयोग में आये हैं। कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं—

सांगरूपक—

कानन-देह बिरह-दव लागी, इन्द्रिय जीव जरो।
बूझे स्याम-घन कमल-प्रेम मुख, मुरली-बूंद परो॥

उपमा—

जोग हमें ऐसो लागति ज्यों तोहि चंपक फूल।

अनुप्रास—

बद ये बदराऊ बरसन आए।

उत्प्रेक्षा—

कहियो नंद कठोर भए।
हम दोऊ बीरें डारि पर-घरै मानो थाती सौंपि गए॥

यमक—

निरखत अंक स्याम सुन्दर के बार-बार लावति छाती।
लोचन जल कागद मसि मिलि के ह्वै गई 'स्याम-स्याम' की पाती॥

श्लेष—

तेहि निर्गुन, गुनहीन गुनैबो, सुनि सुन्दरि अनखात।

दृष्टान्त—

ज्यो मन माने की बात।
दाखि-छुहारा छाँडि अमृत फल विष कीरा विष खात॥

स्पष्ट है कि सूरकृत भ्रमरगीत का कलापक्ष भी अत्यन्त उत्कृष्ट है। निःसंदेह कहा जा सकता है कि सूर महाकवि थे और उनके भ्रमरगीत में काव्य के दोनों पक्ष भावपक्ष तथा कलापक्ष चरमोत्कर्ष पर पहुँचे हुए हैं।

रस-योजना

इसमें कोई सन्देह नहीं कि भावों की कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती किन्तु तो भी बहुत समय से काव्य के प्रत्येक पक्ष का आलोड़न विलोड़न हुआ है और विद्वानों ने भावों की कुछ निश्चित संख्या ज्ञात करने का प्रयास किया है। अलंकार शास्त्रियों ने कुल नौ भाव माने हैं जिनसे प्राप्त होने वाले अलग-अलग प्रकार के आनन्द को नवरस की संज्ञा दी है। ये नौ भाव स्थायीभाव कहलाते हैं। स्थायी कहलाने का इनका एक मात्र कारण यह है कि ये भाव विशेष पर्याप्त समय तक प्रवाहित होते रहते हैं। इन भावों के अतिरिक्त कुछ अन्य स्पष्ट मानसिक दशाएं आती-जाती रहती हैं जो संचारीभाव के नाम से प्रसिद्ध हैं। संचरणशील इन मानसिक स्थितियों का चित्रण स्थायीभाव के संदर्भ में हा किया जाता है। दूसरे शब्दों में इन्हें स्थायीभाव का सहायक कहा जा सकता है।

नवरसों, समस्त स्थायीभावों तथा संचारीभावों आदि की गिनती न गिन कर यहाँ इस प्रसंग में इतना कहना ही पर्याप्त है कि इन नवरसों में शृंगार रस सर्व प्रमुख रस माना जाता है। इसका स्थायीभाव रति है। शृंगार के दो पक्ष होते हैं—संयोग और वियोग। 'भ्रमरगीत' में जिसकी रस-योजना पर हम यहाँ विचार करने वाले हैं, वियोग शृंगार तथा अप्रत्यक्ष रूप से शांत रस की ही प्रधानता है। 'भ्रमरगीत' का विरह 'प्रवास' के अन्तर्गत आता है। कृष्ण का कार्यवश बाहर चला जाना गोपियों की विरहोत्पत्ति का कारण बन जाता है तथा पुनः लौटकर न आना 'प्रवास' करुणात्मक विरह की सीमा तक ले जाता है। किन्तु यहाँ करुण के साथ मिलन की असम्भव आशा भी है और उसके साथ रति का भाव भी। अतः भ्रमरगीत को करुणात्मक वियोग शृंगार का काव्य कहना ही अधिक उपयुक्त जान पड़ता है।

कुछ भी हो यह निश्चित-सा ही है कि 'भ्रमरगीत' मुख्य रूप से विप्रलम्भ शृंगार से ही सम्बन्ध रखने वाला काव्य है। करुणा, भक्ति और प्रेम भी विप्रलम्भ के ही अन्तर्गत लिये जा सकते हैं। कारण, भक्ति और प्रेम शृंगार के ही अंग माने जाते हैं। कृष्ण और गोपियाँ आलम्बन के रूप में उद्धव के द्वारा लाई गई प्रेम-पत्रिका तथा उनका योग-सन्देश उद्दीपन के रूप में लिये जा सकते हैं।

आओ, अब हम 'भ्रमरगीत' के मुख्य रस विप्रलम्भ शृंगार पर पूर्णरूप से विचार कर लें। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'भ्रमरगीतसार' की भूमिका में इस विषय में लिखा है कि "वियोग की जितनी अन्तर्दशायें हो सकती हैं, जितने ढंगों से उन दशाओं का साहित्य में वर्णन हुआ है और सामान्यतः हो सकता है वे सब उसके भीतर मौजूद हैं।" पं० शुक्ल का यह कथन सर्वांश में सही है। वियोगावस्था में दस दशायें मानी जाती हैं—अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, जड़ता, व्याधि, मूर्च्छा तथा मरण। इन दसों दशाओं का वर्णन सूरकृत 'भ्रमरगीत' में प्राप्त हो जाता है। प्रत्येक का उदाहरण दृष्टव्य है—

(१) अभिलाषा—

ऐसे समय जो हरिजू आवहिं।
निरखि निरखि वह रूप मनोहर बहुत सुख पावहिं॥

(२) चिन्ता—

हमको सपनेहु में सोच।

(३) स्मरण—

मेरे मन इतनी सूल रहीं।
वे बतियाँ छतियाँ लिखि राखीं जे नंदलाल कहीं॥

(४) गुणकथन—

एहि बोरियाँ बन ते ब्रज आवते।
दूरहि ते दर वेनु अधर धरि बारम्बार बजावते॥

(५) उद्वेग—

तिहारी प्रीति किधौं तरवारि।
दृष्टि धार करि मारि साँवरे, घायल सब ब्रज नारि।

(६) प्रलाप—

सखि मिलि करौ कछुक उपाउ।
मार मारन चढ्यौ बिरहिनि निदरि पायौ दाउ॥

(७) जड़ता—

परम बियोगिनी सब ठाढ़ी।
ज्यौं जल हीन दीन कुमुदनि बन रवि प्रकास की डाढ़ी॥
जिहि बिधि मीन सलिल ते बिछुरैं तिहिं अति गति अकुलानी।
सूखे अधर न कहि कछु आवे बचन रहित मुख बानी॥

(८) व्याधि—

बिनु गोपाल बैरिन भई कुंजैं।
तब ये लता लगति अति सीतल अब भई बिषम ज्वाल की पुंजैं॥

(९) मूर्च्छा—

सोचति अति पछताति राधिका मूर्छित धरनि ढही।
सूरदास प्रभु के बिछुरे ते बिथा न जाति सही॥

(१०) मरण—(मरणासन्न दशा)—

हरि संदेस सुनि सहज मृतक भई, इक बिरहिनि दूजे अलि जारी॥

इन दशाओं के अतिरिक्त काव्यशास्त्र में प्रवास-विरह की दस स्थितियों का भी वर्णन प्राप्त होता है। वे सब भी इस 'भ्रमरगीत' में प्राप्त हैं—

(१) असौष्ठव तथा मलिनता—

अति मलीन वृषभानु कुमारी।
हरि स्रमजल अंतर तनु भीजे ता लालच न धुआवति सारी॥

(२) सन्ताप—

ऊधो। यहै बिचार गहौ।
कै तन गए भलो मानैं, कै हरि ब्रज आय रहौ।
कानन-देह बिरह-दव लागी इन्द्रिय जीव जरौ।
बुझै-स्याम-घन कमल प्रेम-मुख मुरली बूँद परौ॥

(३) कृशता—

ऊधो इतनी कहियो जाय।
अति कृसगाते भई हैं तुम बिन बहुत दुखारी गाय॥

(४) पाण्डुता—

ऊधो! जो हरि हितू तिहारे।
तो तुम कहियो जाय कृपा कै जे दुख सबै हमारे॥

तन तरुवर ज्यों जरति विरहिनी तुम दव ज्यों हम जारे।
नहिं सिरात, नहिं जरत छार ह्वै सुलगि सुलगि भए कारे॥

(५) अरुचि—

बिन गोपाल बैरिन भई कुंजें।

(६) मधुरति—

दूर करहु बीना कर धरिबो।
मोहे मृग नाहीं रथ हाँक्यो, नाहिंन होत चंद को ढरिबो॥
बीती जाहि पै सोई जानै, कठिन है प्रेम पास को परिबो।
जबते बिछुरे कमल नयन, सखि, रहत न नयन-नीर को गरिबो॥

(७) विवशता—

लरिकाई को प्रेम, कहो अलि, कैसे करि कै छूटत ?

(८) तन्मयता—

नयनन नन्दनन्दन ध्यान।

(९) उन्माद—

निरमोहिया सों प्रीति कीन्हीं काहे न दुःख होय ?
कपट करिकरि प्रीति कपटी लै गयो मन गोय॥

(१०) मूर्छा तथा मरण—

'हरि संदेस सुनि सहज मृतक भई इक विरहिन दूजे अलिजारी॥'

उपर्युक्त दशाओं एवं स्थितियों के उदाहरण इस बात के स्पष्ट साक्षी हैं कि सूरदास जी ने विप्रलम्भ शृंगार का पूर्ण एवं स्वाभाविक चित्रण प्रस्तुत किया है।

स्थायीभाव के अतिरिक्त अन्य मानसिक स्थितियों के चित्रण के साथ-साथ पूर्ण एवं सम्यक् चित्रण के लिए यह भी आवश्यक है कि भाव तीव्रता की रक्षा का पूर्ण प्रयत्न किया जाय। सूरकृत 'भ्रमरगीत' में यह विशेषता भी विद्यमान है। जिस प्रकार राकापति को देखकर सागर उछाल भरता है। उसी प्रकार सूर के विप्रलम्भ शृंगार वर्णन के अन्तर्गत नाना भावों के घात-प्रतिघात अपनी पूर्ण तीव्रता के साथ व्यक्त हैं। वस्तुतः भावों की विविधता तथा तीव्रता इन दोनों ही तत्वों की रक्षा सूर ने बहुत अधिक की है। सारे मध्यकालीन साहित्य में जायसी, मीरा तथा सूर का विरह-वर्णन ही महान हो सका है। किन्तु जायसी में भी भाव वैविध्य का अभाव है और भाव-तीव्रता को अतिशयोक्ति पद्धति होने के कारण अस्वाभाविकता आ गई है। किन्तु, हाँ तीव्रता की दृष्टि से मीरा का स्थान बहुत ऊँचा है। कहें तो कह सकते हैं कि कहीं-कहीं तो वे सूर से भी आगे हैं। किन्तु सूर ने जो व्यंग्य एवं विनोद के आवरण में छिपाकर गोपियों की 'कसक' का प्रगटीकरण किया है वह जायसी तथा मीरा दोनों में अप्राप्य है। सूर की गोपियाँ जब उपेक्षा, विश्वासघात तथा अप्रत्याशित एवं अन्तहीन वियोग से उत्पन्न सारे विष को पीकर मुस्कराती हैं तो संसार का सारा ज्ञान-विज्ञान भी उनकी इस मुस्कराहट पर न्यौछावर हो जाता है। क्या कोई दिखा ... है सूर जैसा यह आँसू और मुस्कराहट का एक साथ संयोग ?

वास्तव में सूर विप्रलम्भ शृंगार के क्षेत्र में अपनी तुलना नहीं रखते। उनका विरह-वर्णन अन्तहीन सागर की उदात्तता की भाँति आनन्ददायक है। वस्तुतः विस्तार भी अपने में आकर्षक होता है क्योंकि वह हमारी दृष्टि की लघुता पर विजय पाकर हमारी क्षति पूर्ति कर देता है। किन्तु विस्तार और सुन्दरता दोनों एक झील में होते हैं। किन्तु झील और महासागर में तो पृथ्वी-आसमान का अन्तर है। यही अन्तर अन्य विस्तारवादी कवियों और सूर के विरह-वर्णन में है। सूरकृत भ्रमरगीत की सी गहराई तथा विस्तार अन्यत्र अप्राप्य है।

इस प्रकार हमने देखा कि सूरकृत भ्रमरगीत मुख्यतः विप्रलम्भ शृंगार से ही सम्बन्धित काव्य है और इस रस का पूर्ण एवं सम्यक् चित्रण इसमें प्राप्त होता है किन्तु सागर में जिस प्रकार एकरूपता नहीं रहती उसी प्रकार सूर के विरह-वर्णन में एक ही रतिभाव का वर्णन होते हुए भी कोटिशः भावलहरियों की टकराहट सुनने को मिलती है।

गेयात्मकता

प्रारम्भ से ही संगीत काव्य का एक आवश्यक उपादान माना जाता रहा है। वस्तुतः संगीत और काव्य का बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिस प्रकार साहित्य और अभिनय के सम्मिलन से नाटक की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार साहित्य और संगीत के मिश्रण से कविता का जन्म होता है। संगीत की सुदृढ़ नींव पर ही भावनाओं का विशाल कलात्मक भवन खड़ा किया जा सकता है। यदि हम हृदयगत भावनाओं को काव्य की आत्मा मानें। भाषा को उसका शरीर कहें, कलात्मकता को उसके वस्त्राभूषण की संज्ञा दें तो निश्चित है कि संगीत को उसके नेत्र मानना चाहिये। अतः संगीत से रहित किसी रचना को काव्य कहना अनुपयुक्त है। यदि इस प्रकार की रचना को कोई काव्य की ही संज्ञा देना चाहे तो हमारा निवेदन है कि वह इससे पूर्व 'नेत्रविहीन' विशेषण और जोड़ दे अर्थात 'नेत्रविहीन कविता' ही कहे।

सूरकृत 'भ्रमरगीत' में संगीत तत्व की विवेचना से पूर्व यदि हम उन प्रमुख तत्वों को जान लें जो किसी भी काव्य में गेयात्मकता के सफल आयोजन के लिए आवश्यक है, तो उचित ही रहेगा। ये तत्व निम्नलिखित हैं—

१ मधुर और हृदयग्राही भाव।
२. आकर्षक एवं सरल अभिव्यंजना।
३. संक्षिप्तता किन्तु पूर्णता।
४. कोमल शब्दावली।
५. गेयत्व।

इन्हीं तत्वों के आधार पर अब हम सूरकृत भ्रमरगीत की गेयात्मकता पर प्रकाश डालेंगे।

प्रस्तुत भ्रमरगीत जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है गीति-शैली में ही लिखा हुआ एक काव्य है। सूरदास जी की जीवनी से भी यह स्पष्टतः विदित हो जाता है

कि वे न केवल सहृदय और भावुक कवि ही थे अपितु संगीत-शास्त्र के भी वे मर्मज्ञ ज्ञाता थे। इतना ही नहीं वे स्वयं बहुत अच्छा गाते थे। भ्रमरगीत ही क्या, उनका समस्त सूरसागर गेयात्मक है। महात्मा सूरदास की इस दृष्टि से जो अद्वितीय विशेषता रही है वह यह है कि वे पहले विषय वस्तु की आत्मा में प्रवेश करते हैं और तब स्वर-संयोजन का कार्य करते हैं। इन दोनों ही क्षेत्रों पर सूर का व्यापक अधिकार दिखाई देता है। वस्तुतः उनके व्यक्तित्व और कृतित्व दोनों में उनके इस विषय के अधिकार का कुछ ऐसा समन्वय हो गया था कि उनके मुख से निकलने वाला प्रत्येक अनुभूतिपूर्ण शब्द नाद-सौन्दर्य से समन्वित होता था और साथ ही उनके प्रत्येक स्वर से उनकी आन्तरिक गहनतम भावनाएँ ही प्रकट हो उठती थीं। उनके संगीत में प्रवीण होने के कुछ अन्य कारण भी बने। सर्वप्रथम और सर्वप्रमुख तो यही कि उन्हें श्री आचार्य जी ने जो कार्य श्रीनाथ के मन्दिर का सौंपा था वह कीर्तन का कार्य था। उसमें उन्हें नित्य गेय पदों की आवश्यकता रहती थी। वे झूम-झूमकर मन्दिर में गीत ही गाया करते थे। दूसरा कारण यह था कि वे सच्चे भक्त थे। भक्त के लिए तन्मयता की स्थिति प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है और तन्मयता प्राप्त करने के लिए संगीत से अधिक मधुर एवं उपयुक्त साधन और कोई हो नहीं सकता। संगीत गायक को भी तन्मय कर देता है तथा सुनने वालों को भी। आज का काल गीति-काव्य का काल है। आज हिन्दी में गीतिकारों की वर्षा हो रही है। किन्तु आज के इन गीतिकारों में कितने ऐसे हैं जो गीतों की स्वर-रचना उनकी आत्मा को परख के पश्चात् करते हैं। कहें तो कह सकते हैं कि इनमें से अधिकांश केवल अपने गले तथा किसी सुन्दर सी प्रतीत होने वाली धुन के आधार पर ही संगीत तत्व की सृष्टि करने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं। वस्तुतः सूर जैसा काव्य और संगीत का समन्वय अन्यत्र नहीं दिखाई देता।

आओ, अब उपर्युक्त तत्वों की दृष्टि से भी परख कर लें। प्रस्तुत भ्रमरगीत विप्रलम्भ शृंगार का काव्य है। वेदना और वियोग ही इस काव्य का विषय है। जब हम मधुर और हृदयग्राही भावों की दृष्टि से इस पर विचार करते हैं तो हमें एक अंग्रेज कवि की 'Our sweetest songs are those which tell our saddest thoughts' नामक सर्व प्रसिद्ध उक्ति बरबस स्मरण हो आती है। अंग्रेज कवि की ही क्यों, आधुनिक काल के हिन्दी के प्रसिद्ध कवि पन्त जी की निम्न पंक्तियाँ भी साथ ही हमारी स्मृति में प्रवेश कर जाती हैं—

> वियोगी होगा पहला कवि,
> आह से उपजा होगा गान।
> निकलकर आँखों से चुपचाप,
> बही होगी कविता अनजान॥

इन पंक्तियों के उद्धृत करने के पश्चात् क्या आवश्यकता रह जाती है यह कहने की कि सूर कृत भ्रमरगीत में मधुर और हृदयग्राही भाव है। विरह और आँसुओं

का चोली दामन का साथ है और जहाँ आँसू हों वहाँ मधुर और हृदयग्राही भाव न होंगे तो और क्या होगा ? यदि आँसुओं का भी प्रभाव न पड़ा तो फिर और क्या हँसने का पड़ेगा ? फलतः भ्रमरगीत के भावों में जितनी मधुरता है, उतनी ही स्वाभाविकता एवं संवेदनशीलता भी है और वह बिना किसी बाहरी आधार के हृदय पर अपना पूर्ण अधिकार जमा लेने में पूर्णतः समर्थ है।

किन्तु क्या भावों की मधुरता तथा हृदयग्राहिता ही किसी काव्य की सफलता के लिए पर्याप्त है ? नहीं, यह बात नहीं है। जब तक इन भावों की इन्हीं के अनुरूप आकर्षक अभिव्यंजना न होगी तब तक इनका प्रभाव पूर्णता के साथ नहीं पड़ सकता सूर कृत इस काव्य में जहाँ मधुर और हृदयग्राही भाव हैं वहाँ इन्हीं के अनुरूप आकर्षक अभिव्यंजना भी है। कुछ अधिक उदाहरण न देखकर लीजिए आप निम्न पंक्तियों को ही देख लीजिए, आप कितने प्रभावित होते हैं—

"निरखति अंक स्याम सुन्दर के बार-बार लावति छाती।
लोचन जल कागद मसि मिलिकै ह्वै गई स्याम-स्याम की पाती॥"

यहाँ एक बात को कुछ और अधिक स्पष्ट कर देना चाहते है। मान लीजिये किसी काव्य में मधुर एव हृदयग्राही भाव हैं और साथ ही आकर्षक अभिव्यंजना-शैली भी किन्तु यदि सरलता नहीं है, गूढ़ता है तो संगीत के प्रवाह में बाधा पड़ जायगी। श्रोता अथवा पाठक जब उसे समझेगा ही नहीं तो पूर्णतः रस विभोर कैसे हो सकता है ? अभिव्यक्ति की यह सरलता 'भ्रमरगीत' में सर्वत्र लक्षित है। एकाध स्थान पर यदि कहीं दुरूहता मिल भी जाती है तो उसे चमत्कार प्रदर्शन ही समझना चाहिए। अर्थ की गूढ़ता इन स्थानों पर भी नहीं मिलेगी। अभिव्यक्ति की इस सरलता के भी कुछ उदाहरण देखिए—

मेरे मन इतनी सूल रही।
वे बतियाँ छतियाँ लिखि राखी जे नन्दलाल कही॥
× × × ×
निसि दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहति पावस ऋतु हम पै जबते स्याम सिधारे॥

मधुर एवं हृदयग्राही भाव तथा आकर्षक एवं सरल अभिव्यंजना के अतिरिक्त संक्षिप्तता भी गीति-काव्य की सफलता के लिए आवश्यक है। संक्षिप्तता से हमारा तात्पर्य यह है कि रचना में व्यर्थ का विस्तार न हो। जहाँ एक ओर एक ही पंक्ति को घण्टों घुमाने वाले गने बाजों का संगीत मन को उबा देता है वहाँ दूसरी ओर लम्बे-चौड़े वर्णनों वाला व्याख्यान भी संगीत की स्वाभाविकता तथा आकर्षण को नष्ट कर देता है। अतः गीति काव्य में संक्षिप्तता होनी ही चाहिए। किन्तु साथ ही उसमें पूर्णता का भी अभाव नहीं होना चाहिए। संक्षिप्तता के चक्कर में यदि पूर्णता का अभाव हो गया तो भी बात बिगड़ जाती है। वास्तव में इस प्रकार की रचना को इतना सधा हुआ बनाना पड़ता है कि न तो विस्तार हो न और पूर्णता में कमी।

'भ्रमरगीत' में हमें गेय गुण स्पष्टतः दिखाई देता है। इसके लगभग सभी पद गतिमत्ता तथा पूर्णता दोनों गुणों से सम्पन्न हैं।

वैसे तो कठोर शब्दों में कड़कते हुए ओजों से संगीत की भी उत्पत्ति हो ही सकती है किन्तु मुख्य रूप से संगीत माधुर्य का ही प्रतीक है। माधुर्य आखिर माधुर्य ही है और कठोरता कठोरता ही। संगीत और माधुर्य का जो निकट का सम्बन्ध है वह संगीत और कठोरता का नहीं। मधुर एवं कोमल शब्दों से अपने आप संगीत टपकने लगता है। प्रस्तुत काव्य में सर्वत्र कोमल कान्त पदावली ही देखने को मिलती है। एक तो ब्रज भाषा स्वयं प्रकृत रूप में कोमल एवं मधुर है। दूसरे साथ में फिर संगीतमय ध्वनि तो फिर कोमलता और मधुरता का अभाव कैसा? व्यंग्य और उपालम्भ आदि के कटु वचनों में जहाँ कठोर शब्दावली का आना कुछ स्वाभाविक न कहलाता, वहाँ भी कठोर शब्दावली नहीं मिलती। इतना ही नहीं नीरस विषय का कथन करने वाले उद्धव के वचनों में भी कोमलकान्त पदावली के ही दर्शन होते हैं—

'सुनि गोपी हरि को संदेस।
करि समाधि अंतरगत चितवौ प्रभु को यह उपदेस॥'

अब रही बात गेयत्व की। गेय का शाब्दिक अर्थ है गाये जा सकने योग्य। संगीत का यह एक सर्वप्रमुख तत्व है। इसके लिए रचना में शब्दों की व्यवस्था कुछ इस प्रकार होनी चाहिए कि जिससे नाद-सौन्दर्य उत्पन्न हो जाय। मात्राओं तथा विराम स्थलों का एक निश्चित क्रम होना चाहिए। इसके साथ ही तुक की उपस्थिति भी बहुत अनिवार्य है। यदि ये बातें नहीं होंगी तो गायक एक निश्चित धुन में गीत को नहीं गा सकेगा। सूर कृत भ्रमरगीत के पदों में ये सब बातें सहज रूप में प्राप्त हैं। किन्तु इस काव्य के पदों के विषय से इस दृष्टि से एक बात अवश्य उल्लेखनीय है। वह बात यह है कि इन पदों के गेयत्व का आधार यात्रा का काल्पनिक आनन्द है किन्तु यह सभी जानते हैं कि प्रकृति का उसका आदि सम्बन्ध भावना का था, आजकल की भाँति बुद्धि का नहीं।

भारतीय काव्य-परम्परा में प्रकृति का स्थान सदैव से ही महत्वपूर्ण रहा है। हमारे यहाँ शास्त्रों में प्रकृति का निरूपण काव्य के लिए एक आवश्यक अंग माना गया है। चाहे कोई काव्यकार नाम परिगणना ही कर दे, किन्तु उसका प्रवेश होना आवश्यक ही है। इस प्रकार यह आग्रह चाहे कुछ व्यक्तियों को अतिवादी प्रतीत होता हो किन्तु यह नितान्त सत्य है कि काव्य में इसके प्रवेश से सुन्दरता की वृद्धि अवश्य होती है।

सूर कृत इस 'भ्रमरगीत' में हमें प्रकृति का समावेश नितान्त स्वाभाविक दिखाई देता है। इसके सारे पात्रों का पालन-पोषण ही प्रकृति की सुखद गोद में नहीं हुआ अपितु उनकी भावनाओं तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों का विकास भी इसी की छाया में हुआ है। कृष्ण और गोपियाँ जो इस काव्य के सर्वप्रमुख पात्र कहे जा सकते हैं, उनके स्नेह-सम्बन्धों की आधार भूमि यही प्रकृति ही रही है। वस्तुतः भ्रमरगीत

की पृष्ठभूमि में जिन-जिन तत्वों ने महत्त्वपूर्ण भाग लिया है तो उनमें प्रकृति का ही स्थान सर्वप्रमुख है। यह काव्य जिस भावना को लेकर रचा गया है उसका आधार ही प्रकृति है। कृष्ण की अतीत स्मृति, उद्धव का ब्रज प्रवेश, गोपियों का रुदन, उनकी आकांक्षा और उनके उपालम्भ आदि सभी क्रिया व्यापार प्रकृति के माध्यम से ही स्पष्ट हुए हैं। वस्तुत: यह कहा जाय कि इस काव्य के व्यंग्य आदि से युक्त उपहासात्मक शैली में भावनाओं की जो सुकुमारता आई है तथा उनकी अभिव्यक्ति भी जो इतनी रम्य हो सकी है वह इसी प्राकृतिक पृष्ठभूमि के कारण तो कोई अत्युक्ति न होगी। बौद्धिक कृत्रिमता के स्थान पर जहाँ प्राकृतिक सत्यों एवं हृदय की सहज दशाओं को ही अधिक श्रेयस्कर माना गया हो वहाँ की आधारभूत पृष्ठभूमि प्रकृति के अतिरिक्त और हो भी क्या सकती है? शास्त्रीय राग-रागिनियाँ हैं, सहज निकलने वाली धुन नहीं। इस काव्य में पदों के ऊपर रागों के नाम लिखे हुए हैं जो स्पष्ट रूप में उनके निर्माण का आधार प्रदर्शित करते हैं। अतः सूर के पदों के गेयत्व को स्पष्ट रूप में कोई शास्त्रीय संगीतज्ञ ही देख सकता है। उनमें गेयत्व का आभास सहज रूप से स्पष्ट बोलता नहीं दिखाई देता। वे लोकगीत अथवा आजकल के नये कवियों के गीतों के समान अपनी धुन अपने-आप प्रदर्शित नहीं करते। किन्तु एक बात अवश्य है। सूर के पद जब अपने पूर्ण संगीतमय रूप में गाये जाते हैं तो कौन ऐसा व्यक्ति है जिसका हृदय आप-से-आप न थिरक उठे?

इस प्रकार स्पष्ट है कि सूर कृत भ्रमरगीत में सम्पूर्ण गीति तत्त्व अपने पूर्ण रूप में विद्यमान है। गेयात्मकता की दृष्टि से भी यह काव्य अद्वितीय ही कहा जायगा।

प्रकृति-चित्रण

सच्ची कविता की यदि कोई सर्वाधिक उपयुक्त परिभाषा हो सकती है तो वह यह कि वह मानव की आदि नैसर्गिकता की अभिव्यक्ति है। इस परिभाषा से यह बात स्पष्टतः झलकती है कि मानव और प्रकृति का सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ है। आज जबकि विज्ञान की दृष्टि को चकाचौंध करने वाली उन्नति हो रही है तो चाहे मानव का प्रकृति के विषय में सोचने का व्यवहारिक दृष्टिकोण ही बदल गया है, आज चाहे उसे वह सहचरी के स्थान पर दासी मानने लगा है, आज चाहे 'प्रकृति उसे क्या-क्या आनन्द दे सकती है' के स्थान पर वह यह सोचने लगा है कि वह स्वयं प्रकृति से क्या-क्या आनन्द ले सकता है किन्तु तो भी इस ऐतिहासिक तथ्य से कोई भी असहमत नहीं हो सकता कि वह प्रारम्भ में प्रकृति की गोद में ही पला है। अब चाहे वह चन्द्रलोक की सुखद सैर की कल्पना के आनन्द में मग्न है और चाहे आगे चल कर सूर्यलोक की काव्य में प्रकृति को ग्रहण करने के दो स्वरूप ही सर्वप्रमुख माने जाते हैं—आलम्बन रूप तथा उद्दीपन रूप। आश्रय के अन्तर में जो भाव उठते हैं प्रकृति या तो उनके मूल कारण रूप में आलम्बन विभाव बन कर स्थित होगी अथवा वह उन भावों को उद्दीप्त करने वाली बनेगी और तब यह उद्दीपन विभाव के रूप में समझी जायगी। हिंदी साहित्य में अधिकांश में उद्दीपन रूप में ही प्रकृति का चित्रण होता

पाया है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि रूप कुछ कम शास्त्रीय है। अपने शास्त्री रूप में यह भी एक बहुत पुराना रूप है, किन्तु हिंदी साहित्य में आधुनिक काल से पूर्व इसको महत्ता पूर्ण रूप से स्थापित नहीं हुई थी। उद्दीपन रूप में प्रकृति मानसिक भावों के अनुरूप चित्रित की जाती है। दुःख के समय यदि वह कभी दुःख को अधिक बढ़ा देती है और कभी सहानुभूति भी प्रगट करती प्रतीत है तो सुख के समय वह सुख में वृद्धि करती है। 'भ्रमरगीत' में हमें इसका यही रूप देखने को मिलता है।

'भ्रमरगीत' का वातावरण दुःखपूर्ण है ब्रज का प्रत्येक प्राणी कृष्ण के वियोग से व्यथित है। ब्रज ही क्यों कृष्ण भी ब्रज के वियोग में छटपटाते रहते हैं। प्रकृति सदैव ही उनके भावों को उद्दीप्त करती रहती है। देखिये उनकी वेदना को प्रकृति ने कितना अधिक व्यापक बना दिया है—

ऊधो मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।
हंस सुता की सुन्दर नगरी अरु कुंजन की छाहीं।
वे सुरभी वे बच्छ दोहनी खरिक दुहावन जाहीं।
ग्वाल बाल सब करत कोलाहल, नाचत गहि गहि बाहीं।।
यह मथुरा कंचन की नगरी मनि मुकुताहल जाहीं।
जबहिं सुरत आवत वा सुख की जिय उमगत तनु नाहीं।।

कृष्ण तो जब भी ब्रज की प्राकृतिक भूमि से दूर पहुँच गये थे बेचारी गोपियाँ तो चौबीस घण्टे इसी के मध्य रहती थीं। उनके हृदय की कथित भावनाओं को प्रकृति कितनी उद्दीप्त करती होंगी। इसकी तो कल्पना भी हृदय को कंपा देती है। देखिये ब्रज के कुंज तथा अन्य वस्तुएँ इन बेचारियों के पीछे कैसे हाथ धोकर पड़ गई हैं।

बिन गोपाल बैरिन भई कुंजें।
तब ये लता लगति अति सीतल अब भई विषम ज्वाल की पुंजें।।
बृथा बहति जमुना खग बोलत बृथा कमल फूलें अलि गुंजें।
पवन पानि घनसार संजीवनि दधि सुत किरन भानु भई भुंजें।।

रात्रि के समय चन्द्रमा जो दुनिया को शीतलता प्रदान करता है गोपियों का तो वह भी प्राणों का ग्राहक बन जाता है। उससे त्राण पाने के लिए देखिये वे कितनी व्याकुल होकर सहायता के लिए पुकार रही हैं—

'कोउ, माई ? बरजै या चन्दहि।
करता है कोप बहुत हम ऊपर कुमुदिनी करत अनंदहि।।
कहाँ कुहू, कहँ रबि अरु तमचुर, कहाँ बलाहक कारे।
चलत न चपल, रहत रथ थकि करि बिरहिन के तन जारे।।
निंदित सैल, उदधि पलंग को सापति कमठ कठोरहिं।
देति असीस जरा देवी को राहु केतु किन जोरहिं।।

ये तो खैर चलो, बड़ी-बड़ी वस्तुएँ हैं, शायद छोटी छोटी वस्तुएँ इन

रियों को परेशान न करती हो, चुप ही रहती हो किन्तु नहीं—

"हमारे माई। मोरउ बैर परे।
घन गरजे बरजे नहीं मानत त्यों त्यों रटत खरे।।
करि एक ठौर बीनि इनके पंख मोहन सीस धरे।
याही तें हमही को मारत, हरि को ढीठ करे।।
कह जानिए कौन गुन सखि री हमसों रहत अरे।
सूरदास परदेस बसत हरि ये बनते न टरे।।"

दुःखी व्यक्ति को प्रकृति दुःखी और सुखी को सुखी ही दिखाई दिया करती है। यह भी एक सर्वमान्य तथ्य है। इस दृष्टि में 'कालिन्दी' का एक उदाहरण देखिये—

'सखियत कालिन्दी अति कारी।
कहियो पथिक जाय हरि सों ज्यों भई विरह जुर जारी।।
मनो पलिका पे परी धरनि धंसि तरंग तलफ तनु भारी।
तरवार उपचार चूरमनो स्वेद प्रवाह पनारी।।
बिगलित कच कुस कास पुलिन मनो पंजु कज्जल सारी।
भ्रमर मनो मति भ्रमत चहुँ दिसि, फिरति है अंग दुखारी।।
निसिदिन चकई व्याज बकत मुख, किन मानहुँ अनुहारी।
सूरदास प्रभु जो जमुना गति, सो गति भई हमारी।।'

किन्तु कहीं-कहीं तो प्रकृति बिल्कुल तटस्थ दृष्टि रखे हुए दिखाई देती है। गोपियों के दुःख का उस पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता। वह आज भी पहले के समान ही हरी-भरी बनी हुई है। गोपियों को इस पर आश्चर्यमिश्रित क्रोध होता है और वे कोसने लगती हैं—

'मधुबन तुम कत रहत हरे ?
बिरह बियोग श्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे ?
तुम हो निलज, लाज नहीं तुमको, फिर सिर पुहुप धरे।

किन्तु चाहे वह किसी भी रूप में दिखाई पड़े उसकी सजीवता कभी नष्ट होती नहीं दिखाई देती। वह सदैव ही मानव के समान चेतनाशील और सान्दयुक्त बनी रहती है। उससे मानव के क्रियाकलाप बहुत अधिक प्रभावित होते हैं।

इन उपर्युक्त प्रकारों के अतिरिक्त सूरकृत भ्रमरगीत में प्रकृति का उपयोग दो अन्य रूपों में भी हुआ है—दूत रूप और अलंकार रूप। प्राकृतिक उपादानों को दूत रूप से ग्रहण करके उनके द्वारा प्रिय को सन्देश भिजवाने की परम्परा भारतीय साहित्य के लिए एक पुरानी परम्परा है। पुरानी कहावत है कि हृदय का दुःख प्रकट करने से दुःख हल्का हो जाता है। वास्तव में इससे कुछ शान्ति अवश्य मिलती है। 'मेघदूत' में कालीदास द्वारा मेघ की कल्पना एक इसी प्रकार की कल्पना है। सूर कृत भ्रमर गीत में सारे प्रसंग का आधार ही संदेश-कथन है कृष्ण ने यद्यपि उद्धव को जो एक

मानव-प्राणी है संदेश लेकर भेजा है किन्तु कुछ कारणों से गोपियों ने उत्तर देने के लिए उसे प्राकृतिक उपादान 'भ्रमर' के रूप में ग्रहण किया है दूत-प्रणाली का यह एक विलक्षण प्रकार है।

गोपियों ने कृष्ण के पास पथिको द्वारा अनगिनत संदेश भेजे थे किन्तु न तो कोई उत्तर ही आय। और न उन पथिकों मे कोई लौटकर स्वयं ही। ऐसी स्थिति में उन वेचारियों के पास सहानुभूति और सान्त्वना पाने के लिए प्रकृति के अतिरिक्त अब सहारा ही कौन-सा रह गया? अतः वे अपना सारा हृदय उसी के सामने उंडेल देती हैं और विभिन्न प्राकृतिक उपादानो से प्रार्थना करती हैं कि वे उनका संदेश इनके प्रिय तक पहुँचा दें। एक उदाहरण देखिए—

'दधि सुत जात हो वहि देस ?
द्वारका है स्याम सुन्दर सकल भुवन नरेस।
परम सीतल अमिय तनु तुम कहियो यह उपदेस।
काज आपनो सारि, हमको छाँड़ि रहे विदेस॥
नन्द नन्दन जगत वन्दन धरहु नटवर भेस।
नाथ! कैसे अनाथ छांड्यो कहियो सूर सन्देस॥'

अलंकार रूप में प्रकृति इस काव्य मे दो रूपों मे देखने को मिलती है—अन्योक्ति रूप में तथा उपमान रूप में। अन्योक्ति रूप में तो अधिक विवेचन करने तथा उदाहरण देने की कोई आवश्यकता ही नहीं है क्योंकि सम्पूर्ण भ्रमरगीत ही एक स्पष्ट एवं मुखर अन्योक्ति है।

असीम कोष से उपमा अलंकार के लिए अधिकांश उपमान प्रकृति के ही प्राप्त हो सकते हैं। इस भ्रमरगीत में यह छटा सर्वत्र दर्शनीय है। कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं—

है जो मनोहर बदन चन्द के सादर कुमुद चकोर।
परम तृषारत सजल स्याम घन के जो चातक मोर॥
अब मन भयो सिंधु के खग ज्यों फिरि फिरि सरत जहाजन।'

कुछ और भी अधिक सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो इस काव्य में प्रकृति के कुछ अन्य रूप जैसे उपालम्भ के माध्यम का रूप, सहचरी रूप आदि भी प्राप्त हो सकते हैं। चाहे जितने ही रूप हों इस काव्य के प्रकृति चित्रण के विषय में सामान्य रूप से यही कहा जा सकता है कि इसका आयोजन यहाँ स्वाभाविक रूप में ही हुआ है। इसकी पृष्ठभूमि पूर्ण रूप से प्राकृतिक है और प्रकृति का इसमें अत्यन्त स्वाभाविक एवं सजीव चित्रण है। मुख्य रूप से उद्दीपन रूप में ही यह यहाँ वर्णित है।

चरित्र चित्रण

सूर कृत भ्रमरगीत के पात्रों के चरित्र पर अलग-अलग रूप में दृष्टिपात करने से पूर्व यदि कुछ सामान्य तत्त्वों की ओर संकेत कर दिया जाय तो कोई अनुचित बात न होगी। सर्व प्रथम हमारी दृष्टि इस तथ्य पर पड़ती है कि प्रबन्ध काव्यों के पात्रों

के चरित्र में कार्य व्यापार और घटना वैभिन्य के द्वारा जो विकास, संघर्ष और घात प्रतिघात दिखाया जाता है उसकी सम्भावना भ्रमरगीत के पात्रों के चरित्र में नहीं है। यही नहीं कृष्ण लीला के पात्रों का चरित्र-विकास भावानुभूति का विकास है। सभी पात्र सर्वथा कृष्णमय हैं। वे कृष्ण पर ही पूर्णरूप रूप से निर्भर हैं। उनकी व्यक्ति-विविधता कृष्ण के व्यक्तित्व की भावालम्बन रूप-विविधता पर ही आश्रित है।

चरित्र-चित्रण की आधुनिक शैली में दो शब्दों का अत्यधिक प्रयोग किया जाता है—व्यक्ति तथा प्रतिनिधि। एक तो पात्र ऐसे होते हैं जो अपना व्यक्तिगत महत्त्व ही रखते है वे समाज के किसी वर्ग विशेष का प्रतिनिधित्व नहीं करते। दूसरे जो समाज के किसी वर्ग विशेष का प्रतिनिधित्व करते हैं, व्यक्ति-रूप में चित्रित नहीं होते। इस दृष्टि से यदि हम भ्रमरगीत के पात्रों पर विचार करें तो उनमे ये दोनो ही प्रकार दिखाई पड़ जायेंगे। उनमें एक प्रकार से दोनों ही बातें दिखाई दे जाती हैं। कृष्ण प्रेमी हैं किन्तु कर्त्तव्य से बँधे हुए हैं, उद्धव शुष्क उपदेशक है, कुब्जा एक ईर्ष्यालु स्त्री है तथा राधा और गोपियाँ अनन्य प्रेमिकायें हैं। इस प्रकार ये सब टाइप हुए। किन्तु साथ ही वे सब अपना-अपना विशिष्ट व्यक्तित्व भी रखते हैं। कृष्ण-कृष्ण है, उद्धव-उद्धव हैं तथा राधा और गोपियों की विशिष्टता तो प्रकट है ही। हाँ, कुब्जा नंद और यशोदा का चरित्र अवश्य इतना नहीं खुल पाया है कि उसकी व्यक्तिगत विशेषताओं के विषय मे कुछ कहा जा सके। एक अन्य विशेषता यह है कि इस काव्य के पात्र यथार्थ के आदर्श को नही अपना सके हैं। इसके प्रत्येक पात्र की चारित्रिक विशेषता अपनी चरम सीमा पर पहुँची हुई है। कृष्ण यदि प्रेमी हैं तो उनके प्रेम की सीमा नहीं है। यदि नायक हैं तो सर्वगुण सम्पन्न हैं। कर्त्तव्य परायण हैं तो पूरे संयमी हैं। इस प्रकार गोपियाँ प्रेमिकायें हैं तो असाधारण रूप में अनन्य और कुब्जा ईर्ष्यालु है तो इतनी कि उसकी सौत कही जा सकती है।

एक अन्तिम बात और कहनी है और वह यह है कि इस काव्य के चरित्र रूपात्मक हैं। कृष्ण परमब्रह्म हैं और गोपियाँ जीवात्मा। उनके कथन ईश्वर प्राप्ति के सहज सरल साधना-मार्ग को प्रकट करते हैं।

लीजिये पात्रों पर अब अलग-अलग कुछ विचार कर लें। सर्व प्रथम इस काव्य के सर्वप्रमुख पात्र श्री कृष्ण को लेते हैं जो इस काव्य के नायक हैं। यद्यपि वे प्रत्यक्ष रूप से काव्य में बहुत थोड़ी देर के लिए ही प्रकट होते हैं किन्तु परोक्ष रूप से वे केन्द्र रूप मे स्थित हैं। काव्य में ऐसा कोई स्थान [illegible] जहाँ पर कृष्ण थोड़ी-सी देर के लिए भी विस्मृत किये गये हों। [illegible] की भाँति चंचल एवं माखन चोर [illegible] हैं। ब्रजभूमि के प्रति यद्यपि उनके [illegible] करते हैं। [illegible] होना तथा [illegible] गोपियों की मान्य [illegible] तो हमें गोपियों

की सहज एवं स्वाभाविक भावना के अतिरिक्त और कोई सत्यता नहीं दिखाई देती।

रूप और रंग में मिलते हुए उनके अनन्य सखा हैं उद्धव जी। दोनों के रूप रंग में कुछ इतनी समानता है कि एक बार तो गोपियां भी उन्हें देखकर कृष्ण का भ्रम कर बैठती हैं। यद्यपि वे अपने सखा के प्रति बड़े ईमानदार हैं और न व्रज-भूमि के प्रति कोई अवांछनीय भावना उनके हृदय में दिखाई देती है किन्तु उनका दृष्टिकोण है कुछ विपरीत ही। कुछ भी हो न तो उन्हें खलनायक कहा जा सकता है और न नायक के पक्ष का पृष्ठपोषक ही। तटस्थ भी कहना उचित नहीं प्रतीत होता। वस्तुतः उनकी स्थिति कुछ ऐसी विलक्षण है कि उसके लिए शास्त्रों में भी कोई उप-युक्त शब्द नहीं मिलता। यदि हमें उनके पक्ष से कोई सहानुभूति नहीं है उनसे असहानुभूति करने का भी हमें कोई कारण नहीं दिखाई देता। वे शिष्ट हैं, व्यवहार कुशल हैं और साथ ही अपनी बात को व्यक्त करने में भी पूर्ण रूप से कुशल हैं। किन्तु तार्किकता का अभाव देखकर हमें अवश्य आश्चर्य होता है। इतना बड़ा ज्ञानी उद्धव और तर्कहीन कितने आश्चर्य की बात है ?

पुरुष पात्रों में यद्यपि नन्द गोपादि और हैं किन्तु वे प्रत्यक्ष पात्रों की श्रेणी में नहीं आते। स्त्री पात्रों में गोपियां, राधा, यशोदा और कुब्जा हैं। गोपियां और राधा श्रीकृष्ण से वह अडिग प्रेम करती हैं कि कोई भी तर्क उन्हें इस ओर से नहीं हटा सकता। प्रेम के अतिरिक्त और सब-कुछ उन्हें प्रवंचना प्रतीत होता है। यद्यपि वे अपने प्रेम-मार्ग की बाधाओं को दूर करने के लिए वज्रादपि कठोर दिखाई देती हैं किन्तु आखिर हैं तो अबला नारी ही। विरह उन्हें सन्तप्त कर ही डालता है, विलम्ब उन्हें निराशा के गहरे गड्ढे में डाल देता है और उपेक्षा का आभास उन्हें बिल्कुल मसोस कर फेंकने को तैयार हो जाता है। राधा यद्यपि एक अलग पात्र है और कृष्ण का उसे विशेष स्नेह प्राप्त है किन्तु गोपियों से अलग उसके प्रेम को कुछ विशेषता देना गोपियों के साथ अन्याय ही करना होगा।

गोपियां पूर्ण रूप से व्यवहार कुशल दिखाई देती हैं। वे उद्धव का आने पर सत्कार ही नहीं करतीं उनकी प्रत्येक बात को आदर के साथ सुनती हैं और वे उनके निराकार भगवान की उपासिका भी बनने को तैयार हो सकती हैं यदि समर्थ होतीं और वह उनकी इच्छा के अनुकूल होता। किन्तु जब उनकी बातों से उनके हृदय पर गहरी चोट लगती है तो उनके धैर्य का बाँध टूट जाता है और वे कभी व्यंग्य कसती हैं, कभी तीखे ताने देती हैं तो कभी कटु वचन तक कह डालती हैं।

गोपियों के चरित्र के यदि सामाजिक पक्ष पर हम दृष्टि डालें तो हमें कुछ शंका हो जाती है। जब श्रीकृष्ण के समय में भी भारतीय संस्कृति के आधार पर ही बने हुए सामाजिक नियम प्रचलित थे तो क्या गोपियों का इस प्रकार का पर-पुरुष से प्रेम उचित था ? समाज की शिष्ट दृष्टि में क्या यह उच्छृङ्खलता नहीं है ? क्या यह समाज के नियमों का अवांछनीय उल्लंघन नहीं है ? है और हमारी दृष्टि में अवश्य है। लोगों ने इसको आध्यात्मिकता का चोला पहना कर कुछ संतोषजनक उत्तर

चित ही भीति चित्रकित काढ़्यो कित नभ बांध्यो भोरी ?
कहो कौन पै कढ़त कनूकी, जिन हठि भुसी पछोरी ?

'तुलनात्मक पद्धति' भी उक्ति विदग्धता की एक आवर्षक पद्धति मानी जाती है। इस पद्धति में स्वपक्ष की रमणीयता और प्रतिपक्ष की हीनता का प्रदर्शन किया जाता है। सूर ने भी इस पद्धति का प्रयोग बहुत अधिक मात्रा में किया है। भक्ति-पथ की सरसता तथा योग पक्ष की जटिलता का प्रदर्शन करने में सूर पूर्णतया सफल हुए हैं। एक उदाहरण देखिए—

प्रतिपक्ष—

रूप न रेख, बरन वपु जाके संग न सखा सहाई।
ता निर्गुन सों प्रीति निरन्तर, क्यों निबहै री माई ॥

स्वपक्ष—

मन चुभि रही माधुरी मूरति रोमरोम अरुझाई,
हौं बलि गई सूर प्रभु ताके, जाके स्याम सदा सुखदाई ॥

दृष्टान्त-पद्धति का प्रयोग भी वाग्वैदग्ध्य के लिए बहुत सहायक होता है। इसमें प्रतिपक्षी के विरुद्ध चुन-चुन कर ऐसे दृष्टान्त उपस्थित किये जाते हैं जो लोकानुभव पर आधारित होते हैं। सूर कृत भ्रमरगीत से एक उदाहरण देखिये—

अटपटि बात तिहारी ऊधो, सुनै सो ऐसी कोहै ?
हम अहीर अबला सठ, मधुकर ! तिन्हैं जोग कैसे सोहै ?
बूचिहि खुभी आंधरी काजर, नकटी पहिरे बेसरि।
मुड़ली पाटी पास चाह, कोढ़ी अंगहि केसरि ॥

सूर की गोपियाँ तरह-तरह की बातें गढ़ लेने में भी परम कुशल दिखाई देती हैं। कभी-कभी वे ऐसा मीठा झूठ बोलती हैं कि वचन वैचित्र्य बहुत ही बढ़ जाता है—

काहे को गोपीनाथ कहावत ?
सपने की पहचानि जानि कै। हमहिं कलंक लगावत ॥

कहीं कहीं मिथ्या का सृजन सम्भावनाओं पर भी आधारित दिखाई देता है जिससे काव्य में एक नूतन भंगिमा उत्पन्न हो जाती है—

ऊधो ! जाहु तुम्हें हम जाने।
स्याम तुम्हें ह्यां नाहिं पठाए, तुम हो बीच भुलाने।

सूर की गोपियाँ सामूहिक रूप से अपने पक्ष की श्रेष्ठता के प्रति तो पूर्णतः आश्वस्त हैं अतः वे तर्क का मार्ग नहीं अपनातीं। वे तो उद्धव को विद्रूपित करने में ही कुछ अधिक रुचि प्रदर्शित करती हैं। वस्तुतः विद्रूपीकरण और उपालम्भ इन दो पद्धतियों द्वारा सूर ने भ्रमरगीत की उक्तियों को बहुत अधिक मार्मिक बना दिया है। उपालम्भ में अतीत के प्रेम की याद दिलाई जाती है। प्रिय की उपेक्षा पर व्यंग्य कसे जाते हैं। गलत प्रेम-संदेश पर मन की कटुता एवं कुढ़न व्यक्त की जाती है।

प्रकार की प्रयत्नहीन विदग्धता के दर्शन होते हैं। उदाहरण द्रष्टव्य है—

> हमसो कहत कौन की बातें ?
> सुनि ऊधौ ! हम समुझत नाहीं फिर पूछति है तातें ॥
>
> × × ×
>
> तू अलि कासों कहत बनाय ?

उद्धव को दी गई 'गाली गलौज' भी इस दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। यह 'गाली गलौज' गाली-शास्त्र के अभ्यासी किसी पुलिस-दरोगा का नहीं है, वरन् यह तो प्रेम पर प्रहार देखकर उठने वाला आर्तनाद है। यदि ऐसा न होता तो फिर यह काव्योपयुक्त ही कैसे बन सकता था। एक उदाहरण देखिये—

> 'आयो घोस बड़ो ब्योपारी।
> लादि खेप गुन ज्ञान-जोग की, ब्रज में आय उतारी ॥
> इनके कहे कौन डहकावै, ऐसी कौन अजानी।
> अपनो दूध छाँड़ि को पीवै, खार कूप को पानी।

भ्रमरगीत के वाग्वैदग्ध्य की एक विशेषता यह भी है कि उसमें विविधता मिलती है। एक ही मानसिक स्थिति को कई प्रकार से व्यक्त करने में सूरदास जी बहुत अधिक निपुण कवि हैं। वस्तुतः इस काव्य के अनूठेपन का भी यही एक सर्व प्रमुख कारण है। इन विविध उक्तियों की गणना करना तो एक कठिन कार्य होगा, हाँ कुछ उदाहरण के रूप में अवश्य प्रस्तुत की जा सकती हैं। अपने प्रतिपक्षी को सर्वथा अयोग्य घोषित करके अपने पक्ष की श्रेष्ठता बतलाने की देखिये यह कैसी उत्तम पद्धति है—

> तेरो बुरो न कोऊ मानै ?
> रस की बात मधुप नीरस, सुन, रसिक होत सो जानै।

कहीं कहीं सूर की गोपियाँ 'चुनौती' के रूप में भी अपने पक्ष की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करती हैं। 'चुनौती' का कारण यदि खोजा जाय तो उनका अपनी वस्तु के प्रति दृढ़ आत्मविश्वास ही उसका कारण बना दीखता है। अडिग और निश्चल चित्तवृत्ति अपनी वस्तु को चुनौती के रूप में उपस्थित करने में कभी नहीं घबरा सकती—

> घर ही के बड़े रावरे।
> मोहन मौन वियोग बस परे' अवलोको अलि बावरे।
> भुज भरि आय धरें नहिं निठुरा, सिंह को यही स्वभावरे ॥

कहीं कहीं सूरदास जी ने प्रतिपक्षी के कथन के प्रति अविश्वास अथवा संदेह प्रकट करके भी उक्ति को मार्मिक बना दिया है—

> ऊधो हम अजान मति भोरी।
> कंचन को मृग कौनें देख्यो, कौने बाँध्यो डोरी।
> कहुधौं मधुप ! बारि मथि माखन कौने भरी कमोरी।

सूर के वाग्वैदग्ध्य पर यदि कुछ शास्त्रीय दृष्टि से भी विचार कर लिया जाय तो उपयुक्त ही रहेगा। इसके लिए आचार्य कुंतक के 'वक्रोक्ति' जीवित को जो उक्ति के आकर्षणों का एक मात्र शास्त्र है, सहारा लेना अनुचित न होगा। आचार्य कुंतक के अनुसार वक्रोक्ति का अर्थ है "विचित्र अभिधा" अर्थात "विचित्र उक्ति"। विदग्धता का अर्थ है "कविकर्म कौशल"। उक्ति वैचित्र्य लोक और शास्त्र से भिन्न उक्ति वैचित्र्य है। कुन्तक के अनुसार उसमें सहृदय जनों को आनन्द देने का गुण भी होना चाहिये। अतः कुंतक की वक्रोक्ति केवल शब्द क्रीड़ा अथवा अर्थ-क्रीड़ा नहीं है उसमें रस और भाव भी सम्मिलित हैं। कोरी शब्द अथवा अर्थ क्रीड़ा से सहृदयों को भला आनन्द भी कैसे प्राप्त हो सकता है ?

इस दृष्टि से भी यदि सूर कृत भ्रमरगीत पर विचार किया जाय तो स्पष्टतः कहा जा सकता है कि सूर पूर्णतः सफल कलाकार हैं। कौन कह सकता है कि भ्रमरगीत में कोरी शब्द क्रीड़ा अथवा अर्थ क्रीड़ा ही है ? कौन कह सकता है कि उसमें रस और भाव सम्मिलित नहीं है ? कौन कह सकता है कि उससे सहृदयों को आनन्द प्राप्त नहीं होता ? भ्रमरगीत वाग्वैदग्ध्य का एक सुन्दर एवं उत्कृष्ट उदाहरण है। वस्तुतः वाग्वैदग्ध्य युक्त भ्रमरगीत जैसा काव्य अन्यत्र देखने को नहीं मिल सकता।

सामाजिकता

कृष्ण-भक्त कवियों में प्रायः सभी कवि कृष्ण के रूप-वर्णन में इतने विभोर रहे हैं कि समाज की मर्यादाओं और आवश्यकताओं की ओर उन्होंने ध्यान ही नहीं दिया है। महाकवि सूरदास भी इस परम्परा के अपवाद-रूप में हमारे सम्मुख नहीं आते। तुलसीदास जी की भाँति समाज की मर्यादा तथा आवश्यकताओं का ध्यान उन्हें नहीं था। वे तो वस्तुत. भक्ति में इतने मतवाले थे कि समाज से उनका कुछ सम्बन्ध था ही नहीं। किन्तु ऐसा हुआ क्यों ? सूर ने समाज की आवश्यकताओं की ओर ध्यान क्यों नहीं दिया ?

यदि इस प्रवृत्ति के कारणों पर विचार किया जाय तो मुख्य रूप से दो कारण हमें दिखाई देते हैं। प्रथम तो यह कि सूरदास जी के गुरु श्री वल्लभाचार्य जी स्वयं कृष्ण के बाल तथा युवा रूप के ही उपासक थे। महाभारत के कृष्ण-जीवन को उन्होंने स्पर्श तक नहीं किया। वे तो माधुर्य-भाव के ही उपासक थे। फलतः सूरदासजी भी माधुर्य-भाव के ही उपासक बने। माधुर्य-भाव का उपासक समाज की आवश्यकताओं का ध्यान ही क्या रख सकता है ? उन्होंने तो कृष्ण को रूप की अलौकिक मूर्ति के रूप में ही चित्रित किया है। शील और शक्ति का प्रसार दिखाना सूर का उद्देश्य नहीं था। तुलसी का महत्व इस दृष्टि से अधिक है।

तो क्या कृष्ण के जीवन में राम के समान विविधतायें नहीं थी ? ऐसा नहीं माना जा सकता। उनके जीवन में भी विविधतायें थीं और सम्भवतः राम से अधिक थीं। राम की भाँति वे आरम्भ से ही संघर्ष रत रहे थे। बाल्यावस्था में जितने दानवों का संहार कृष्ण ने किया था शायद राम ने नहीं किया। कृष्ण छोटी सी अवस्था

अन्य के प्रति प्रेम हो जाने से अपनी पीड़ा का प्रकटीकरण तथा प्रिय का उपालम्भ किया जाता है, कभी-कभी प्रिय से पुनः प्रेम करने की मनुहार की जाती है और कभी-कभी अतीत के प्रेम में अपने द्वारा सम्भावित भूलों पर पश्चात्ताप किया जाता है। प्रेमोपालम्भ की इन सब कथन पद्धतियों का प्रयोग सूर कृत भ्रमरगीत में देखने को मिलता है जो पूर्ण कथन वैचित्र्य का ही प्रतीक है। कुछ उदाहरण देखिये—

बरसन पै बदराऊ बरसन आये।
अपनी अवधि जानि, नन्दनन्दन ! गरजि गगन घन छाये॥

× × ×

भूलति हो कत मीठी बातन।
ये अलि है, उनही के संगी, चंचल चित्त, साँवरे गातन।

× ×

उघरि आयो परदेसी को नेहु।
तब तुम कान्ह कान्ह कहि टेरति, फूलति हो, अब लेहु।

वस्तुतः सूर ने भ्रमरगीत में वाग्वैदग्ध्य का सागर ही लहरा दिया है। कहीं वे संदेह पद्धति अपनाते हैं—

ऊधो स्याम सखा तुम साँचे।
कै करि लियो स्वाँग बीचहिं तें, वैसहि लागत काँचे।

तो कहीं भर्त्सना की पद्धति अपना कर विदग्धता की रक्षा करते हैं—

ऊधो ! कही सो बहुरि न कहियो।
जौ तुम हमहिं जिवायो चाहो, अनबोले ह्वै रहियो॥

कभी-कभी तो सूर की गोपियाँ उद्धव को इस प्रकार समझाती दीखती हैं जैसे उद्धव ज्ञान के नहीं मूर्खता के राजा हैं—

ऊधो हम लायक सिख दीजै।
तुमही कहौ यहाँ इतनिन में सीखनहारी को है ?

वाग्वैदग्ध्य में कुब्जा प्रसंग ने भी कुछ कम सहायता नहीं दी है। कहाँ तो कृष्ण का लोकोत्तर रूप और कहाँ कुबड़ी दासी ? प्रेममयी गोपियों के साथ विश्वासघात करने के इनाम में ही शायद कृष्ण को कुब्जा जैसी कुबड़ी मिली है। अच्छा ही हुआ। उन्हें मिलनी भी ऐसी ही चाहिए थी। ऐसा सोच-सोच कर देखिये गोपियों को कितनी सान्त्वना मिल रही है—

अब कै कुब्जा भलो कियो।
सुनि सुनि समाचार, ऊधो मो कछुक सिरात हियो॥
जाको गुन, गति, नाम, रूप, हरि हारयो फिरि न दियो।
तिन अपनो मन हरत न जान्यो, हँसि-हँसि लोग जियो॥
सूर तनिक चन्दन चढ़ाय तन ब्रजपति बस्य कियो।
और सकल नागरि नारिन को दासी दाँव लियो॥

को इससे ठेस पहुँचती है। समाज इससे अव्यवस्था का घर बन जाता है और अनैतिकता की वृद्धि की सम्भावना होने लगती है। राम भक्त कवियों और कृष्ण भक्त कवियों की तुलना इसी कसौटी पर करके लोग राम-काव्य की प्रशंसा करते हैं और कृष्ण-काव्य को दोषयुक्त बताते हैं। महात्मा सूरदास ने तुलसी की भाँति स्वकीया का आदर्श नहीं अपनाया। इन्होंने अपने प्रेम का प्रतीक राधा को बनाया जो एक परकीया स्त्री थी। इनके बाद के कवियों ने तो अपने को ही राधा मानकर अपने हृदय की वेदना कृष्ण के प्रति व्यक्त करनी प्रारम्भ कर दी। परकीया की इस प्रवृत्ति ने कुत्सित एवं समाज-विरोधी भावनाओं को धार्मिक प्रश्रय देकर जो समाज को हानि पहुँचाई उसका शब्दों में वर्णन कर सकना भी बड़ा कठिन है। रीतिकाल का तो नाम याद आते ही हमारा हृदय वेदना से व्याकुल हो उठता है। इस काल मे राधा और कृष्ण को एक साधारण नायिका और नायक के रूप में चित्रित करके जो विपरीत रति तक के कुत्सित चित्र खींचे गये उनको देखकर कौन ऐसा गम्भीर व्यक्ति होगा जो इस परकीया प्रवृत्ति को धिक्कार न उठेगा? इस दृष्टि से तुलसी का महत्त्व सूर से कहीं अधिक है। उन्होंने 'रामचरित मानस' की प्रत्येक पंक्ति समाज की मर्यादा एवं आवश्यकता का ध्यान रखकर लिखी है। तभी तो सीता और राम के चरित्र की दुर्गति करने का साहस किसी में नहीं हो सका। ठीक इसके विपरीत भक्तराज सूरदास कृष्ण-प्रेम की एकांगी साधना में इतने तल्लीन हो गये कि वे समाज पर उसके दूषित एवं अकल्याणकारी प्रभाव की कल्पना भी नहीं कर सके। एकांत मन्दिर में कृष्ण की मूर्ति मे ही उनके लिये तीनों लोकों की सामग्री विद्यमान थी उन्हें बाहरी समाज से न कुछ लेना था और न कुछ देना। समाज से वस्तुतः भक्तराज सूर का कोई मतलब ही नहीं था।

आइये, इस दृष्टि से अब सूर-काव्य की कुछ विस्तार से परीक्षा कर लें। सूर ने कृष्ण के बाल तथा युवक रूप को ही लिया है। उन्होंने राधा और कृष्ण के संयोग और वियोग दोनों के मधुरतम चित्र उतारे हैं। इन चित्रों में जहाँ उनकी तल्लीनता स्पष्ट है वहाँ लोक के प्रति इनकी उदासीनता भी स्पष्ट दिखाई दे जाती है। सम्भवतः उन्होंने तो इस बात की कल्पना भी न की होगी कि उनके इस शृंगार-वर्णन का समाज पर कैसा प्रभाव पड़ेगा? उन्होंने संभवतः यह भी कभी नहीं सोचा होगा कि वे अपनी रचनाओं के द्वारा समय और समाज की आवश्यकताओं को वाणी दे सकते हैं। कृष्ण की बाँसुरी की ध्वनि को सुनकर अपने पति, पुत्र, ससुर, ननद आदि को छोड़कर भागने वाली गोपियाँ समाज पर कितना बुरा प्रभाव डालेंगी, शायद सूर ने कभी नहीं सोचा होगा? भक्ति तथा कवित्व की दृष्टि से लोगों ने सूर की प्रशंसा के पुल बाँध दिये हैं। उनकी लोकप्रियता की प्रशंसा करते करते भी लोग नहीं थकते। उनकी इन प्रशंसाओं में अविश्वास करने की वस्तुतः कोई बात नहीं है। किन्तु यही बात अवश्य है कि इनका काव्य समाज के हित की दृष्टि से अवश्य घातक रहा है। एक पुरुष से चाहे वह परमपुरुष ही सही ब्रज युवतियों का इस प्रकार प्रेम करना

में ही मथुरा चले गये थे और वहाँ उन्होंने कंस आदि अनेक राक्षसों का संहार किया
था। महाभारत के कृष्ण की तो तुलना ही क्या ? वहाँ के कृष्ण की तेजस्वी मूर्ति के
आगे संभवतः कोई नहीं ठहर सकता ? स्पष्ट है कि कृष्ण का जीवन राम से क
विविधता-युक्त नहीं था। कहे तो कह सकते हैं कि उनके जीवन में राम से
अधिक विविधताएँ थीं। किन्तु कृष्ण-भक्त कवियों को इससे कोई प्रयोजन नहीं
उन्होंने तो अपने गुरु के आदेश पर उनका आंशिक जीवन ही ग्रहण किया था।
की आवश्यकताओं की ओर देखने का उनके पास अवकाश नहीं था। वे
प्रेम में मस्त रहने वाले भक्त-कवि थे। उनके काव्य में यदि कहीं लोक-सं
वर्णन कभी देखने को भी मिल जाता है तो उससे ऐसा प्रतीत होता है कि
ओर रुचि ही नहीं है। वे वस्तुतः जिस सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे उसमें कृ
कोमल ही चित्रित किये गये हैं वज्रादपि कठोर नहीं। उनकी भक्ति
यह वैधी-भक्ति नहीं जिसका नीति सदाचार-जैसी लौकिक बातों से हो
भक्ति में तो केवल भक्त के हृदय की तल्लीनता ही वांछित होती है
भक्ति ही सूर के समाज के प्रति उदासीन रहने का सर्वप्रथम का

एक दूसरा कारण और भी है। परम्परा से कृष्ण-चरित्र
में बंध कर चला आ रहा था। जयदेव और विद्यापति का म
रूप से महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने गीति-काव्य में हृदय की
स्वच्छन्द अभिव्यक्ति देकर जिस लोकप्रिय परम्परा का निर्मा
करके उससे अलग चलना कृष्ण कवियों के लिये बड़ा
परम्परा का प्रभाव पड़ा है। उन्होंने भी गीति शैली
वर्णन किया।

भक्ति के क्षेत्र में यह विषय कि जीवात्मा
माना जाय, एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय रहा है।
रही है। सर्वप्रथम लोगों ने जीवात्मा और परमा
रूप में करके आत्मा को स्वकीया पत्नी के रूप में
कवियों में सर्वप्रथम महात्मा कबीर का नाम
हूँ राम की बहुरिया' से स्पष्ट है कि कबीर
किन्तु ईश्वराधना का मार्ग बहुत कठिन मार्ग
अतः यह मार्ग आगे के लोगों को उचित
के सम्बन्ध में परकीया सम्बन्ध की
की तीव्रता अधिक होती
है जिससे यह मार्ग
यह रूप ...
हो गया कि आगे

तबहिं उपंगसुत आय गये।
सखा सखा कछु अंतर नाहीं भरि-भरि अंक लए।।
अति सुन्दर तन स्याम सरीखो देखत हरि पछिताने।
ऐसे को वैसी बुधि होती ब्रज पठवें तब आने।
या आगे रस-काव्य प्रकासे जोग वचन प्रगटावें।
सूर ज्ञान दृढ़ याके हिरदय जुवतिन जोग सिखावें।। (1)

शब्दार्थ—उपंगसुत=उद्धव। अंक=हाथ फैला कर भेंट करना। आने=दूसरों को। नेम=योग के विधि-विधान।

व्याख्या—जब श्रीकृष्ण ब्रज के विषय में चिंतित हो रहे थे तभी उद्धव जी वहाँ आ पहुँचे। दोनों घनिष्ट मित्र थे। दोनों में कोई अन्तर नहीं था। मिलने पर दोनों ने हाथ फैलाकर प्रेमपूर्वक आलिंगन किया। उद्धव जी के शरीर को अपने शरीर के समान ही अति सुन्दर देखकर वे पश्चात्ताप करने लगे। क्या ही सुन्दर होता कि इन्हें भी वह प्रेममार्गीय बुद्धि होती। अच्छा हो यदि इन्हें किसी बहाने ब्रज भेज दिया जाय। इनके सम्मुख यदि रस काव्य अर्थात् प्रेम-भरे वाक्य कहे जायें तो यह योग्य वाक्य बघारना आरम्भ कर देते हैं। सूरदास जी कहते हैं कि कृष्ण ने सोचा वस्तुतः इनके हृदय में ज्ञान की भावना बहुत दृढ है अतः यह ब्रज युवतियों को निर्गुण ब्रह्म की शिक्षा देकर उनका ध्यान मेरी ओर से हटाने में समर्थ होंगे।

विशेष—श्रीकृष्ण जी को प्रेम-मार्ग कितना अच्छा लगता है कि वे उद्धव जी को भी उसी प्रकार की बुद्धि के अभाव में भाग्यहीन-सा समझने लगते हैं। किंतु ठीक इसके दूसरी ओर वह ब्रज जा भी नहीं सकते और उद्धव जी के दृढ़ ज्ञान से प्रभावित होकर ब्रज-युवतियों के कष्ट निवारण तथा अपने कर्त्तव्य पालन को विघ्न रहित बनाने के लिए उन्हें वहाँ भेजने की बात से कुछ आनन्द मिश्रित सान्त्वना प्राप्त करते हैं।

हरि गोकुल की प्रीति चलाई।
सुनहु उपंग सुत मोहि न बिसरत ब्रजवासी सुखदाई।
यह चित होत जाऊँ मैं अबही, यहाँ नहीं मन लागत।।
गोप सुग्वाल गाय बन चारत अति दुख पायो त्यागत।
कहँ माखन-चोरी ? कह जसुमति 'पूत जेंव' करि प्रेम।
सूर स्याम के बचन सहित सुनि व्यापत आपन नेम।। 2

शब्दार्थ—बिसरत=भुला देना। जेंव=भोजन करना। नेम=नियम, मत।

व्याख्या—श्री कृष्ण ने गोकुल के प्रेम का प्रसंग छेड़ा। ब्रज भूमि के प्रति अपने हृदय के अनुराग को व्यक्त करते हुए वे उद्धव से कह रहे हैं कि हे उद्धव ! मैं सुखदायक ब्रजवासियों को कभी भी नहीं भुला सकता। मेरे मन में ऐसी इच्छा

समाज पर अच्छा प्रभाव कैसे छोड़ सकता है ? गोपियों द्वारा कृष्ण के अधर-रस पान करने की इच्छा तथा मुरली के प्रति आक्रोश साहित्य की दृष्टि से चाहे कितनी ही मूल्यवान् सम्पत्ति रही, सामाजिक दृष्टि से इसका आधार उतना ही निर्बल अवश्य कहा जायगा। रही, लोकप्रियता की बात। इस लोकप्रियता ने ही तो समाज पर इसके घातक प्रभाव को पड़ने से न रुकने दिया। आज घर घर में परकीया वृत्ति के जो गीत गाये जाते हैं उनका प्रारम्भ इन कृष्ण-भक्त कवियों द्वारा ही हुआ है। कोई भी सोचे यदि प्रत्येक स्वकीया परकीया होने के लिए लालायित रहने लगे तो समाज की क्या दशा हो जायगी ?

कुछ लोगों का विचार है कि भक्तिकालीन कृष्ण-काव्य तो मुख्य रूप से भक्ति से ही ओतप्रोत है, उसमें लौकिकता के स्थान पर सर्वत्र आध्यात्मिकता का समावेश है, अतः उसका समाज पर कोई अकल्याणकारी प्रभाव नहीं पड़ सकता। लौकिकता का समावेश तो बाद के अर्थात् रीतिकाल के कवियों ने किया है अतः इसका उत्तरदायित्व उन्हीं पर है। सूर जैसे कृष्ण-भक्त कवियों पर नहीं। किन्तु हमारी दृष्टि में यह बचाव का एक असफल ढंग ही है। सत्य है कि सूर पहुँचे हुए भक्त थे। यह भी सत्य है कि सूर का उद्देश्य समाज को हानि पहुँचाना नहीं था। उन्होंने तो जो-कुछ लिखा भक्ति के आवेश में लिखा उसमें लौकिकता नहीं है, किन्तु क्या तब भी वे दोष से मुक्त किये जा सकते हैं ? ठीक है, लौकिकता का समावेश रीतिकालीन कवियों द्वारा हुआ, यह भी ठीक है कि उन्होने ही इस समाज विरोधी कल्पना को अलौकिकता के क्षेत्र से अत्यन्त दूर ले जाकर अत्यन्त कुत्सित बना दिया किन्तु तनिक यह भी तो सोचिये कि यदि सूर आदि कृष्ण-भक्त कवि इस परम्परा को न डालते तो ये कवि कहाँ से विकसित करके कुत्सित कर सकते थे ? जब उद्भव ही न होता तो विकास कैसे हो सकता था ?

कहा जाता है कि राधा और कृष्ण का प्रेम एक आध्यात्मिक रूपक है। कृष्ण परमब्रह्म है, गोपियाँ जीवात्मा और मुरली विद्यामाया। सूर भी उसी जीवात्मामण्डल में से एक बनना चाहते हैं। चलो यह भी ठीक सही किन्तु क्या सूर के पदों को साधारणतः समझने वाला पाठक इस गूढ़ रूपक को समझ सकता है ? क्या वह इनके शृंगार परक पदों का अलौकिक अर्थ ग्रहण कर सकता है। नहीं कर सकता, और बिल्कुल नहीं कर सकता। वह तो स्पष्टतः इनका लौकिक अर्थ ही ग्रहण करेगा।

निस्सन्देह कहा जा सकता है कि समाज के वैभव और विषमताओं से विरक्त इस महाकवि ने जो-कुछ लिखा वह एक ओर यदि साहित्य की अमर सम्पत्ति है तो दूसरी ओर समाज के लिए कुत्सित कीटाणुओं का उद्गम स्थान भी। एक ओर उसके काव्य में यदि उच्च कोटि की तल्लीनता और भक्ति के दर्शन होते हैं तो दूसरी ओर उनको समाज की आवश्यकताओं के प्रति स्पष्ट उदासीनता और उपेक्षा दिखाई देती है।

तबहिं उपंगसुत आय गये।
सखा सखा कछु अन्तर नाहीं भरि-भरि अंक लए॥
अति सुन्दर तन स्याम सरीखो देखत हरि पछिताने।
ऐसे को वैसो बुधि होती ब्रज पठवें तब आने।
या आगे रस-काव्य प्रकासे जोग बचन प्रगटावें।
सूर ज्ञान दृढ़ याके हिरदय जुवतिन जोग सिखावें॥(1)

शब्दार्थ—उपंगसुत=उद्धव। अंक=हाथ फैला कर भेंट करना। आने=दूसरों को। नेम=योग के विधि-विधान।

व्याख्या—जब श्रीकृष्ण ब्रज के विषय में चिंतित हो रहे थे तभी उद्धव जी वहाँ आ पहुँचे। दोनों घनिष्ट मित्र थे। दोनों में कोई अन्तर नहीं था। मिलने पर दोनों ने हाथ फैलाकर प्रेमपूर्वक आलिंगन किया। उद्धव जी के शरीर को अपने शरीर के समान ही अति सुन्दर देखकर वे पश्चात्ताप करने लगे। क्या ही सुन्दर होता कि इन्हें भी वह प्रेममार्गीय बुद्धि होती। अच्छा हो यदि इन्हें किसी बहाने ब्रज भेज दिया जाय। इनके सम्मुख यदि रस काव्य अर्थात् प्रेम-भरे वाक्य कहे जायें तो यह योग वाक्य बघारना आरम्भ कर देते हैं। सूरदास जी कहते हैं कि कृष्ण ने सोचा वस्तुतः इनके हृदय में ज्ञान की भावना बहुत दृढ़ है अतः यह ब्रज युवतियों को निर्गुण ब्रह्म की शिक्षा देकर उनका ध्यान मेरी ओर से हटाने में समर्थ होंगे।

विशेष—श्रीकृष्ण जी को प्रेम-मार्ग कितना अच्छा लगता है कि वे उद्धव जी को भी उसी प्रकार की बुद्धि के अभाव में भाग्यहीन-सा समझने लगते हैं। किंतु ठीक इसके दूसरी ओर वह ब्रज जा भी नहीं सकते और उद्धव जी के दृढ़ ज्ञान से प्रभावित होकर ब्रज-युवतियों के कष्ट निवारण तथा अपने कर्तव्य पालन को विघ्न रहित बनाने के लिए उन्हें वहाँ भेजने की बात से कुछ आनन्द मिश्रित सान्त्वना प्राप्त करते हैं।

हरि गोकुल की प्रीति चलाई।
सुनहु उपंग सुत मोहि न बिसरत ब्रजवासी सुखदाई।
यह चित होत जाऊँ मैं अबही, यहाँ नहीं मन लागत॥
गोप सुग्वाल गाय बन चारत अति दुख पायो त्यागत।
कहँ माखन-चोरी ? कहँ जसुमति 'पूत जेव' करि प्रेम।
सूर स्याम के बचन सहित सुनि व्यापत आपन नेम॥2॥

शब्दार्थ—बिसरत=भुला देना। जेंव=भोजन करना। नेम=नियम, मत।

व्याख्या—श्री कृष्ण ने गोकुल के प्रेम का प्रसंग छेड़ा। ब्रज भूमि के प्रति अपने हृदय के अनुराग को व्यक्त करते हुए वे उद्धव से कह रहे हैं कि हे उद्धव ! मैं सुखदायक ब्रजवासियों को कभी भी नहीं भुला सकता। मेरे मन में ऐसी इच्छा

उत्पन्न हो रही है कि मैं अभी यहाँ से व्रज को चला जाऊँ। मेरा मन यहाँ बिल्कुल नहीं लगता। मैंने वहाँ गोपियों के साथ अनेक क्रीड़ायें की थीं तथा ग्वाल-बालों के साथ गाय चराई थी अतः उन्हें छोड़ते समय मुझे बहुत दुःख हुआ। न तो यहाँ वहाँ की-सी माखन चोरी है और न माता यशोदा का-सा आग्रह सहित खिलाना। सूरदास जी कहते हैं कि कृष्ण के इस प्रकार के वचन सुन उद्धव जी हँसते हुए अपने नियम एवं मत की स्थापना करने लगे।

विशेष—कृष्ण के हृदय की प्रेम-भावना तथा व्याकुलता के चित्रण के साथ-साथ तुल्यनुराग का आदर्श भी इस पद में भली-भाँति स्थापित किया है। इसी प्रकार का एक पद रत्नाकर जी के 'उद्धव-शतक' में भी है जो दर्शनीय है—

कहत गुपाल माल मंजु मनि पुंजनि की,
गुंजनि की माल की मिसाल छवि छावै ना।
कहै रतनाकर रुचि रतन में किरीट अच्छ,
मोर-पच्छ अच्छ-लच्छ अंसहू सु भावै ना॥
जसुमति मैया की मलैया अरु माखन को,
काम-धेनु-गोरस हू गूढ़ गुन पावै ना।
गोकुल की रज के कनूका औ तिनूका सम,
संपति त्रिलोक की बिलोकन में आवै ना॥

जदुपति लख्यो तेहि मुसकात।
कहत हम मन रही जोई सोइ भई यह बात॥
बचन परगट करन लागे प्रेम कथा चलाय।
सुनहु उद्धव मोहि ब्रज की सुधि नहीं बिसराय॥
रैनि सोवत, चलत जागत लगत नहिं मन आन।
नन्द जसुमति नारि नर ब्रज जहाँ मेरो प्रान॥
कहत हरि, सुनि उपंगसुत। यह कहत हौं रसरीति।
सूर चित तें टरति नाहीं राधिका की प्रीति॥३॥

शब्दार्थ—लख्यो=देखा। आन=किसी अन्य विषय में। सुनि=सुन।

व्याख्या—श्रीकृष्ण ने उद्धव को मुस्कराते देख लिया। वे सोचने लगे कि जो बात हम अपने मन में सोचा करते थे, वही हुई। किन्तु तब भी अपनी बात को छिपा कर फिर अपनी प्रेम-कथा आरम्भ कर दी और कहा हे उद्धव! सुनो मुझसे ब्रज की बात नहीं भूली जाती। रात्रि को सोते हुए, चलते-फिरते तथा जागते हुए किसी भी समय मेरा मन किसी दूसरे विषय में नहीं लगता। जहाँ नन्द, यशोदा तथा अन्य गोप-गोपिकायें हैं मेरे प्राण भी वहीं हैं। सूरदास जी कहते हैं कि कृष्ण ने कहा है उद्धव जी! सुनो मैं तुम्हारे सम्मुख प्रेम-पद्धति बताता हूँ कि मेरे चित्त से राधा की प्रीति कभी दूर ही नहीं होती। कुछ ऐसा ही रीति ही ऐसी है।

विशेष—रत्नाकर ने भी कुछ ऐसी ही बात एक पद में कही है—

'राधा मुख मंजुल सुधाकर के ध्यान ही सौं।
प्रेम रत्नाकर हिये यौं उमगत है।'
सखा सुनो मेरी इक बात।
वह लतागन संग गोपिन सुधि करत पछितात॥
कहाँ वह वृष भानुतनया परम सुन्दर गात।
सुरति आए रासरस की अधिक जिय अकुलात॥
सदा हित यह रहत नाहीं सकल मिथ्या-जात।
सूर प्रभु यह सुनौ मोसों एक ही सों नात ॥४॥

शब्दार्थ—सुरति=स्मरण होने पर। हित=प्रेम। मिथ्या-जात=भ्रम से उत्पन्न। एक=अद्वैत ब्रह्म।

व्याख्या—श्रीकृष्णजी उद्धव से कहते हैं कि हे मित्र, तुम मेरी एक बात सुनो। जब मुझे उन लता बेलों के साथ गोपियों की सुध आती है तो मेरे हृदय में बहुत पश्चात्ताप होता है। जो परम सुन्दरी वृषभानु की पुत्री राधा वहाँ है, वह यहाँ भला कहाँ? रास-लीला का स्मरण होते ही हृदय बहुत व्याकुल हो जाता है। सूरदास जी कहते हैं कि इस प्रकार कृष्ण को प्रेम में व्याकुल देखकर उद्धव जी ने कहा कि यह सांसारिक प्रेम अनित्य है ये सब पदार्थ मिथ्या हैं। हे कृष्ण, तुम मेरी बात सुनो, केवल ब्रह्म से ही सम्बन्ध रखना एक सच्ची बात है। अतः सांसारिक मनुष्यों तथा पदार्थों से प्रेम करना व्यर्थ है।

विशेष—उद्धव जी का कथन है कि इस संसार में ईश्वर का तत्त्व ही एक परम तत्त्व है। रत्नाकर जी ने इस बात को निम्न प्रकार से व्यक्त किया है—

आपु ही सौं आपु को मिलाप औ बिछोह कहा,
मोह यह मिथ्या सुख दुख सब ठायौ है।

उर्दू का प्रसिद्ध कवि अकबर भी देखिये कुछ ऐसी ही अभिव्यक्ति कर रहा है—

'गफर उन्हें है तो मुझको भी नाज है अकबर।
सिवा खुदा के सब उनका और खुदा मेरा॥'

पहिले करि परनाम नंद सौं समाचार सब दीजो।
और वहाँ वृषभानु गोप सौं जाय सकल
श्रीदामा आदिक

॥
॥
॥

बिचार

उद्धव प्रति सब कही स्यामजू अपने मन की प्रीति।
सूरदास किरपा करि पठए यहै सकल ब्रज रीति ॥५॥

शब्दार्थ—श्रीदामा=श्री कृष्ण के एक ग्वाल सखा और राधा के बड़े भाई। हतो=ओर से। सधु=सुख। नियार=अलग।

व्याख्या—श्रीकृष्ण जी उद्धव को मथुरा भेजने से पूर्व उपदेश दे रहे हैं कि हे उद्धव! तुम सर्व प्रथम नन्द को प्रणाम करके यहाँ का सब समाचार सुनाना। फिर वृषभानु गोप के यहाँ जाकर उनकी कुशल मंगल पूछना। मेरी ओर से श्रीदामा आदि सभी ग्वालों से भेंट करना और हमारा सुख संदेश सुनाकर गोपियों के क्लेश को नष्ट करना। उस वन में एक हमारा मन्त्री (राधा) रहता है उससे मिलकर आनन्द प्राप्त करना तथा मेरी ओर से सावधान होकर उसे भी मस्तक नवाना। वह हमारा मन्त्री अर्थात राधा बहुत सुन्दर है उसकी किशोर अवस्था है और उसके नेत्र बड़े और चंचल हैं। उसके हाथ में मुरली और सिर पर मयूर पख होंगे। पीताम्बर धारण किए हुए वह वक्षस्थल पर वनमाला पहने हुए होगा। वन घना अवश्य है किन्तु तुम्हें डरने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि व्रजदेवी जो वहाँ सदैव निवास करती है तुम्हारी रक्षा करेगी। सूरदास जी कहते हैं कि इस प्रकार कृष्ण ने अपने प्रेम का विवरण पूर्ण रूप में उद्धव के सामने प्रस्तुत कर दिया और ब्रज की सब रीति उन्हें समझा कर मथुरा के लिए विदा किया।

विशेष—यहाँ 'मन्त्री' शब्द विचारणीय है। श्री राधि का जिन्हें इस पद में मन्त्री कहा गया है श्रीकृष्ण जी का ही वेश धारण करके वन मे प्रेम-साधना कर रही थी। प्रेम की तन्मयता से तदाकार होने की बात भारतेन्दु हरिचन्द्र के शब्दों में भी देखने को मिलती है—

मोहि मोहि मोहनमयी मन मेरो भयो,
'हरीचन्द' भेद न परत पहचान है।
कान्ह भये प्रानमय, प्रान भये कान्हमय,
हिय में न जानि परै कान्ह हैं कि प्रान हैं

भक्तराज रसखान की गोपियाँ भी देखिये कुछ ऐसी ही उत्कण्ठा व्यक्त कर रही हैं—

मोर पखा सिर ऊपर रखिहों गुंजकी माल गले पहिरौंगी।
बाँधि पीतंबर लै लकुटी बन गोधन संग फिरौंगी॥
उद्धव! यह मन निश्चय जानो।
मन क्रम बच मैं तुम्हें पठावत ब्रज को तुरत भुलानो॥
पूरन ब्रह्म, सकल, अविनासी ताके तुम हो ज्ञाता।
रेख, न रूप, जाति कुल नाहीं जाके नहिं पितु माता॥
यह मत दै गोपिन कहँ आवहु बिरह नदी में भासति।
सूर तुरत यह जाय कहो तुम ब्रह्म बिना नहिं आसति॥

शब्दार्थ—क्रम=कर्म। पठावत=भेज रहा हूँ। पलानो=जाओ, प्रस्थान करो। मासति=डूबती हैं। मर्सति=सामीप्य, मुक्ति।

व्याख्या—श्री कृष्ण जी ने उद्धव से कहा कि हे उद्धव जी, यह तुम निश्चय समझो कि मैं तुमको मनसावाचा कर्मणा ब्रज भेज रहा हूँ। अतः तुम शीघ्रही वहाँ के लिए प्रस्थान करो। तुम जाति, कुल, माता-पिता आदि उपाधियों से रहित पूर्ण अखण्ड तथा अनीश्वर ब्रह्म के ज्ञाता हो। तुम इसी परम तत्व को ब्रज जाकर गोपियों को समझादो क्योंकि वे विरह-रूपी नदी में डूब रही हैं। सूरदास जी कहते है कि कृष्ण जी ने उद्धव जी से समझाकर कहा कि तुम शीघ्र ही ब्रज जाकर गोपियों को समझादो कि ज्ञान के बिना मुक्ति नही हो सकती।

विशेष—"ऋते ज्ञानात न मुक्ति यद्यपि एक प्रसिद्ध उक्ति है और जिसे सम्भवतः कृष्ण जी भी जानते होगे। किन्तु सम्भवतः कृष्ण का उद्धव जैसे शुष्क हृदय के व्यक्ति को प्रेम रस से सराबोर गोपिकाओं के पास भेजने का उद्देश्य यह नहीं था कि वे सब ज्ञान-मार्ग को अपना लें। सम्भवतः उनका उद्देश्य यही था कि उद्धव जी भी प्रेम की महिमा को समझ जायें। गोपिकाओं की ओर से तो उन्हें विश्वास था कि वे प्रेम-मार्ग से न हटेंगी। 'विरह-नदी' मे निरंग रूपक की छटा भी दर्शनीय है—

उद्धव! बेगि ही ब्रज जाहु।
सुरति संदेस सुनाय मैटो बल्लभिन को दाहु॥
काम पावक तूलमय तन विरह-स्वांस समीर।
भसम नाहिन होन पावत लोचनन के नीर॥
अजौं लौं यहि भाँति ह्वै है कछुक सजग सरीर।
इते पर बिनु समाधाने क्यों धरें तिय धीर॥
कहौं कहा बनाय तुमसों सखा साधु प्रवीन?
सूर सुमति विचारिए क्यों जिये जल बिनु मीन॥७॥

शब्दार्थ—सुरति=याद आने पर। वल्लभी=प्रिय। तूनमय=रुई से युक्त। प्रवीन=चतुर। पावक=आग।

व्याख्या—श्री कृष्ण ने उद्धव से कहा कि हे उद्धव, तुम अति शीघ्र ब्रज जाओ। हमारा स्मरण और सन्देश देकर हमारी परम प्रियाओं का दुःख दूर करो। कामाग्नि से उनका रुई जैसा कोमल शरीर विरहावस्था में उखड़ी हुई लम्बी-लम्बी साँसों की वायु से भस्मसात होता हुआ भी नेत्रों के आँसुओं से अब तक अवश्य बचा होगा। उनका शरीर आज भी कुछ सचेतन अवश्य होगा। किन्तु ऐसी अवस्था मे यदि उनको नहीं समझाया गया तो भला वे धैर्य कैसे धारण करेंगी? हे सखा, तुम तो अत्यन्त प्रवीण हो, मैं तुमसे अधिक क्या कहूँ? तुम वस्तुस्थिति को भली भाँति समझ रहे हो। तुम ही विचार करो कि क्या जल के बिना मछलियाँ .ע

विशेष—'काम-पावक' में साँग रूपक, भसम
मीन में अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकारों की छटा देखते ही

पथिक ! संदेसो कहियो जाय।
आवैंगे हम दोनों भैया, मैया जनि अकुलाय ॥
याको बिलगु बहुत हम मान्यो जो कहि पठ्यो धाय।
कहँ लौं कीर्ति मानिए तुम्हरी बड़ो कियो पय प्याय ॥
कहियो जाय नंद बाबा सों, अरु गहि पकर्यो पाय।
दोऊ दुखी होन नहिं पावहिं धूमरि धौरी गाय ॥
यद्यपि मथुरा बिभव बहुत है तुम बिन कछु न सुहाय।
सूरदास ब्रज वासी लोगनि भेंटत हृदय जुड़ाय ॥८॥

शब्दार्थ—बिलग मानना=बुरा मानना। धाय=दाई। धूमरि=श्यामा, काली। धौरी=सफेद।

व्याख्या—श्री कृष्ण ने उद्धव से कहा, कि हे उद्धव, तुम हमारा यह सन्देश जाकर देना कि हम दोनो भाई आ रहे हैं। माँ को व्याकुल नही होना चाहिए। हमें उनकी यह बात बहुत बुरी लगी कि उन्होंने अपने को हमारी दाई कहला कर भेज दिया। उनसे कहना कि उनकी प्रशंसा कहाँ तक करूँ। उन्होंने मुझे दूध पिलाकर इतना बड़ा किया। नन्द बाबा के दोनों चरण पकड़ कर यह कहना कि मेरी काली और सफेद दोनों गायें दुखी न होने पावें। सूरदास जी कहते हैं कि श्री कृष्ण ने उद्धव से कहा कि यह और कह देना कि यद्यपि मथुरा में अपार वैभव है किन्तु फिर भी तुम्हारे बिना हमें कुछ भी अच्छा नही लगता। हमारा हृदय तो ब्रजवासियों से मिलकर ही सन्तोष एवं आनन्द प्राप्त करेगा।

विशेष—माता यशोदा को 'धाय' शब्द का जो उलाहना सूर ने श्रीकृष्ण द्वारा दिलवाया है वह कितना मधुर तथा मार्मिक है ? यशोदा ने कृष्ण के मथुरा चले जाने पर देवकी के पास यही सन्देश भिजवाया था कि "हौं तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो"। उद्धव को कृष्ण जी द्वारा 'पथिक' नाम से जो सम्बोधन प्राप्त हुआ है, वह भी विचारणीय है। 'पथिक' शब्द स्पष्ट इस बात का द्योतक है कि अब उद्धव जी व्रज जाने के लिये प्रस्तुत हो गये हैं।

कहियो नंद कठोर भए।
हम दोउ बीरें डारि पर-घरैं मानो थाती सों पिराए ॥
तनक-तनक, तें पालि बड़े किए बएतें सुख बिसराए।
गोचारन को चलत हमारे पाछे कोसक धाए ॥
ये वसुदेव देवकी हमसे कहत आपने जाए।
बहुरि बिधाता जसुमतिजू के हमहिं न गोद खिलाए ॥
कौन काज यह राज, नगर को सब सुख सों सुख पाए।
सूरदास ब्रज समाधान करु आजु काल्हि हम आए ॥९॥

शब्दार्थ—बीरें=भाई। जाए=उत्पन्न हुए। समाधान=प्रबोध, तसल्ली।

व्याख्या—श्री कृष्ण जी उद्धव से कहते हैं कि तुम नन्द से जाकर यह देना

कि तुम तो बहुत ही कठोर निकले। हम दोनों भाइयों को दूसरे के घर डाल कर इस प्रकार चले गये जैसे मानो कोई उनकी धरोहर सौंप गये हों। हम छोटे-छोटों को पालन पोषण करके बड़ा किया था और बहुत सुख पहुँचाया था। जब हम गौ चराने जाया करते थे तो कोस-कोस भर तक हमारे पीछे दौड़ कर जाते थे। और अब ये वसुदेव और देवकी हमें अपने से उत्पन्न बताते हैं। हाय रे हमारा भाग्य कि हमें विधाता ने फिर से यशोदा की गोद नहीं खिलवाया। यद्यपि यहाँ सब प्रकार के सुख हमें अनायास ही प्राप्त हैं किन्तु तो भी हमें इस राज्य से क्या प्रयोजन? सूरदास जी कहते हैं कि कृष्ण ने कहा कि तुम व्रज के लोगों को जाकर समझाना और तसल्ली देना और कह देना कि हम आज कल में ही व्रज आने वाले हैं।

विशेष—स्मृति संचारी भाव और वस्तुत्प्रेक्षा अलंकार की छटा दर्शनीय है।

नीके रहियो जसुमति मैया।
आवेंगे दिन चारि पाँच में हम हलधर दोउ भैया॥
जा दिन तें हम तुमतें बिछुरे काहु न कहयो 'कन्हैया'।
कबहूँ प्रात न कियो कलेवा, साँझ न पीन्हीं धैया॥
बंसी बेनु संभारि राखियो और अबेर सबेरो।
मति लै जाय चुराय राधिका कछुक खिलौनो मेरो॥
कहियो जाय नंद बाबा सों निपट निठुर जिय कीन्हो।
सूर स्याम पहुँचाय मधुपुरी बहुरि संदेस न लीन्हो॥१०॥

शब्दार्थ—पान्हीं=पीना। धैया=थन से सीधी छूटती दूध की धारा। अबेर-सबेरो=साँझ-सबेरे। मधुपुरी=मथुरा।

व्याख्या—श्रीकृष्ण ने उद्धव से कहा कि हे उद्धव, ईश्वर कृपा से हमारी माता यशोदा कुशलता पूर्वक रहें। चार-पाँच दिन में ही हम और हमारे भाई हलधर (बलराम, दोनों आ रहे हैं। उनसे कहना कि जिस दिन से हम तुम से अलग हुए हैं, हमें कभी किसी ने 'कन्हैया' सम्बोधन करके नहीं पुकारा। उसी दिन से न तो कभी हमने प्रातः कलेवा ही किया और न सायंकाल गाय के थन से लग कर दूध ही पिया। उनसे कहना कि तनिक मेरी बंसी को भी सँभालकर रखें। कहीं ऐसा न हो कि कभी समय-असमय राधा आकर उसे अथवा किसी और खिलौने को चुराकर ले जाय। सूरदास जी कहते हैं कि श्रीकृष्ण ने उद्धव से कहा कि नंद बाबा से भी यह कह देना कि तुमने अपना हृदय बड़ा कठोर कर लिया जो अपने श्याम को मथुरा पहुँचाकर कभी फिर कोई समाचार भी न लिया।

विशेष—'काहु न कह्यो कन्हैया' से कितना स्वाभाविक प्रेम झलक रहा है? मातृ-स्नेह-युक्त सम्बोधन 'कन्हैया' की अनुपस्थिति कृष्ण को कितना व्याकुल कर रही है? 'राधा कहीं बंसी अथवा किसी और खिलौने को लेकर न चलती बनें' अर्थ में जहाँ एक ओर राधा की चपलता दिखाई देती है वहाँ दूसरी ओर वह साहचर्यजनित प्रेम भी संकेतात्मक रूप में झांक रहा है जिससे पद में मार्मिकता तथा सजीवता

आ गई है।

उद्धव मन अभिलाष बढ़ायो।
जदुपति जोग जानि जिय साँचो नयन अकास चढ़ायो॥
नारिन पै मोको पठवत हौ कहत सिखावन जोग।
मनहीं मन अब करत प्रसंसा है मिथ्या सुख-भोग॥
आयसु मानि लियो सिर ऊपर प्रभु आज्ञा परमान।
सूरदास प्रभु पठवत गोकुल मैं क्यों कहौं कि आन॥११॥

शब्दार्थ—अभिलाष=आनन्द। अकास चढ़ायो=गर्व हो गया। आयसु=आज्ञा। परमान=प्रमाण, मान्य। पठवत=भेजना।

व्याख्या—उद्धव के आनन्द की अब कोई सीमा न रही। वे कहने लगे कि देखो आज मेरे योग के महत्त्व को श्रीकृष्ण ने हृदय से स्वीकार किया है। उनके नेत्र गर्व से ऊपर को तन गये। कहने लगे आप मुझे योग सिखाने के लिए स्त्रियों के पास भेज रहे हैं। मन-ही-मन अपने ज्ञान की प्रशंसा करते हुए सोचने लगे कि वस्तव में सांसारिक सुख-भोग मिथ्या है। अंत में उन्होंने श्रीकृष्ण की आज्ञा शिरोधार्य कर ली। सूरदास जी कहते हैं कि उद्धव जी सोचने लगे कि जब मेरे प्रभु ही मुझे भेज रहे हैं तो मैं ही और कुछ क्यों कहूं अर्थात् आनाकानी क्यों करूँ?

विशेष—'नयन अकास चढ़ायो' में असम्बद्ध में सम्बन्ध दिखाकर सूर ने जो अतिशयोक्ति अलंकार का प्रयोग किया है, उसकी छटा इस पद में दर्शनीय है।

सुनियो एक संदेसो ऊधो तुम गोकुल को जात।
ता पाछे तुम कहियो उनसो एक हमारी बात॥
माता-पिता को हेत जानि कै कान्ह मधुपुरी आए।
नाहिन स्याम तिहारे प्रीतम, ना जसुदा के जाए॥
समुझो बूझो अपने मन में तुम जो कहा भला कीन्हो।
कह बालक, तुम मत्त ग्वालिनी सबै आप-बस कीन्हो॥
और जसोदा माखन-काजै बहुतक त्रास दिखाई।
तुमहि सबै मिलि दाँवरि दीन्ही रंच दया नहिं आई॥
अरु वृषभान सुता जो कीन्ही सो तुम सब जिय जानौ।
याही लाज तजो तजो ब्रज मोहन अब काहे दुख मानौ?
सूरदास यह सुनि-सुनि बातैं स्याम रहे सिर नाई।
इत कुब्जा उत प्रेम ग्वालिनी कहत न कछु बनि आई॥१२॥

शब्दार्थ—हेत=प्रेम। जाए=पुत्र। काजै=के लिए। दाँवरि=रस्सी। रंच=तनिक, जरा भी।

व्याख्या—कुब्जा उद्धव से कह रही है कि हे उद्धव, तुम गोकुल जा रहे हो, एक संदेश मेरा भी सुन लो और वहाँ पहुँच कर तुम उनसे हमारी बात कह देना।

माथे मुकुट, मनोहर कुंडल, पीत बसन रुचिकारि।
रथ पर बैठि कहत सारथि सों ब्रज-तन बाँह पसारि॥
जानति नाहिन पहिचानति हौं मनु बीते जुग चारि।
सूरदास स्वामी के बिछुरे जैसे मीन बिनु बारि॥१४॥

शब्दार्थ—मनुहारि=बनावट। बसन=वस्त्र। रुचिकारि=रुचिर अथवा कारी रुचि, श्यामवर्ण। बारि=जल। तन=ओर, तरफ।

व्याख्या—कोई गोपी अपनी किसी सखी से कह रही है कि देखो कोई बिल्कुल उसी बनावट का है। तुम अपने नेत्रों से ही देखो वह मथुरा से इसी ओर आ रहा है। उसके माथे मुकुट है। मनोहर कुण्डल पहने हुए है। सुन्दर पीताम्बर धारण किये हुए है। ब्रज की ओर ही अपनी बाँह उठाकर सारथि से कुछ कह रहा है। ठीक प्रकार से तो कुछ पहचान नहीं रही हूँ किन्तु हाँ ऐसा प्रतीत हो रहा है कि इन्हें युगों पहले देखा है। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियां अपने प्रियतम श्रीकृष्ण से बिछुड़कर इस प्रकार व्याकुल थी जैसे कि जल से अलग होकर मछलियाँ व्याकुल होती हैं।

विशेष—धर्मलुप्तोपमा अलंकार की छटा दृष्टव्य है।

देखो नंद द्वार रथ ठाढ़ो।
बहुरि सखी सुफलकसुत आयौ परयो संदेह उर गाढ़ो॥
प्रान हमारे तबहिं गयौ लै अब केहि कारन आयौ।
जानति हौं अनुमान सखी री! कृपा करन उठि धायौ॥
इतने अन्तर आय उपंगसुत तेहि छन दरसन दीन्हौ।
तब पहिचानि सखा हरिजू को परम सुचित तन कीन्हौ॥
तब परनाम कियो अति रुचि सों और सबहि कर जोरे।
सुनियत रहे तैसेई देखे परम चतुर मति-भोरे॥
तुम्हरो दरसन पाय आपनो जन्म सफल करि जान्यो।
सूर ऊधो सों मिलत भयो सुख ज्यों झख पायो पान्यो॥१५॥

शब्दार्थ—बहुरि=फिर। सुफलकसुत=अक्रूर। सुचित=स्वस्थ। भोरे=भोले। पान्यो=पानी। झख=मछली।

व्याख्या—गोपियों ने नन्द के दरवाजे पर रथ खड़ा हुआ देखा। वे आपस में कहने लगीं कि हे सखी, अक्रूर जी फिर आ गए हैं। यदि यह वास्तव में ठीक है तो हमारे हृदय में बड़ा भारी संदेह उठ रहा है। हमारे प्राणों को तो ये पहले ही ले गये थे। अब पता नहीं किस कारण से यहाँ आये हैं? इस एक सखी ने कहा कि संभवतः अब तो ये हम पर कृपा करने आये हैं। तभी उद्धव जी यहाँ आ पहुँचे। जब उन्होंने यह जाना कि वे तो कृष्ण के परम मित्र हैं तो उन्हें कुछ ढाँढ़स हुआ। वे सावधान होकर हाथ जोड़कर बड़ी लगन से प्रणाम करने लगीं। कहने लगीं कि हमने जैसा आपके विषय में सुना था आप तो वास्तव में वैसे ही बड़े चतुर और सीधे निकले।

शब्दार्थ—गलगाजि कै=आनन्दमय होकर। यादवजात=उद्धव। भाय=भाव। समोल्यो=सहेज कर कहा। तारे=पुतली। भीति=दीवार। घर लागै=ठिकाने लगता है। औधूरि=घूमकर। सांचो=सांचा। कांचो=कांच। सीस दे=प्राण देकर। सौं=सौगन्ध। नेम=नियम।

व्याख्या—गोपिकायें आपस में कह रही हैं कि उद्धव जी का उपदेश तुम ध्यान देकर क्यों नहीं सुनती। प्रिय कृष्ण ने इन्हें यहाँ मान सहित भेजा है। जिधर कृष्ण जी गये थे, उधर से ही यह कोई साहब आये हैं। इनकी बंसी की भी वैसी ही धुन है। ऐसा प्रतीत होता है मानो स्वयं कृष्ण जी ही आगये हों। सारी गोपियाँ यह सोच कर आनन्दित होकर दौड़ पड़ी। वहाँ पहुँच कर उन्होंने ऊधो जी को देखा। वे ऊधो जी को नन्द जी के पास ले गईं। उनका आनन्द हृदय में समा नहीं रहा था। उन्होंने ऊधो जी का सम्मान उन्हें अर्घ्य देकर, आरती उतार कर, तिलक लगा कर तथा माथे पर दूब तथा दही लगाकर किया। सोने के कलश में पानी भरा तथा ऊधो जी की परिक्रमा की। कृष्ण द्वारा भेजे ऊधो का जितना सम्मान सम्भव था उन्होंने आनन्दित होकर किया। नन्द जी का आँगन गोपों से भर गया। सभी कृष्ण का समाचार जानने को बड़े उत्सुक थे। बीच में ऊधो जी बैठ गये। उनके सामने पानी की सुराही रखी थी। इसके पश्चात् उनसे सब कृष्ण जी का समाचार पूछने लगे। वे पूछने लगे कि वसुदेव जी, देवकी जी, कुब्जा दासी जो कृष्ण जी की विशेष कृपा प्राप्त करती रही थी, अक्रूर जी जो कृष्ण को यहाँ से सदा के लिए ले गये हैं, बलदाऊ जी आदि वहाँ सब कुशल से तो हैं अपने प्रिय कृष्ण की कुशलता ज्ञात करने के पश्चात गोपिकायें मूर्ति के समान ऊधोजी के चरण पकड़ कर सुध-बुध सी भूले हुए बैठ गईं। ब्रज की स्त्री-पुरुषों की प्रेम-भावना को देखकर ऊधो स्वयं प्रेम में मग्न हो गये। मन-ही-मन वे यह विचारने लगे कि कृष्ण के लिये इन गोपियों को छोड़कर चला जाना उचित नहीं था। ब्रज के इस प्रेम को त्याग कर उल्टे उन्होंने मुझे गोपियों को योग का उपदेश देने भेज दिया है। कृष्ण ने गोप-गोपिकाओं को जो पत्र लिखा था उसे लोग पढ़ नहीं पा रहे हैं क्योंकि उनकी आँखें प्रेमाश्रुओं से भरी पड़ी हैं और इस कारण उनका पढ़ना असंभव था। गोपियों के प्रेम को देखकर ऊधो जी का ज्ञान-गर्व दूर हो गया। फिर इधर उधर की बातें करके अपने मन को बहला कर और अपने नेत्रों के आँसू पोछ कर ऊधो जी ने यह निश्चय कर लिया कि अब इन लोगों को समझाना भी आवश्यक है। अतः उन्होंने गुरु सदृश उन लोगों को समझाना प्रारम्भ कर दिया।

उन्होने कहा कि हे गोपियो, संसार का माया-मोह तथा प्रेम-बन्धन त्याग दो तथा योग और साधना की बातें सीखो। सारे ऋषि और मुनि इस ब्रज को अपनाते हैं किन्तु तब भी उस परब्रह्म का पार नहीं पाते हैं। और तुमतो ममता मोह में लिप्त हो फिर भला तुम कैसे उसे प्राप्त कर सकोगी? ऊधो जी की बातों को सुनकर गोपियों ने अपने नेत्र नीचे को कर लिए। ऊधो जी के आगमन से उन्हें बहुत अधिक

अपनो घर परि हरै कहो को घरहि बतावै ?
मूरख जादव जात है हमहिं सिखावत जोग।
हमको भूली कहत हैं, हो, हम भूली किधौं लोग ?
गोपिहु तें भयो अंध ताहि दुहु लोचन ऐसे।
ज्ञान नैन जो अंध ताहि सूझै धौ कैसे ?
बूझै निगम बोलाइ कै, कहैं बेद समुझाय।
आदि अंत जाके नहीं, हो, कौन पिता हो माय ?
चरन नहीं, भुज नहीं, कहीं, ऊखल किन बाँधो ?
नैन नासिका मुख नहीं चोरि दधि कोने साँधो ?
कौन खिलायो गोद में, किन कहे तोतरे बैन ?
ऊधो ताको न्याव है ! हो, जाहि न सूझै नैन ॥
हम बूझति सत भाव न्याव तुम्हरे मुख साँचो।
प्रेम-नेम रस कथा कहो कंचन की काचो॥
जो कोउ पावै सीस दे ताको कीजै नेम।
मधुप हमारी सो कहो, हो जोग भलो किधौं प्रेम ॥
प्रेम प्रेम सो होय प्रेम सो पारहि जैए।
प्रेम बँध्यौ संसार, प्रेम परमारथ पैए॥
एकै निहचै प्रेम को जीवन मुक्ति रसाल।
साँचो निहचै प्रेम को, हो, जो मिलि हैं नंदलाल॥
सुनि गोपिन को प्रेम नेम ऊधो को भूल्यो।
गावत गुन गोपाल फिरत कुंजन में फूल्यो॥
छन गोपिन के पग धरै। धन्य तिहारो नेम।
धाय धाय द्रुम भेंट हो हो, ऊधो छाके प्रेम॥
धनि गोपी, धनि गोप, धन्य सुरभी बनचारी।
धन्य, धन्य ! सो भूमि जहाँ बिहरै बनवारी॥
उपदेसन आयों हुतो मोहि भयो उपदेस।
ऊधो जदुपति पै गए, हो, किए गोप को वेस॥
भूल्यो, जदुपति नाम, कहत गोपाल गोसाँई।
एक बार ब्रज जाहु देहु गोपिन दिखराई॥
गोकुल को सुख छाँड़ि कै कहाँ बसे हो आय।
कृपावत हरि जान कै, हो, ऊधो पकरे पाय॥
देखत ब्रज को प्रेम नेम कछु नाहिन भावै।
उमड़्यो नयननि नीर बात कछु कहत न आवै॥
सूर स्याम भूतल गिरे, रहे नयन भर छाय।
पोंछि पीत पट सों कह्यो, आए जोग सिखाय॥१६॥

होता है। पार भी केवल प्रेम के द्वारा ही पाया जा सकता है। संसार भी प्रेम के बंधन में ही बँधा हुआ है। प्रेम द्वारा ही मोक्ष का पद प्राप्त करना सम्भव है। प्रेम से ही निश्चय मधुर जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है। परन्तु प्रेम का यह निश्चय सत्य है तो नन्दलाल की प्राप्ति हमें अवश्य होगी।

गोपियों के प्रेम को देखकर उद्धव जी अपनी योग की बातें भूल गये। आनन्दित तथा विस्मृत से वे ब्रज के कुञ्जों में कृष्ण का गुणगान करते हुए फिरने लगे। कभी तो वे गोपियों के पैरों में गिर पड़ते और कहते कि तुम्हारा प्रेम धन्य है और कभी-कभी वे दौड़ कर वृक्षों को आलिंगन करते। ऊधो प्रेम से छक गये। धन्य हैं गोपियाँ, धन्य हैं गोप, धन्य हैं बन में फिरने वाली गउएँ धन्य है और वह व्रज भूमि जहाँ कृष्ण जा ने अपनी लीलाएँ की हैं। मैं आया था उपदेश देने और मिल गया मुझे उल्टा उपदेश।

गोप के वेष में ऊद्धव जी कृष्ण के पास लौट चले। पहले वे कृष्ण को यदुपति कहते थे क्योंकि वे उन्हें एक महापुरुष मात्र मानते थे किन्तु अब प्रेम-मय होकर उन्हे गोपाल और स्वामी की संज्ञा देने लगे। उन्होंने कृष्ण से कहा कि एक बार व्रज चले जाओ और गोपियों को दर्शन दे दो। तुम भी गोकुल के सुख को त्याग कर यहां मथुरा में कहाँ आ बसे? कृष्ण को भगवान समझकर उद्धव जी ने उनके पैर पकड़ लिए। ब्रज के प्रम को देखकर कोई नियम और साधना इसके आगे नहीं जँचती। उद्धव के नेत्रों से आँसुओं की धारा बहने लगी। वे कुछ कहना चाहते हुए भी कुछ कह नहीं सके। कृष्ण जी के नेत्रों मे भी आँसू आ गये। प्रेम से विह्वल होकर वे भी पृथ्वी पर गिर पड़े। अपने पीताम्बर से अपने आँसू पोंछते हुए उन्होंने उद्धव से व्यंग पूर्वक कहा कि कहो 'सिखा आये योग'।

विशेष—इस पद में भ्रमर गीत की सारी कथा संक्षेप मे कह दी गई है।

उद्धव द्वारा गोपियों को श्री कृष्ण का संदेश

सुनु गोपि हरि कौ सदेस।
करि समाधि अंतरगति चितवौ प्रभु कौ यह उपदेस॥
वै अविगत, अविनासी, पूरन, घट-घट रहे समाय।
तिहि निश्चय कै ध्यावहु ऐसे सुचित कमलमन लाइ॥
यह उपाय करि बिरह तजौगी मिलै ब्रह्म तब आय।
तत्वज्ञान बिनु मुक्ति न होई निगम सुनावत गाय॥
सुनत संदेस दुसह माधव के गोपीजन बिलखानी।
सूर बिरह की कौन चलावै, नयन ढरत अति पानी॥१७॥

शब्दार्थ—अन्तर-गति=हृदय के भीतर। चितवौ—दर्शन करो। सुचित= स्वस्थ होकर। कमल=योगियों के षट्चक्र जो कमल के रूप में माने जाते हैं।

व्याख्या—गोपियों के एकत्रित हो जाने पर उद्धव जी उनसे कृष्ण का संदेश कहना प्रारम्भ करते हैं। वे कहते हैं कि हे गोपियो, कृष्ण जी का संदेश सुनो। उनका

सुख हुआ था किन्तु उनकी बातें सुनकर उन्हें बहुत अधिक कष्ट का अनुभव होने लगा। यह तो ऐसा हुआ जैसे किसी ने वृक्ष को पहले तो अमृत से सींचा हो किन्तु फिर उसे ज्वाला से जला दिया हो। उन्होंने ऊधौ से कहा कि हम अबलायें योग तथा साधना की रीति तथा बातें क्या जानें। साक्षात नन्द नन्दन के प्रेम रूपी व्रत को छोड़ कर निराकार परब्रह्म की पूजा भला कौन करे? इनका ईश्वर तो ऐसा है जो जाना नहीं जा सकता, जिसे बुद्धि द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता, जिसका कोई पार नहीं है और फिर कहा जाता है कि वह जाना हुआ है। जिसका नाम तो निरंजन है किन्तु उसे सभी प्रसन्न करने का प्रयास करते हैं। जो ईश्वर इतना अनिश्चित है तथा भ्रामक है उसकी भला कौन पूजा करेगा? ऊधो जी कहते हैं कि दोनों आँखों के मध्य नाक का जो ऊपर का अग्र भाग है। उस त्रिकुटी में ईश्वर का वास है। वह अविनाशी है, उसका नाश कभी भी नहीं हो सकता। स्वाभाविक रूप से वह प्रकाशमय है किन्तु मन घूम फिर कर फिर अपने ही ठिकाने पर आ जाता है। गोपियाँ कहती हैं कि तुम्हारे इस प्रकार करने से क्या हमारा मन निर्गुण उपासना में लग जायगा? ऐसा कौन मूर्ख है जो अपना घर छोड़ देगा फिर वह अपना क्या पता ठिकाना बता सकता है? यह ऊधौ जी की मूर्खता है जो हमें जोग सिखाते हैं। वे हमें भूली हुई कहते हैं परन्तु सच यह है कि ये हमे शिक्षा देने वाले स्वयं भूल मे है। हे ऊधो, तुम तो गोपियों से भी अधिक अज्ञानी हो। पता नहीं तुम्हारे दोनों नेत्र (एक बाह्य तथा दूसरा ज्ञान का नेत्र) कैसे हैं जो तुम यह सीधी-सी बात भी नहीं समझ पा रहे हो। बात ठीक ही है जिसके ज्ञान-नेत्र फूट जाते हैं भला उसे सार युक्त बातें कैसे सुझाई आ सकती हैं। स्वयं निगम जिसका स्पष्ट रूप नही रख सका। वेद भी जिसे समझाने का प्रयत्न मात्र ही कर सके हैं, जिसका न आदि है और न अन्त, जो अजन्मा है, जिसके न तो माता है और न पिता, ऐसे अस्पष्ट एव अनिश्चित परब्रह्म की उपासना से लाभ ही क्या? इधर हमारे कृष्ण तो साक्षात ब्रह्म हैं। आपके अनुसार यदि ईश्वर के हाथ-पैर नहीं होते तो फिर कृष्ण को यशोदा ने ऊखल से कैसे बाँध दिया? यदि ईश्वर के नेत्र और मुख नहीं होते तो बाल्यावस्था में चोरी करके कृष्ण ने दही और माखन कैसे खा लिया? यदि ईश्वर की रूपरेखा नहीं होती तो यशोदा ने उन्हें गोद में कैसे खिला लिया। कृष्ण तोतली वाणी मे बचपन में कैसे बोल सकते थे? हमारे ईश्वर तो साकार है। जिसे ज्ञान की आँखों से सूझे ही नहीं उसे भला कैसे समझाया जाय? और ऐसी दशा मे न्याय भी कैसे हो? उस सीधे सच्चे भाव से आप से ही पूछती हैं और तुम्हें ही न्यायाधीश बनाये देती हैं। सच-सच बताओ कि प्रेम रस की आपकी क्या स्वर्ण है अथवा काँच। नेम और प्रेम तो उसे किया जाय जिसके लिए प्रेमी अपना सिर उतार कर देने की क्षमता रखता हो।

इसीलिए हे मधुप, तुम्हें हमारी शपथ है, सच कहना कि प्रेम उत्तम है, अथवा योग। प्रेम तो प्रेम द्वारा ही उत्पन्न होता है और प्रेम से ही उसका जीवन सार्थक

होता है। पार भी केवल प्रेम के द्वारा ही पाया जा सकता है। संसार भी प्रेम के बंधन में ही बँधा हुआ है। प्रेम द्वारा ही मोक्ष का पद प्राप्त करना सम्भव है। प्रेम से ही निश्चय मधुर जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है। परन्तु प्रेम का यह निश्चय सत्य है तो नन्दलाल की प्राप्ति हमें अवश्य होगी।

गोपियों के प्रेम को देखकर उद्धव जी अपनी योग की बातें भूल गये। आनन्दित तथा विस्मृत से वे ब्रज के कुञ्जों में कृष्ण का गुणगान करते हुए फिरने लगे। कभी तो वे गोपियों के पैरों में गिर पड़ते और कहते कि तुम्हारा प्रेम धन्य है और कभी-कभी वे दौड़ कर वृक्षों को आलिंगन करते। ऊधो प्रेम से छक गये। धन्य हैं गोपियाँ, धन्य हैं गोप, धन्य हैं वन में फिरने वाली गउएँ धन्य है और वह ब्रज भूमि जहाँ कृष्ण जा ने अपनी लीलाएँ की हैं। मैं आया था उपदेश देने और मिल गया मुझे उल्टा उपदेश।

गोप के वेष में ऊद्धव जी कृष्ण के पास लौट चले। पहले वे कृष्ण को यदुपति कहते थे क्योंकि वे उन्हें एक महापुरुष मात्र मानते थे किन्तु अब प्रेम-मय होकर उन्हें गोपाल और स्वामी की संज्ञा देने लगे। उन्होंने कृष्ण से कहा कि एक बार ब्रज चले जाओ और गोपियों को दर्शन दे दो। तुम भी गोकुल के सुख को त्याग कर यहाँ मथुरा में कहाँ आ बसे? कृष्ण को भगवान समझकर उद्धव जी ने उनके पैर पकड़ लिए। ब्रज के प्रेम को देखकर कोई नियम और साधना इसके आगे नहीं जँचती। उद्धव के नेत्रों से आँसुओं की धारा बहने लगी। वे कुछ कहना चाहते हुए भी कुछ कह नहीं सके। कृष्ण जी के नेत्रों में भी आँसू आ गये। प्रेम से विह्वल होकर वे भी पृथ्वी पर गिर पड़े। अपने पीताम्बर से अपने आँसू पोंछते हुए उन्होंने उद्धव से व्यंग पूर्वक कहा कि कहो 'सिखा आये योग'।

विशेष—इस पद में भ्रमर गीत की सारी कथा संक्षेप में कह दी गई है।

उद्धव द्वारा गोपियों को श्री कृष्ण का संदेश

सुनु गोपि हरि को संदेस।
करि समाधि अंतरगति चितवौ प्रभु को यह उपदेस॥
वै अविगत, अविनासी, पूरन, घट-घट रहे समाय।
तिहि निश्चय कै ध्यावहु ऐसे सुचित कमलमन लाइ॥
यह उपाय करि विरह तजौगी मिलै ब्रह्म तब आय।
तत्वज्ञान बिनु मुक्ति न होई निगम सुनावत गाय॥
सुनत संदेस दुसह माधव के गोपीजन बिलखानी।
सूर विरह की कौन चलावै, नयन ढरत अति पानी॥१७॥

शब्दार्थ—अन्तर-गति=हृदय के भीतर। चितवौ—दर्शन करो। सुचित= स्वस्थ होकर। कमल=योगियों के षट्चक्र जो कमल के रूप में माने जाते हैं।

व्याख्या—गोपियों के एकत्रित हो जाने पर उद्धव जी उनसे कृष्ण का संदेश कहना प्रारम्भ करते हैं। वे कहते हैं कि हे . . . संदेश सुनो। उनका

तुम्हें यही उपदेश है कि तुम समाधि लगाकर अपने हृदय के अन्दर ब्रह्म को देखने का प्रयास करो। प्रभु तो अमान, अनश्वर तथा प्रत्येक के हृदय में समाये हुए हैं। तुम अपने ममतारूपी मन को एकाग्र करके सच्चे हृदय एवं निश्चय द्वारा उनका ध्यान करो। ऐसा करने से तुम्हारी विरह-व्यथा भी समाप्त हो जायगी तथा ब्रह्म के तुम्हें दर्शन भी हो जायेंगे। शास्त्रों का कथन है कि 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः', अर्थात् बिना तत्वज्ञान के मुक्ति नहीं मिल सकती। कृष्ण जी के इस दुसह संदेश को सुन कर गोपियाँ बिलख बिलख कर रोने लगीं। सूरदास जी कहते हैं कि उनकी विरह दशा का वर्णन करना अत्यन्त व्यथा दायक है। उनके नेत्रों से कृष्ण की इस कठोरता पर आँसू बहने लगे।

विशेष— (क) रत्नाकर जी की कुछ इसी प्रकार की पंक्तियां देखिये—

> चाहत जो स्ववस संजोग स्यामसुन्दर को,
> योग के प्रयोग में हियौ तो बिलस्योक रहै।
> कहै रत्नाकर सुमन्तर मुखी है ध्यान,
> मंजु हिय कंज जगी जोति में धस्यौ रहै॥

(ख) अतिशयोक्ति अलंकार का प्रयोग भी इस पद की एक विशेषता है।

उद्धव द्वारा गोपियों को कुब्जा का संदेश

> मो पै काहे को भुकति ब्रज नारी ?
> काहू के भाग मों साभो नाहिन, हरि की कृपा नियारी॥
> फलन माँझ जैसे करुई, तुमरि रहति जो घूरे डारी।
> हाथ परी जब गुनी जनन के बाजति राग दुलारी॥
> यह संदेस कुब्जा कहि पठयौ अरु कीन्हो मनुहारी।
> तन टेढ़ी सब कोऊ जानत, परसे भई अधिकारी॥
> हौं तो दासी कंसराय की, देखहु हृदय विचारी।
> सूर स्याम करुनाकर स्वामी अपने हाथ सँवारी॥१८॥

शब्दार्थ—भुकति=कोप करना, जलना। साभो=भाग हिस्सा। नियारी=अद्भुत। पठयो=भेजा है। मनुहारी=अनुनय विनय करना

व्याख्या—उद्धव कुब्जा का संदेश देते हुए गोपियों से कहते हैं कि उसने कहा ब्रजनारियाँ मुझसे क्यों जलती हैं। कोई किसी के भाग में हिस्सेदार नहीं बनता। हरि की कृपा ही कुछ अद्भुत है। जैसे फलों के बीच में कड़ई तूमड़ी (लौकी या सीता फल, घूरे (कूड़े का ढेर) पर पड़ी रहती है और कोई उसे नहीं पूछता। किन्तु जब वह किसी गुणवान पुरुष के हाथ पड़ जाती है तो वह उसकी वीणा बना कर उसमें मन मोहक राग निकाल लेता है। उद्धव ने कहा कि कुब्जा ने यह सन्देश भेजा है और अत्यधिक अनुनय-विनय किया है कि मैं शरीर से टेढ़ी-मेढ़ी अवश्य हूँ किन्तु

पीत बसन छवि बरन न जाई । मकरतिलक सुन्दर कुँवर कन्हाई ॥
रूप रासि ग्वालन को संगी । कब देखें वह रूप त्रिभंगी ॥
जो तुम हित की बात सुनावो । मदनगोपालहि क्यों न मिलावो ?

उद्धव-वचन

ताहि भजहु किन सबै सयानी ? खोजत जाहि महामुनि ज्ञानी ॥
जाके रूप-रेख कछु नाहीं । नयन मूँदि चितवहु चित माहीं ॥
हृदय-कमल में जोति बिराजे । अनहद नाद निरंतर बाजे ॥
इड़ा पिंगला सुखमन नारी । शून्य सहज में बसैं मुरारी ॥
मात पिता नहिं दारा भाई । जल थल घट-घट रहे समाई ॥
यहि प्रकार भव दुस्तर तरिहौ । जोग-पंथ क्रम क्रम अनुसरिहौ ॥

गोपी-वचन

यह मधुकर ! मुख मूँदहु जाई । हमरे चित बित हरि यदुराई ॥
अब बातिनि गोपाल-उपासी । ब्रह्म ज्ञान सुनि आवै हाँसी ॥
अब लौं जोग कबहुँ नहिं आयो । मानो कुबजा-रूपहि पायो ॥
जोति सुगाहक पाय दिखायो । माधव मधुकर- हाथ पठायो ॥
अबला ठगो सकल ब्रज हेरी । सो ठग ठग्यो कंत की चेरी ॥
राम-जनम-तपसी अदुराई । तिहि फल वधू कूबरी पाई ॥
सीता-बिरह बहुत दुख पायो । अब कुबजा मिलि हियो सिरायो ॥
ज्ञान निरास कहा लै कीजे । जोग-मोर दासी-सिर दीजे ॥

उद्धव-वचन

यह सगुन अविगत अविनासी । त्रिगुन-रहित प्रभु, घट में बासी ॥
हे गोपी ! सुनु बात हमारी । है वह शून्य सुनहु ब्रजनारी ॥
नहिं दासी ठकुराइनि कोई । जहँ देखहु तहँ ब्रह्महि सोई ॥
आपुहि औरहि ब्रह्महि जानें । ब्रह्म बिना दूसर नहिं मानें ॥

गोपी-वचन

बार बार ये बचन निवारो । भक्ति-विरोधी ज्ञान तुम्हारो ॥
होत कहा उपदेसे तेरे । नयन सुबस नाहीं, अलि, मेरे ॥
हरिमुख जोवत निमिष न लागें । दरस-वियोगिनि निसिदिन जागें ॥
मंदमंद के देखें जोवें । वहि वह रूप, वचन नहिं पीवें ॥
जब हरि आवें तब सुख पावें । मोहन मूरति निरखि सिरावें ॥
तुम्हरे वचन यहि हमहि न भावें । जोग-कथा कोई कि दसावें ॥

उद्धव-वचन

ऊधो कहैं, 'धन्य ब्रजबाल। जिनके- सर्बस मदन गोपाल॥
वह मत त्याग्यो, यह मति पाई। तुम्हरे दरस भगति मैं पाई॥
तुम मम गुरु मैं दास तुम्हारो। भगति सुनाय जगत निस्तारो॥
'भ्रमरगीत' जे सुनैं सुनावैं। प्रेमभक्ति सो प्रानी पावैं॥
सूरदास गोपी बड़भागी। हरिदरसन की ठगौरी लागी॥ १६॥

शब्दार्थ—सयानी=चतुराई। जाद=बच्चा जनना। बीर=भाई। श्रीखण्ड=चन्दन। मृग मद=कस्तूरी। बन की धातु=गेरू। नारी=नाड़ी। बिकट=टेढ़ी। कस=मधुर। उडुगन=तारे। पदिक=माला में मध्य का बड़ा आभूषण। दारा=पत्नी। मोट=गठरी। बित्त=धन। सिरायो=ठण्डा हुआ। सचु=सुख। जन्म-स्रम=जन्म भर श्रम करने से साध्य। स्यामा=राधा।

व्याख्या—उद्धव ब्रज में आकर गोपियों के सामने ज्ञान का उपदेश देते हुए कहते हैं कि हे गोपियो! मुझे ब्रज के नाथ श्रीकृष्ण ने तुम्हारे निकट भेजा है। मैं तुम्हें आत्म ज्ञान का उपदेश देने आया हूँ। इस सारे संसार में ब्रह्म व्याप्त है वही पुरुष है और वही स्त्री है। वानप्रस्थ व्रत को वही धारण करने वाला है। वही पिता है, वही माता है, वही बहन है और वही भाई है। वही विद्वान है और वही ज्ञानी है। वही राजा है और वही रानी है। पृथ्वी और आकाश भी वही है। स्वामी और सेवक भी वही है। गाय भी वही है और ग्वाला भी। इस प्रकार वह अपने को ही चराता है। वही भौंरा है और वही पुष्प है। किन्तु सारा संसार इस रहस्य को आत्मज्ञान के अभाव में भूला हुआ है। वस्तुतः निर्धन और धनी में इस संसार में कोई अन्तर नहीं है। वह कोई दूसरा नहीं है स्वयं निरंजन है। जो इस रहस्य को समझ लेता है, उसे बुढ़ापे तथा मृत्यु आदि का कोई भ्रम नहीं रहता।

उद्धव की इन बातों को सुनकर गोपियों ने कहा कि हे उद्धव! सुनो, यहाँ बुद्धिमती एवं चतुरा कौन है? और तुम महान ज्ञानी पुरुष हो। योगी ही योग को जान सकता है। हमारा मन तो सदा नवधा भक्ति को ही स्वीकार करता है। जो भगवान का भक्त होता है वह भक्ति की भावना को ही अपने हृदय में धारण कर लेता है और शिवजी तथा सनक सनन्दन आदि को ज्योति स्वरूप समझ लेता है। आप तो अत्यन्त कुशलता से बना-बनाकर ज्ञान की बातें कर रहे हो किन्तु हम अबलाएँ कृष्ण के मनमोहक रूप पर मोहित होकर पागल सी बनी हुई हैं। बाँझ स्त्री भला प्रसव की पीड़ा को कैसे जान सकती है। इसी प्रकार जो ब्रह्म दिखाई ही नहीं देता उससे भला प्रेम कैसे किया जा सकता है? बार-बार जब तुम ब्रह्म ज्ञान का उपदेश देते हो तो हमें उन्हीं का स्मरण हो आता है और फिर बिना कृष्ण-रूप के हमें कोई भी अच्छा नहीं लगता। तुम कहते हो योग समाधि लगाकर ब्रह्म की ज्योति से ध्यान लगाने वाले परम आनन्द प्रदान करने वाले मोक्ष को प्राप्त करते हैं। किन्तु दूसरी ओर जब हम

नवीन किशोरावस्था वाले कृष्ण पर अपनी दृष्टि डालती हैं तो ब्रह्म भी करोड़ों ज्योतियों के उनके सौन्दर्य पर बलिदान कर देती हैं। उनका शरीर जल से भरे हुए बादलों के समान श्याम है। बलराम के भाई श्रीकृष्ण के उस सौन्दर्य को देखकर हम ठगी सी रह जाती हैं। उनके माथे पर चन्दन है, कानों में कुण्डल हैं, गले में वनमाला है तथा अत्यन्त विशाल नेत्र हैं। भला ऐसा सौन्दर्य कैसे विस्मृत किया जा सकता है? वे कस्तूरी का तिलक लगाते हैं और उनके बाल घुंघराले हैं। उन्होंने हमारे मन को हर लिया है। उनकी भौंहें बंकिम हैं, नासिका अत्यन्त सुन्दर है और अधर लाल हैं जिन पर सुन्दरी मुरली बजती है। अनार के दानों के समान चमकते हुए उनके दाँत अत्यन्त शोभायमान हैं और उनकी मन्द एवं कोमल मुस्कराहट कामदेव के मन को भी मोहित करने वाली है। उनकी ठोड़ी शोभायुक्त है तथा नक्षत्रों की कान्ति को भी पराजित करने वाली हृदय पर गज-मुक्ताओं की माला विराजमान है। उनके हाथों में कङ्कण, कटि में मेखला तथा पैरों में नूपुर शोभायमान हैं। जब वे चलते हैं तो नूपुरों से अत्यन्त सुन्दर शब्द निकलते हैं। वे अपने शरीर पर गेरु से चित्र बनाये रहते हैं। हमारे हृदय में उनका वह सौन्दर्य चुभा हुआ है। वे पीले वस्त्र पहनते हैं जिसकी सुन्दरता का वर्णन नहीं हो सकता। इस प्रकार कृष्ण नख से शिख तक बहुत ही सुन्दर हैं। वह सौन्दर्य का खजाना कृष्ण ग्वालों का सखा है। उसके त्रिभंगि रूप के हमें कब दर्शन होंगे? यदि तुम हमारे हित की बातें करते हो तो फिर मदनगोपाल कृष्ण से हमें क्यों नहीं मिला देते?

गोपियों की इस प्रकार की बातें सुनकर उद्धव कहने लगे कि हे चतुर गोपियो! जिसे महान ज्ञानी और मुनि खोजते फिरते हैं तुम उसे स्मरण क्यों नहीं करतीं? वह ब्रह्म रूपरेखा रहित है। अपने नेत्र बन्द करके उसकी खोज अपने हृदय में ही करो। उसकी ज्योति हृदय-कमल में हर समय रहती है और निरंतर अनहद नाद होता रहता है, इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों की साधना करके और शून्य स्थान में बसे हुए ब्रह्म की प्राप्ति करो। वह ब्रह्म माता-पिता रहित है। उसकी कोई स्त्री भी नहीं है। वह तो क्या जल और क्या थल प्रत्येक स्थान पर विद्यमान है। अतः तुम क्रम-क्रम से योग-मार्ग पर चलो तो इस भव-सागर से पार हो जाओगी।

उद्धव के योग मार्ग के उपदेशों का उत्तर देती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे मधुकर! अब आप अपना मुख बन्द रखिये। हमारे हृदय में तो यदुराज कृष्ण ही सर्वोपरि धन है। हम ब्रज की रहने वाली गोपाल की ही उपासिका हैं। ब्रह्म-ज्ञान की बातें सुनकर हमें हँसी आती है। अब तक तो कभी भी योग नहीं आया किन्तु अब ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें कुब्जा से योग प्राप्त हो गया है और हमें सुन्दर ग्राहक समझकर उसे अब आपके हाथों हमारे पास भेजा है किन्तु हमें आश्चर्य तो यह है कि जिसने केवल कटाक्ष मात्र से सम्पूर्ण ब्रज की अबलाओं को ठग लिया, उसको

कंस की एक दासी ने कैसे ठग लिया ? यदुराज कृष्ण ने रामावतार में तपस्वी का रूप धारण किया था। उसी के परिणामस्वरूप उन्होंने कुबड़ी वधू को प्राप्त किया है। उस समय उन्होंने सीता के विरह में महान कष्ट उठाया था किन्तु अब उनसे मिल कर उनका हृदय शान्त हो गया है। निराशा से भरे हुए इस ज्ञान को ग्रहण करके हम क्या करेंगी ? इस योग के भार को दासी कुब्जा के सिर पर पटक दें।

उद्धव जी पुनः कहने लगे कि वह ब्रह्म अच्युत है। उसकी दशा जानी नहीं जा सकती और साथ ही वह नाशरहित है। वह तीनों गुणों सेर हित है। वह दासी नहीं रखे हुए हैं। हे गोपियो तुम हमारी बात सुनों। हे ब्रजनारियों वह शून्य रूप है। न कोई दासी है और न कोई (स्वामिनी) जहाँ देखो वहाँ ब्रह्म ही ब्रह्म है। तुम अपने को तथा औरों को ब्रह्म मय ही मानो और ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई वस्तु मानो ही मत।

गोपियों ने कहा कि हे उद्धव ! तुम जो बार बार ये बातें कर रहे हो उन्हें बन्द कर दो क्योंकि तुम्हारा ज्ञान भक्ति का विरोधी है। तुम्हारे उपदेश कर ही क्या सकते हैं जब कि हमारे नेत्र ही हमारे वश से बाहर हैं। वे तो कृष्ण के वियोग में दिन रात जागे रहते हैं। हम तो जीवित भी नन्द के पुत्र कृष्ण को ही देख कर रह सकती हैं। उन्हीं के रूप से हमें प्रेम है। हम पवन का पान (प्राणायाम) नहीं कर सकती। कृष्ण के आगमन से ही हमें सुख प्राप्त हो सकता है और उनकी सुन्दर मूर्ति को देख कर ही हमें शान्ति प्राप्त हो सकेगी। हे उद्धव हमें आपके असत्य वचन बिल्कुल नहीं भाते। हम तुम्हारी इस योग-कथा को ओढ़ें अथवा बिछावें।

गोपियों के इस प्रकार के अटल प्रेम को देखकर उद्धव जी ने कहा कि हे ब्रज बालाओ तुम्हें धन्य है कि तुम्हारे सर्वस्व मदन गोपाल ही हैं। अब मेरी समझ में भी यह बात समा गई है कि वह मत (ज्ञान मार्ग) त्याग करने योग्य है। मुझे तुम्हारे दर्शनों से भक्ति प्राप्त हुई है। तुम मेरी गुरु हो और मैं तुम्हारा सेवक हूं। तुमने भक्ति का यह सन्देश सुनाकर भवसागर के जंजालों से मेरी रक्षा की है। जो व्यक्ति इस भ्रमरगीत को सुनेंगे अथवा दूसरों को सुनावेंगे उन्हें प्रेम-भक्ति प्राप्त होगी। सूरदास जी कहते हैं कि ये गोपियां अत्यन्त सौभाग्य शालिनी हैं जिन्हें भगवान कृष्ण के दर्शनों का जादू लगा हुआ है।

गोपी-वचन

कहो कहाँ ते आए हो।
जानति हौं अनुमान मनो तुम जादवनाथ पठाए हो।।
वैसोई बरन, बसन पुनि वैसेई, तन भूषन सजि ल्याए हो।
सरबसु लै तब संग सिधारे अब का पर पहिराए हो।।

सुनहु, मधुप ! एकै मन सबको सो तो वहाँ लै छाए हौ।
मधुबन की मानिनी मनोहर तहँहि जाहु जहँ भाए हौ॥
अब यह कौन सयानप ? ब्रज पर का कारन उठि धाए हौ।
सूर जहाँ लौ स्यामगात हैं जानि भले करि पाए हौ॥२०॥

शब्दार्थ—जादवनाथ=श्रीकृष्ण। बरन=वर्ण, रंग। का पर= किसे ले जाने के लिए भेजे गये हो। सयानप=चतुरता। जानि=भली प्रकार समझ लिये गये हो।

व्याख्या—गोपिकायें अब उद्धव से पूछती हैं कि कहिये अब आप कहाँ से आये हैं ? हमारा अनुमान है कि संभवतः आपको श्रीकृष्ण ने भेजा है। आपका बिल्कुल वैसा ही रंग-रूप है, वैसे ही वस्त्र हैं तथा वैसे ही आभूषणों से आपने अपना शरीर सजा रखा है। हमारा सर्वस्व तो मथुरा जाते समय कृष्ण ही ले गये थे अब आप क्या ले जाने के लिए पधारे हैं। हे मधुप, सुनो हम सब लोगों के तो एक ही मन है। उसे लेकर आप तो वहाँ जाकर बैठ गये। अब तो आप मथुरा की उन्हीं सुन्दर कामनियों के पास रहो जहाँ आप पसन्द किये जाते हैं। यहाँ आने में आपने कौन सी चतुरता प्रदर्शित की है ? अब ब्रज पर फिर धावा कैसे बोला है ? सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हम काले शरीर वालों को अब खूब जान गई हैं।

विशेष—उद्धव जी को मधुप अर्थात, भ्रमर नाम से सम्बोधन करने के कारण ही इस प्रसंग का नाम भ्रमरगीत पड़ा है।

हमसों कहत कौन की बातें ?
सुनि ऊधो ! हम समुझत नाहीं फिरि पूछति हैं तातें॥
को नृप भयो कंस किन मारयो को बसुधो-सुत आहि ?
यहाँ हमारे परम मनोहर जीअतु हैं मुख चाहि॥
दिन प्रति जात सहज गो चारन गोप सखा लै संग।
बासरगत रजनी मुख आवत करत नयन गति पंग॥
को व्यापक पूरन अविनासी, को बिधि-बेद-अपार ?
सूर वृथा बकवाद करत हो या ब्रज नंद कुमार॥२१॥

शब्दार्थ—आहि=हैं। चाहि= देखकर। बासर-गत=दिन बीतने पर। रजनीमुख= संध्या। पगं=स्तब्ध।

व्याख्या—जब उद्धव जी गोपियों को ब्रह्मज्ञान का उपदेश देते हुए उनसे प्रेम को त्यागने को कहते हैं तो गोपियाँ कहती हैं कि हे उद्धव, तुम हमसे किसकी बातें कर रहे हो ? हे ऊधो ! सुनो, हम समझ नहीं पा रही हैं इसीलिए आपसे पुनः पूँछ रही हैं। राजा कौन हो गया, कंस को किसने मारा, और वसुदेव का पुत्र कौन है ? (वे

कृष्ण जिनके विषय में आप कह रहे हैं, और कोई कृष्ण होंगे) हमारे कृष्ण तो परम सुन्दर हैं जिनका मुख देखे हम जीती हैं। वे तो प्रतिदिन अपने मित्रों के साथ गोचारण को जाते थे और दिन बिता कर जब वे सन्ध्या समय लौटते थे तो नेत्र उन्हें देखकर वहीं चिपके रह जाते थे। तुम जिसे व्यापक, पूर्ण, अविनाशी तथा वेदानुसार अपार कहते हो, वह कौन है? सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने उद्धव से कहा तुम तो व्यर्थ की बकवाद कर रहे हो। ब्रज में तो वे नन्दकुमार ही हैं और नन्दकुमार ही बने रहेंगे।

विशेष—उद्धव जी ने गोपियों को बताया था कि कृष्ण नन्द के पुत्र नहीं हैं वे तो वसुदेव के पुत्र हैं। उन्होंने कंस का वध किया है और मथुरा का शासन सभाला है। अब तो उन्होंने कुछ दूसरे ही क्षेत्र में पदार्पण कर लिया है। अतः वे उनसे व्यर्थ में ही प्रेम कर रही हैं उन्हें तो अब व्यापक, पूर्ण, अविनाशी ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये। तब गोपियों ने उपर्युक्त उत्तर दिया जो अत्यन्त स्वाभाविक एवं मार्मिक कहा जायगा।

तू अलि! कासों कहत बनाय?
बिन समुझे हम फिरि बूझति हैं एक बार कहौ गाय॥
किन वै गवन कीन्हों सकटनि चढ़ि सुफलक सुत के संग?
किन वै रजक लुटाय विविध पट पहिरे अपने अंग?
किन हति चाप निदरि गज मार्‌यो किन वै मल्लमथि जाने?
उग्रसेन वसुदेव देवकी किन वै निगड़ हठि भाने?
तू काकी है करत प्रसंसा, कौने घोष पठायो?
किन मातुल बधि लयो जगत जस कौन मधुपुरी छायो?
माथे मोरमुकुट बनगुंजा, मुख मुरली-धुनि बाजै।
सूरदास जसोदानंदन गोकुल कह न बिराजै॥ २॥

शब्दार्थ—सकट=रथ। रजक=धोबी। हति=तोड़कर। गज=कुवलया पीड़ हाथी। मल्ल=मुष्टिक और चाणूर नामक पहलवान। मथि जाने=पछाड़ा। निगड़ भाने=बेड़ी तोड़ी। घोष=अहीरों की बस्ती। मातुल=मामा (कंस)

व्याख्या—हे भौंरे, तुम किसके बारे बना बना कर कह रहे हो? हम तनिक समझ नहीं पा रही हैं अतः आप एक बार फिर से गाकर यथार्थ समझाकर कहो अक्रूर के साथ गाड़ी में बैठ कर कौन गया था? धोबी को लूट करके विविध प्रकार के राजसी वस्त्र किसने पहने थे? धनुष किसने तोड़ा था? कुवलया पीड़ हाथी तथा चाणूर पहलवान को किसने मारा था? उग्रसेन (कंस के पिता) वसुदेव और देवकी की बेड़ियों को तोड़ कर उन्हें किसने कैदखाने से छुड़ाया था? तुम किसकी प्रशंसा

सुनहु, मधुप ! एकै मन सबको सो तो वहाँ लै छाए हो।
मधुबन की मानिनी मनोहर तहँहि जाहु जहँ भाए हो॥
अब यह कौन सयानप ? व्रज पर का कारन उठि धाए हो।
सूर जहाँ लौ स्यामगात हैं जानि भले करि पाए हो॥२०॥

शब्दार्थ—जादवनाथ=श्रीकृष्ण। बरन=वर्ण, रंग। का पर=किसे ले जाने के लिए भेजे गये हो। सयानप=चतुरता। जानि=भली प्रकार समझ लिये गये हो।

व्याख्या—गोपिकायें अब उद्धव से पूछती हैं कि कहिये अब आप कहाँ से आये हैं ? हमारा अनुमान है कि संभवतः आपको श्रीकृष्ण ने भेजा है। आपका बिल्कुल वैसा ही रंग-रूप है, वैसे ही वस्त्र हैं तथा वैसे ही आभूषणों से आपने अपना शरीर सजा रखा है। हमारा सर्वस्व तो मथुरा जाते समय कृष्ण ही ले गये थे अब आप क्या ले जाने के लिए पधारे हैं। हे मधुप, सुनो हम सब लोगों के तो एक ही मन है। उसे लेकर आप तो वहाँ जाकर बैठ गये। अब तो आप मथुरा की उन्हीं सुन्दर कामनियों के पास रहो जहाँ आप पसन्द किये जाते हैं। यहाँ आने में आपने कौन सी चतुरता प्रदर्शित की है ? अब व्रज पर फिर धावा कैसे बोला है ? सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हम काले शरीर वालों को अब खूब जान गई हैं।

विशेष—उद्धव जी को मधुप अर्थात, भ्रमर नाम से सम्बोधन करने के कारण ही इस प्रसंग का नाम भ्रमरगीत पड़ा है।

हमसों कहत कौन की बातें ?
सुनि ऊधो ! हम समुझत नाहीं फिरि पूछति हैं तातें॥
को नृप भयो कंस किन मारयो को बसुयौ-सुत आहि ?
यहाँ हमारे परम मनोहर जीजतु हैं मुख चाहि॥
दिन प्रति जात सहज गो चारन गोप सखा लै संग।
बासरगत रजनी मुख आवत करत नयन गति पंग॥
को व्यापक पूरन अविनासी, को विधि-वेद-अपार ?
सूर वृथा बकवाद करत हो या ब्रज नंद कुमार॥२१॥

शब्दार्थ—आहि=है। चाहि= देखकर। बासर-गत=दिन बीतने पर। रजनीमुख= संध्या। पंग=स्तब्ध।

व्याख्या—जब उद्धव जी गोपियों को ब्रह्मज्ञान का उपदेश देते हुए उनसे प्रेम को त्यागने को ... हमसे किसकी बातें कर ... पुनः पूछ रही ... कौन है ? (वे

कृष्ण जिसके विषय में आप कह रहे हैं, और कोई कृष्ण होंगे) हमारे कृष्ण तो परम सुन्दर हैं जिनका मुख देखे हम जीती हैं। वे तो प्रतिदिन अपने मित्रों के साथ गोचारण को जाते थे और दिन बिता कर जब वे सन्ध्या समय लौटते थे तो नेत्र उन्हें देखकर वहीं चिपके रह जाते थे। तुम जिसे व्यापक, पूर्ण, अविनाशी तथा वेदानुसार अपार कहते हो, वह कौन है? सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने उद्धव से कहा तुम तो व्यर्थ की बकवाद कर रहे हो। ब्रज में तो वे नन्दकुमार ही हैं और नन्दकुमार ही बने रहेंगे।

विशेष—उद्धव जी ने गोपियों को बताया था कि कृष्ण नन्द के पुत्र नहीं हैं वे तो वसुदेव के पुत्र हैं। उन्होंने कंस का वध किया है और मथुरा का शासन सम्भाला है। अब तो उन्होंने कुछ दूसरे ही क्षेत्र में पदार्पण कर लिया है। अतः वे उनसे व्यर्थ में ही प्रेम कर रही हैं उन्हें तो अब व्यापक, पूर्ण, अविनाशी ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये। तब गोपियों ने उपर्युक्त उत्तर दिया जो अत्यन्त स्वाभाविक एवं मार्मिक कहा जायगा।

तू अलि! कासों कहत बनाय?
बिन समुझे हम फिरि बूझति हैं एक बार कहौ गाय॥
किन वै गवन कीन्हों सकटनि चढ़ि सुफलक सुत के संग?
किन वै रजक लुटाय बिबिध पट पहिरे अपने अंग?
किन हति चाप निदरि गज मार्यो किन वै मल्ल मथि जाने?
उग्रसेन बसुदेव देवकी किन वै निगड़ हठि भाने?
तू काको है करत प्रसंसा, कौने घोष पठायो?
किन मातुल बधि लयो जगत जस कौन मधुपुरी छायो?
माथे मोरमुकुट बनगुंजा, मुख मुरली-धुनि बाजै।
सूरदास जसोदानंदन गोकुल कहँ न बिराजै॥ २॥

शब्दार्थ—सकट=रथ। रजक=धोबी। हति=तोड़कर। गज=कुवलया पीड़ हाथी। मल्ल=मुष्टिक और चाणूर नामक पहलवान। मथि डारे=पछाड़ा। निगड़ भाने—बेड़ी तोड़ी। घोष=अहीरों की बस्ती। मातुल=मामा (कंस)

व्याख्या—हे भौंरे, तुम किसके बारे बना बना कर कह रहे हो? हम ठीक समझ नहीं पा रही हैं अतः आप एक बार फिर से गाकर अर्थात समझाकर कहो। अक्रूर के साथ गाड़ी में बैठ कर कौन गया था? धोबी को लूट कर उसके विविध प्रकार के कपड़े किसने पहने थे? धनुष किसने तोड़ा था? कुवलया पीड़ हाथी तथा चाणूर पहलवान को किसने मारा था? उग्रसेन (कंस के पिता) वसुदेव और देवकी की बेड़ियों को तोड़ कर उन्हें किसने बंधन से छुड़ाया था? तुम किसकी [illegible]

करते हो ? तुम्हें इस पुरवा में किसने भेजा ? मामा की हत्या कर किसने यश प्राप्त किया तथा कौन मथुरा में राज्य कर रहा है ? हमारे यहाँ तो मयूर पंखों का मुकुट धारण किये हुए मुख से मुरली बजाता हुआ जसोदानन्दन ही सब कुछ है । सूरदासजी कहते हैं कि गोपियों ने उद्धव से पूछा कि बताओ आज भी यह जसोदानंदन भला कहाँ विराजमान नहीं है ?

विशेष—इस पद में तीन अंतर्कथायें हैं—

(१) अक्रूर के साथ मथुरा पहुँचकर श्रीकृष्ण ने कंस के धोबी से राजसी वस्त्र पहनाने को कहा। धोबी ने ऐसा करने में आनाकानी की तो कृष्ण ने उसके वस्त्र लुटवा दिये और उसे परलोक पहुँचा दिया । तब एक जुलाहे ने उन्हें सुन्दर राजसी वस्त्र पहना दिये । सुदामा नामक माली ने उन्हें मालायें भेंट में दीं । उक्त दोनों व्यक्ति इस प्रकार कृष्ण के कृपा-पात्र बने । देखिये-भागवत पुराण दशम स्कन्ध के ४१ वें अध्याय में श्लोक ३२-५० ।

(२) कृष्ण ने कंस की धनुशाला में प्रवेश कर प्रहरियों से सुरक्षित इन्द्रधनुष को तोड़ डाला था और वहाँ के पहलवान प्रहरियों को मौत के घाट उतार दिया था। देखिये-भागवत के दशम स्कन्ध में ४२ वां अध्याय ।

(३) कुवलया पीड हाथी तथा चाणूर पहलवान जो कंस ने पाल रखे थे। कृष्ण ने मारे थे। मुस्टिक पहलवान को बलराम ने मारा था । देखिये-भागवत के दशम स्कंध में ४२, ४३, और ४४ वां अध्याय ।

> जीवन मुंह चाही को नीको ।
> दरस परस दिन रात करति है कान्ह पियारे पी को ॥
> नयनय मूंदि मूंदि किन देखौ बँध्यो ज्ञान पोथी को ।
> आछे सुंदर स्याम मनोहर और जगत सब फीको ॥
> सुनो जोग को का लै कीजै यहाँ ज्यान है जी को ।
> खाटी मही नहीं रुचि मानै सूर खवैया घी को ॥२३॥

शब्दार्थ—मुंह चाही—प्रिया । आछे—अच्छे । ज्यान—हानि । मही—मट्ठा ।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हम (गोपियाँ) विरह की सब व्यथाओं को सहन करते हुए भी श्रीकृष्ण को ही चाहती हैं। जीवन तो उसी का सफल है जो अपने प्रेमी की प्रेमिका हो तथा सदा प्रेम-पात्र का मुख देखते हुए जीवन व्यतीत करे। वह (कुब्जा) धन्य है जो हमारे प्राण प्रिय कृष्ण को दिन रात प्रेम-पूर्वक स्पर्श करती है । भले ही पोथियों के ज्ञान का आधार लेकर नेत्र बन्द करके तथा ध्यान लगाकर · को देखने का कोई प्रयत्न करे, किन्तु हमारे अच्छे और सुन्दर कृष्ण के आगे

सारा जगत फीका है। हे उद्धव, सुनो, जिस साधना से स्त्री को अनेक हानियाँ हैं उस योग को अपनाने से क्या लाभ ? यहाँ खट्टा मट्ठा पसन्द नहीं है। सूर तो घी का खाने वाला है।

विशेष—लोकोक्ति। छेकानुप्रास तथा वृत्यानुप्रास की छटा देखने योग्य है।

आयो घोष बड़ो व्यापारी।
लादि खेप गुन ज्ञान जोग की ब्रज में आय उतारी॥
फाटक दै कर हाटक माँगत भोरै निपट सु धारी।
धुर ही ते खोटो वगयो है लये फिरत सिर भारी॥
इनके कहे कौन डहकावै ऐसी कौन अजानी।
अपनो दूध छाड़ि को पीवै खार कूप को पानी॥
ऊधो जाहु सवार यहाँ ते बेगि गहरु जनि लावो।
मुँह मांग्यो पैहो सूरज प्रभु साहुहि आनि दिखावो॥२४

शब्दार्थ—खेप=माल का बोझ। फाटक=फटकन। हाटक=सोना। धारी=समझकर। धुर=आरम्भ। डहकावै=ठगाए। सवार=सवेरे। गहरु=विलंब। साहु=महाजन।

व्याख्या—गोपियाँ निर्गुण को सार रहित बताती हुई तथा उद्धव पर व्यंग्य करती हुई कहती हैं कि सखियो, आज तो हमारे गांव में एक बड़ा भारी व्यापारी आया है। उसने ज्ञान और योग की खेप ब्रज में आकर उतारी है। हमें बिल्कुल अज्ञानी समझकर हमसे स्वर्ण लेकर अपना तुच्छ माल (फटकन) हमें देना चाहता है। आरम्भ से ही इसे तो खोटी कमाई करने की आदत पड़ी हुई है और सिर पर खराब माल का बोझ लादे फिरता है। किन्तु यहाँ उसकी ठगाई में भला कौन आ सकता है ? यहाँ कोई ऐसा अज्ञानी नहीं है कि अपने दूध को छोड़ कर खारी कुएँ का पानी पियेगा (कृष्ण का प्रेम दूध है और योग खारी पानी)। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हे उद्धव, यहाँ से तुम शीघ्र ही चले जाओ विलम्ब न करो। यदि तुम कृष्ण जी (महाजन) को यहाँ लाकर हमें दिखा दो तो हम तुम्हें मुँह मांगा पुरस्कार देंगी।

विशेष—अंतिम पंक्ति का कुछ लोग यह अर्थ भी लगाते हैं कि हे उद्धव ! तुम अपने माल को किसी साहू को दिखाओ, वहाँ तुम्हें मुँह मांगी कीमत मिल जायगी। इसमें तिरस्कृत वाच्य ध्वनि है। तुम्हें कुछ न मिलेगा। शायद कुछ दंड देकर छूट जाओ। रूपक और अन्योक्ति का संकर भी दर्शनीय है।

हम तो नंद घोष की बासी।
नाम गोपाल, जाति कुल गोपहिं, गोप-गोपाल उपासी॥

गिरवरधारी, गोधनचारी, वृन्दावन-अभिलासी।
राजा नंद, जसोदा रानी, जलधि नदी जमुना सी॥
प्रान हमारे परम मनोहर कमल नयन सुखरासी।
सूरदास प्रभु कहौ कहाँ लौं अष्ट महासिधि दासी॥२५

शब्दार्थ—घोष=ग्राम अथवा स्थान। उपासी=उपासिका। अभिलासी=अनुरागी। जलधि=समुद्र। सुखरासी=सुख की राशि।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव जी से कह रही है कि हम तो नंदजी के ग्राम अथवा स्थान को रहने वाली हैं नाम से गोपालक जाति और कुल से गोप हैं। गोप होने के नाते गोपाल की उपासिका हैं। हमारे इष्टदेव गिरवरधारी, गोधनधारी तथा वृन्दावन से अनुराग रखने वाले हैं। हमारे राजा नन्द हैं तथा रानी जसोदा हैं। यमुना नदी ही हमारे लिए सागर के समान है। हमारे प्राणप्रियप्रिय, परमसुन्दर एवं सुखराशि श्रीकृष्ण हैं। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि कहाँ तक कहा जाय आठों महासिद्धियाँ हमारी दासी हो गई हैं। कहने का भाव यह है कि जब भगवान श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम रखने से हमें सब कुछ अनायास ही प्राप्त हो गया है तो फिर निर्गुण की उपासना करके क्या और लेना है।

विशेष—आठों महासिद्धियाँ निम्नलिखित हैं—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिता, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व तथा वशित्व।

गोकुल सबै गोपाल-उपासी।
जोग-अंग साधत जे ऊधो ते सब बसत ईसपुर कासी॥
यद्यपि हरि हम तजि अनाथ करि तदपि रहति चरननि रसरासी।
अपनी सीतलताहि न छाँड़ति यद्यपि है ससि राहु-गरासी॥
का अपराध जोग लिखि पठवत प्रेम भजन तजि करत उदासी।
सूरदास ऐसी को बिरहिन माँगति मुक्ति तजे गुनरासी॥२६

शब्दार्थ—जोग अंग=अष्टांग योग। ईसपुर=शिव की पुरी। रसरासी=रस में पगी हुई। गरासी=ग्रसना। उदासी=विरक्त।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि यहाँ गोकुल में तो सभी गोपाल की उपासना करने वाले हैं। जो लोग योग के अंगों यम नियम की साधना करते हैं वे सब तो शिव की नगरी काशी में रहते हैं। यद्यपि श्रीकृष्ण ने हमको त्याग दिया है और हम अनाथ हो गई हैं तो भी हम उन्हीं के चरणों के ध्यान में मग्न हैं। राहु द्वारा ग्रसित होने पर भी चन्द्रमा अपनी शीतलता का त्याग नहीं करता। ऐसा हमने क्या अपराध हो गया है कि जो प्रेम-भजन छोड़कर योग लिखकर हमारे लिए भेजा है।

भला यह सम्भव ही कैसे है कि हम कृष्ण से प्रेम करना छोड़कर उदासीन हो जायें। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि भला ऐसी कौन विरहिणी होगी जो गुण की राशि को त्याग कर मुक्ति चाहेगी। अर्थात हममें कोई ऐसी नहीं है जो श्रीकृष्ण को त्याग कर मुक्ति की इच्छा करेगी।

विशेष—सच्चा तथा अडिग प्रेम इसी प्रकार का होता है कि चाहे एक पक्ष कितना भी कष्ट दे किन्तु दूसरा पक्ष तब भी प्रेम करना न छोड़े। प्रेम की महानता इसी में है।

> ए अलि ! कहा जोग में नीको।
> तजि रस रीति नंद नंदन की सिखवत निर्गुन फीको।।
> देखत सुनत नाहिं कछु स्रवननि, ज्योति ज्योति करि ध्यावत।
> सुन्दरस्याम दयालु कृपानिधि कैसे हौ बिसरावत।।
> सुनि रसाल मुरली-सुर की धुनि सोइ कौतुक रस भूलै।
> अपनी भुजा ग्रीव पर मेलै गोपिन के सुख फूलै।।
> लोककानि कुल को भ्रम प्रभु मिलि-मिलि कै घरबन खेली।
> अब तुम सूर खवावन आए जोग जहर की बेली।। २७

शब्दार्थ—नीको=अच्छाई। मेलै=डालते थे। खेली=खेल डाला कुछ न समझा। लोककानि=लोक की मर्यादा। कुल=कुल की प्रतिष्ठा।

व्याख्या—सगुण भक्ति की उत्कृष्टता तथा निर्गुण की निकृष्टता प्रगट करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे भौंरे, जोग में क्या अच्छाई है जो तुम श्रीकृष्ण की प्रेम पद्धति को त्याग कर फीके निर्गुण की साधना सिखा रहे हो। तुम योगियों को समाधि में न कुछ नेत्रों से दिखाई पड़ता है और न कानों से सुनाई देता है। तुम तो यों ही 'ज्योति ज्योति' कह कर ध्यान किया करते हो। ऐसी दशा में भला सुन्दर, दयालु कृपानिधि कृष्ण को कैसे विस्मृत किया जा सकता है ? उनकी मधुर मुरली की तान सुनकर उसी के विचित्र आनन्द में जब गोपियाँ आनन्द विभोर हो उठती थीं तब वे श्याम अपनी भुजाओं को गले में डाल देते थे। उस समय गोपियों के आनन्द की सीमा नहीं रहती थी। लोक की मर्यादा तथा कुल की प्रतिष्ठा के भ्रान्तिपूर्ण विचारों को हमने कृष्ण के साथ मिलकर और वन में खेलकर समाप्त कर डाला। अब जब इस प्रकार सब कुछ हो चुका, अब जब हमने लोक लज्जा का परित्याग कर दिया तब तुम योगरूपी विष की बेल खिलाने आये हो।

विशेष—रूपक अलंकार मनोहर योजना दृष्टव्य है।

> हमरैं कौन जोग व्रत साधै।
> मृग त्वचा, भस्म, अधारि, जटाको को इतनौ अवराधै।।

जाको कहूँ थाह नहिं पैए अगम, अपार, अगाधै।
गिरघर लाल छबीले मुख पर इते बाँध को बाँधै॥
आसन पवन विभूति मृगछाला ध्याननि को अवराधै।
सूरदास मानिक परिहरि कै राख गाँठि को बाँधै॥ २८

शब्दार्थ—साधै=साधन करे। अधारि=साधुओं के टेकने की लकड़ी। अवराधै=आराधना करे। बाँध=आडम्बर।

व्याख्या—योग की नीरसता तथा कठिनता एवं सगुण-भक्ति की सरसता तथा सुगमता पर प्रकाश डालते हुए गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि कौन योग-व्रत की साधना करे? मृगछाला, भस्म साधुओं की टेकनी तथा जटा आदि का कौन प्रबन्ध करे? और यह भी किसके लिए? अगम्य, अपार और अगाध परमब्रह्म जैसी कपोल-कल्पित वस्तु के लिए? हमारे परम मनोहर कृष्ण के दर्शन के लिए इन आडम्बरों की कोई आवश्यकता नहीं है। जब योग-मार्ग इतना कठिन मार्ग है तो भला फिर इस मार्ग के आसन, प्राणायाम, भभूत, मृगछाला और समाधि के चक्कर में कौन फँसना चाहेगा? सरल और सरस प्रेम-पथ को ही क्यों न अपना लिया जायगा? सूरदासजी कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि भला कौन ऐसा होगा कि जो कृष्ण के समान मोती को छोड़कर राख को स्वीकार करेगा?

विशेष—प्रस्तुत पद में सूर ने सगुण-मार्ग की सरलता और निर्गुण-मार्ग की जटिलता पर प्रकाश डालकर निर्गुण का खंडन तथा सगुण का मंडन बड़ी सुन्दरता से किया है। वस्तुतः निर्गुण-मार्ग देहधारियों के लिए बड़ा ही कठिन मार्ग है। गीता का यह श्लोक भी देखिये इसी बात की पुष्टि कर रहा है—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

जोग ठगौरी ब्रज न बिकै है।
यह ब्योपार तिहारो ऊधो! ऐसोई फिरि जैहै॥
जापै लै आए हो मधुकर ताके उर न समैहै।
दाख छाँड़ि कै कटुक निबौरी को अपने मुख खैहै?
मूरी के पातन के केना को मुक्ताहल दैहै।
सूरदास प्रभु गुनहि छाँड़ि कै को निर्गुन निरबैहै? ॥२६॥

शब्दार्थ—ठगौरी=ठगने का सौदा। निबौरी=नीम का फल। केना=मोल। मुक्ताहल=मोती। निरबैहै=खायेगा।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि तुम्हारी ठगाई का सौदा इस ब्रज में नहीं बिक सकता। तुम्हारा यह सामान ऐसे ही वापिस फिर जायगा। जिसके तुम यह सौदा लाए हो वह तो उसको भी न जँचेगा। भला ऐसा कौन होगा जो अंगूर छोड़कर कड़वी निबौरी खाना पसन्द करेगा। भला ऐसा कौन मूर्ख होगा जो मूली के पत्तों के [illegible] के बदले मोती देगा? सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि भला ऐसा

कौन होगा जो सगुण को छोड़कर तुम्हारे निर्गुण को अपनायेगा ?

विशेष—रूपक, तुल्ययोगिता तथा अन्योक्ति अलंकार की छटा देखने योग्य है।

आए जोग सिखावन पाँड़े ।
परमारथी पुराननि लादे ज्यों बनजारे टाँड़े ॥
हमरी गति पति कमलनयन की जोग सिखें ते राँड़े ।
कहौ, मधुप, कैसे समायँगे एक म्यान दो खाँड़े ॥
कहु षटपद, कैसे खैयतु है हाथिन के संग गाँड़े ।
काकी भूख गई बयारि भखि बिना दूध घृत माँड़े ॥
काहे को झाला लै मिलवत, कौन चोर तुम डाँड़े ।
सूरदास तीनों नहिं उपजत धनियाँ धान कुम्हाँड़े ॥ ३०

शब्दार्थ—बनजारे=व्यापारी । टाँड़े=व्यापार का माल । गति=शरण पति=प्रतिष्ठा । राँड़े=अकेला, जिसके कोई न हो । गाँड़े=गन्ने का कटा हुआ टुकड़ा । झाला=बकवाद । डाँड़े=दंड दिया । धनियाँ धान कुम्हाँड़े=धनियाँ धान और कुम्हड़ा ।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि पाँडेजी महाराज आज योग की शिक्षा देने आए हैं । तुम अध्यात्मवादी पुराणों को ऐसे लादे फिरते हो जैसे कोई व्यापारी माल लादे फिरता हो । हमारी तो एक मात्र शरण और अवलम्ब कमलनयन श्री कृष्ण हैं । आपका यह योग तो राँड (पति विहीनायें) ही सीख सकती हैं । हम तो सुहागिन हैं । हे मधुप, तुम्हीं बताओ कि भला एक म्यान में दो तलवारें कैसे समा सकती हैं ? कहने का भाव यह है कि जब हमारे मन में श्रीकृष्ण विराजमान हैं तो भला किसी दूसरे की स्थिति कैसे हो सकती है क्योंकि मन तो एक ही है । हे षटपद अर्थात और भला स्पर्धा मात्र से हाथियों के साथ गन्ने कैसे खाये जा सकते हैं ? बिना दूध घी, चावल आदि के खाये केवल हवा खाने से ही किसी की भूख कैसे शान्त हो सकती है, हे ऊधो ! तुम हमसे व्यर्थ की बकवाद क्यों कर रहे हो ? तुम तो ऐसी बातें कर रहे हो जैसे किसी चोर की चोरी पकड़ कर उसे डाँट रहे हो । सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि धनियाँ, धान और कुम्हड़े साथ साथ पैदा नहीं हुआ करते । भिन्न भिन्न समयों में भिन्न भिन्न स्थितियों में ही इनकी उत्पत्ति संभव है । सारांश यह है कि प्रेम और योग दोनों भिन्न भिन्न वस्तु हैं अतः दोनों एक साथ नहीं चल सकते । हम प्रेम पथ पर आरूढ़ हैं तो भला आपका योग धारण कैसे कर सकती हैं ।

विशेष—'ज्यों बनजारे टाड़े' में उपमालंकार तथा ४, ५, और ७ वीं पंक्ति में लोकोक्ति अलंकार की छटा दृष्टव्य है

हमतें हरि कबहूँ न उदास ।
राति खवाय पिवाय अधररस सो क्यों बिसरत ब्रज को बास ॥
तुमसों प्रेम कथा को कहिबो मनहुँ काटिबो घास ।
बहिरी तान स्वाद कह जानै, गूँगा बात मिठास ॥

गुपुरी सखी बहुरि ऐ हैं वे सुख बिबिध बिलास।
सूरदास ऊधो अब हमको भयो तेरहों मास ॥३१

व्याख्या—उद्धव जी ने गोपियों से कहा था कि आजकल श्रीकृष्ण राजकाज में इतने व्यस्त हैं कि उन्हें प्रेम करने का अवकाश ही नहीं है। गोपियाँ इसी बात का उत्तर देती हुई कहती हैं कि हमारे कृष्ण हमसे कभी भी उदास नहीं हो सकते। जिस व्रज में हमने उन्हें प्यार से खिलाया और अधरामृत का पान कराया वह व्रज का निवास क्या कोई भूलने की वस्तु है ? परन्तु ऊधो ! तुम तो नीरस व्यक्ति हो, तुमसे तो प्रेम कथा का कहना मानो घास काटना है अर्थात निरर्थक है। बहिरा आदमी स्वर की मधुरता को भला क्या समझ सकता है ? गूगा आदमी वचनों की मधुरता के मर्म को भला क्या जान सकता है ? अब गोपी अपनी सखी से कहती हैं कि मुझे पूर्ण विश्वास है कि वे सुख और अनेक प्रकार के आनन्द के दिन फिर आवेंगे। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हे ऊधो, हमें प्रतीक्षा करते करते अब तेरहवाँ महीना लग गया है अर्थात बहुत दिन हो गये हैं। अब वे अवश्य आवेंगे।

विशेष—तीसरी पंक्ति में निदर्शना तथा चौथी पंक्ति में दृष्टान्त अलंकार दर्शनीय है।

तेरो बुरो कोऊ न मानै।
रस की बात मधुप नीरस, सुनु, रसिक होत सो जानै ॥
दादुर बसै निकट कमलन के जन्म न रस पहिचानै।
अलि अनुराग उड़न मन बाँध्यो कहे सुनत नहिं कानै ॥
सरिता चलै मिलन सागर को कूलमूल द्रुम भानै।
कायर बकै लोह तै भाजै, लरै जो सूर बखानै ॥

शब्दार्थ—भानै=तोड़ती है। लोह=लोहा, हथियार। सूर=शूरवीर; सूरदास।

व्याख्या—उद्धव ने जब बार बार वही सन्देश दुहराया तो गोपियाँ व्यंग्य करती हुई उनसे कहने लगी कि कहे जा। ऊधो ! तेरे कहे का यहाँ कोई बुरा नहीं मानता। हे भौंरे, प्रेम की बात तो कोई प्रेमी ही जान सकता है। तुम क्या जानो। मेंढक जन्म भर कमलों के निकट रहता है किन्तु जन्म भर वह कमल के रस को नहीं समझ सकता। भौंरा उससे बहुत दूर रहता है किन्तु उसके रस का महत्व समझता है। वह उसे पाने के लिए दिन रात उड़ान भरता है, किसी का कहना नहीं मानता। माने भी क्यों ? प्रेम पथ का साधक कठनाइयों से कभी नहीं घबराता। वह तो निरन्तर अपनी धुन में मस्त रहता है। देखो नदी और सागर का प्रेम है। नदी जब अपने प्रियतम सागर से मिलने को चलती है तो तट और तट के वृक्ष आदि उसके मार्ग में बाधक बनते हैं। किन्तु क्या वह रुकती है ? नहीं वह तो उन्हें हटाती हुई आगे बढ़ती ही चली जाती है। कायर केवल बकवाद ही करते हैं और रणभूमि से भाग लेते हैं। सच्चा शूर वही है जो डट कर संघर्ष करे। अर्थात हे ऊधो ! तुम हमें कितना ही रोको किन्तु हम अपने प्रेम मार्ग पर आरूढ़ ही रहेंगी।

विशेष—दृष्टान्त अलंकार का प्रयोग देखने योग्य है।

पूरनता इन नयनन न पूरी।
तुम जो कहत स्रवननि सुनि समुझत, ये याही दुख मरति बिसूरी॥
हरि अंतर्यामी सब जानत बुद्धि विचारत बचन समूरी।
वे रस रूप रतन सागर निधि क्यों मनि पाय खवावत धूरी॥
रहु रे कुटिल, चपल, मधुलपट, कितव सँदेस कहत कटु कूरी।
कहँ मुनि ध्यान कहाँ ब्रज युवती। कैसे जात कुलिस करि चूरी॥
देखु प्रगट सरिता, सागर सर सीतल सुभग स्वाद रुचि रूरी।
सूर स्वातिजल बसै जिय चातक चित लागत सब झूरी॥३३॥

शब्दार्थ—बिसूरी=बिलख कर। समूरी=जड़ मूल से। सागरनिधि=महासमुद्र। धूरी=धूल। कितव=धूर्त, छली। कूरी=निष्ठुर। कुलिस=वज्र। रूरी=अच्छी। झूरी=नीरस।

व्याख्या—उद्धव जी की यह बात कि कृष्ण तो परमब्रह्म हैं गोपियों को नहीं जँचती। वे कहती हैं कि तुमने जो उन्हें पूर्ण कहा, हमारी दृष्टि में यह बात नहीं जँची। तुम जो कहते हो कि कानों से सुनकर योग की बातें हमें समझनी चाहिये और कृष्ण को भूल जाना चाहिये, किन्तु हमें यह बात नहीं जँचती और इसीलिये ये हमारे नेत्र बिलखते हैं। सब जानते हैं कि हरी अन्तर्यामी हैं। हम जब अपनी पूर्ण बुद्धि से विचार करती हैं तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचती हैं कि हरि तो प्रेम-सागर की निधि हैं। जब वह मणि हमको प्राप्त हो गई तो तुम फिर हमसे योग की धूल चाटने को क्यों कह रहे हो? रे चंचल, कुटिल, मधुलोभी धूर्त भौंरे! बस चुप रह, तू छल से भरा हुआ संदेश क्रूरतापूर्वक हमसे क्यों कहता है? कहाँ तो मुनियों की समाधि और कहाँ हम ब्रज युवतियाँ। भला कहीं वज्र भी चूर्ण किया जा सकता है? सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने उद्धव से कहा कि हे, उद्धव, भला तू ही सोच कर देख कितने नद, नदी, सागर और तालाब शीतल और स्वादिष्ट जल से भरे पड़े हैं किन्तु चातक के मन में स्वाति जल की ही लगन लगी रहती है। उसको स्वाति जल के अतिरिक्त और सब कुछ नीरस ही प्रतीत होता है। कहने का भाव यह है कि योग मार्ग चाहे कितना ही भी उत्तम क्यों न हो (शीतल और स्वादिष्ट जल की भाँति) किन्तु ये गोपियाँ चातक की भाँति स्वाति जल अर्थात कृष्ण से ही अपनी लगन रखती हैं। उन्हें कृष्ण के अतिरिक्त और सब वस्तुएँ तुच्छ प्रतीत होती हैं।

विशेष—तुलसी ने भी चातक के इस गुण का निम्न प्रकार से वर्णन किया है।

"जीव चराचर जहँ लगें। है सबको हित मेह।
तुलसी चातक मन बस्यो घन सों सहज सनेह॥"
हम तो दुहूँ भाँति फल पायो।
जो ब्रजनाथ मिलैं तो नीको। नातरु जग जस गायो॥

कहँ वै गोकुल की गोपी सब बरन हीन लघु जाती।
कहँ वै कमला के स्वामी संग मिलि बैठी इक पाँती॥
निगम ध्यान मुनि ज्ञान अगोचर, ते भए घोष निवासी।
ता ऊपर अब साँच कहौ धौं मुक्ति कौन की दासी॥
जोग-कथा, पा लागौं ऊधो, ना कहु बारबार।
सूर स्याम तजि और भजै जो ताकी जननी छार॥३४॥

शब्दार्थ—नातरु=नहीं तो। बरनहीन=हीनवर्ण। पा लागौं=पैर पड़ती हूँ। छार=भस्म, राख।

व्याख्या—जब उद्धव जी ने यह कहा कि प्रेम-मार्ग विरह-व्यथा का कष्ट असहनीय होता है और योग में विरह की आशंका ही नहीं है अतः योग मार्ग ही श्रेष्ठतर है तो गोपियों ने कहा कि हमें तो दोनों प्रकार से ही फल मिलेगा यदि हमें ब्रजनाथ कृष्ण की प्राप्ति हो गई तो अच्छा है ही। यदि ऐसा नहीं हुआ और हम इस प्रकार ही विरह-व्यथा में जल कर मर गईं तो हमें हमारे उत्कट प्रेम का यश प्राप्त होगा। इस प्रकार हमारे तो दोनों हाथों में लड्डू हैं। भला कहाँ तो हम *गोकुल की नीच जाति की गोपियाँ और कहाँ लक्ष्मी के स्वामी कृष्ण।* जब इनके साथ हम भी एक पंक्ति में बैठेंगी अर्थात हमारा नाम भी उनके साथ लिया जायगा। तो यह हमारा अहोभाग्य ही तो है। शास्त्रीय मनन तथा मुनियों के ज्ञान के लिए भी जो अगम्य रहे वे हमारी बस्ती के वासी बन गये। क्या इससे बढ़कर हमारे *लिए कुछ और बात हो सकती है? अब तुम्हीं सच बोलो कि भला मुक्ति किसकी* दासी हुई? अतः हे उद्धव, हम तुम्हारे पैरों पड़ती हैं, इस योग कथा को बार बार मत कहो। सूरदास जी कहते हैं कि हमारी सम्मति में तो जो श्याम को छोड़कर किसी और की उपासना करता है उसकी माता राख है अर्थात तुच्छ है।

विशेष—इस पद में एक बात बहुत महत्वपूर्ण आई है। *प्रेमी प्राप्त हो जाय* तो भी अच्छा और न हो तो भी अच्छा उर्दू के कवि तो वस्ल से ज्यादा मजा इन्तजार में समझते हैं। वे तो देखिये यहाँ तक कहते हैं—

'वह देखते हैं वे बेखो से देखते तो हैं।
मैं शाद हूँ कि हूँ तो किसी की निगाह में॥'
'लुत्फे मंजिल क्या जो कायम रह गये होशो हवास।
लुत्फ पाने में नहीं है बलकि खो जाने में है॥'

लरिकाई को प्रेम, कहौ अलि, कैसे करि कै छूटत?
कहा कहौं ब्रजनाथ-चरित अब अंतर गति यौं लूटत॥
चंचल चाल मनोहर चितवनि, वह मुसुकानि मंद धुनि गावत।
नटवर भेस नंदनंदन को वह विनोद गृह बन तें आवत॥
चरन कमल की सपथ करति हौं यह संदेश मोहि विष सम लागत।
सूरदास मोहिं निमिष न बिसरत मोहन मूरति सोवत जागत॥३५॥

शब्दार्थ—लरिकाई=लड़कपन, बचपन, बाल्यावस्था। अन्तरगति=चित्त की वृत्ति, मन। सौंह=शपथ।

व्याख्या—गोपिका ऊधो से कहती हैं कि बाल्यावस्था से जो हमारा प्रेम-सम्बन्ध कृष्ण से चला आ रहा है, वह भला अब कैसे छूट सकता है ? मैं व्रजनाथ श्रीकृष्ण के चरितों की मोहकता का वर्णन कहाँ तक करूँ। जब उनका स्मरण हो जाता है तो तन मन की सारी सुधि खो बैठती हूँ। वह घुटपुटी चाल, मनोहर चितवन, मुस्काना तथा मंद स्वरों से गाना, नटवरवेश तथा वृंदावन जाकर ग्वाल-बालों के साथ अनेक क्रीड़ायें करते हुए घर लौटना आदि सब बातों को भुलाना सहज नहीं है। सभी में एक अद्भुत आकर्षण है। गोपी कहती हैं कि मैं उनके चरण कमलों की सौगन्ध खाकर कहती हूँ कि मुझे यह योग-सन्देश विष के समान लगता है। *मनमोहन कृष्ण की वह सुन्दर मूर्ति दिन-रात सोते-जागते कभी भी एक क्षण के लिए हमारे नेत्रों से दूर नहीं होती।*

विशेष—सूर की गोपियों और कृष्ण का प्रेम बचपन का प्रेम है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि बचपन के संस्कार अमिट रहते हैं। बचपन की क्रीड़ायें विस्मृत करना सहज नहीं है।

कृष्ण की चितवन और मुस्कान के विषय में देखिये रसखानि भी कुछ ऐसा ही कह रहे हैं—

"जैसे धुनि बाँसुरी की मधुर मधुर तैसो;
बंक चितवनि मंद मंद मुस्कान री।"

अटपटि बात तिहारी ऊधो सुनै सो ऐसो को है ?
हम अहीरि अबला सठ मधुकर। तिन्हें जोग कैसे सो है ?
बूचिहि खुभी आँधरी काजर, नकटी पहिरै बेसरि।
मुँडली पाटी पारन चाहै। कोढ़ी अर्गाह केसरि॥
बहिरी सो पति मतो करै सो उत्तर कौन पै पावै ?
ऐसो न्याव है ताको ऊधो जो हमें जोग सिखावै॥
जो तुम हमको लाए कृपा करि सिर चढ़ाय हम लीन्हे।
सूरदास नरियर जो बिष को करहि बंदना कीन्हे॥२६॥

शब्दार्थ—बूची=कनकटी, जिसका कान कटा हो। खुभी=कान में पहनने का एक गहना, लौंग। बेसरि=नाक में पहनने का एक गहना। मुँडली=जिसके सिर में बाल न हों। पाटी पारना=माँग काढ़ना। कौन पै=किससे। मतो करै=सलाह करे। नारियर=नारियल।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव, तुम्हारी इन अटपटी बातों को सुनने के लिए कौन प्रस्तुत होगा ? हे धूर्त मधुकर ! हम अहीर अबलायें हैं। हमें यह तुम्हारा जोग कैसे शोभा देता ? तुम्हारा यह योग का उपदेश हमारे लिए ऐसा है जैसा कि बूँची के लिए बुन्दे, अन्धे के लिए काजल, नकटी के लिए नथनी,

गंजे के लिए घास काढ़ कर मांग निकालना तथा कोढ़ी के अंग पर केसर का लेप करना। अर्थात जिस प्रकार ये सब बातें असम्भव हैं उसी प्रकार गोपियों द्वारा जोग का ग्रहण करना सम्भव नहीं है। यदि कोई पति अपनी बहरी स्त्री से मन्त्रणा करने बैठे तो उसे क्या उससे कोई उत्तर मिल सकता है? हे ऊधो, जिस प्रकार यह बात असम्भव है तथा व्यर्थ है उसी प्रकार हमें योग सिखाना व्यर्थ होगा? हम तुम्हारे इस योग की पात्र नहीं हैं। किन्तु हम इतनी अशिष्ट भी नहीं हैं कि तुम्हारे कृपापूर्ण उपहार को ठुकरा कर तुम्हें अपमानित करें। अतः जो कुछ तुम कृपा करके हमारे लिये लाये हो, वह हमारे लिए शिरोधार्य है। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि विष युक्त नारियल के समान तुम्हारा लाया हुआ योग, हमारे वन्दना करने योग्य है। नारियल है इसलिए वंदनीय है, विष से युक्त है इसलिए त्याज्य है। बात यह है कि यह योग सन्देश हमारे प्रियतम ने भेजा है इसलिए हमारे लिए वंदनीय है किन्तु यह हमारे उपभोग के योग्य नहीं है इसलिए इसे हम स्वीकार नहीं करतीं।

विशेष—मालोपमा अलंकार का स्वाभाविक सौन्दर्य देखने योग्य है।

घर ही के बाढ़े रावरे।
नाहिन मीत बियोग बस परे अनव उगे अलि बावरे!
भुख मरि जाय घरं नहिं तिनुका सिंह कौ यह है स्वभाव रे!
स्रवन सुधा-मुरली के पोषे जोग-जहर न खवाव, रे;
ऊधो हमहि सीख का दे हो? हरि बिनु अनत न ठाँव रे!
सूरजदास कहा लै कीजै याही नदिया नाव, रे!॥३७॥

शब्दार्थ—बाढ़े=बढ़ बढ़ कर बातें करने वाले। अनवउगे=सहोगे। पोषे=पले। अनत=अन्यत्र।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि तुम तो अपने घर पर बैठकर बढ़ बढ़कर बातें करने वाले हो। कभी सनेही के वियोग में नहीं फँसे। अरे पगले भौंरे! जब वियोग-व्यथा सहोगे तब पता चलेगा। सिंह का यही स्वभाव है कि चाहे भूखा मर जाय पर घास नही चरता। वह तो मांस ही खायेगा। इसी प्रकार सच्चा प्रेमी वियोग के दुःखों से घबड़ा कर कोई दूसरा मार्ग ग्रहण नहीं करता। अरे मधुप! जो कान मुरली के रसामृत से पोषित हैं उन्हें योग रूपी विष न खिलाओ। हे उद्धव! तुम हमें क्या शिक्षा दोगे? हम तो कृष्ण की शरण छोड़ कर और कहीं जा ही नहीं सकतीं। हमारे लिए तो यह संसार की नदी याह है, हम तुम्हारी योग रूपी नाव लेकर क्या करेंगे?

विशेष—तुल्ययोगिता अलंकार की छटा दर्शनीय है।

स्याम मुख देखे हो परतीत।
जो तुम कोटि जतन करि सिखवत जोग ध्यान की रीति॥
नाहिन कछू सयान ज्ञान में यह हम कैसे मानें।

कहो कहा कहिये या नभ को कैसे उर में आनें ॥
यह मन एक, एक वह मूरति, भृंग कीट-सम माने।
सूर सपथ दै बूझत ऊधौ यह ब्रज लोग सयाने ॥३८॥

शब्दार्थ—परतीति=विश्वास। भृंगकीट =बिलनी नामक कीड़ा जिसके विषय में प्रसिद्ध है कि वह और कीड़ों को पकड़कर उन्हें अपने अनुरूप कर देता है। सयाने=चतुर।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती है कि अब तो श्याम का मुख देखकर ही विश्वास जम सकेगा। तुम तो करोड़ों उपायों द्वारा हमें योग और समाधि की शिक्षा दे रहे हो, उसमें कुछ हमें चतुरता नहीं दिखाई देती। फिर हम तुम्हारा कहा कैसे मान लें ? तुम्हीं बताओ कि हम तुम्हारे इस आकाश को अपने हृदय मे कैसे समेट कर रख लें ? हमारा मन एक है और मूर्ति भी एक ही है जिसने हमारे हृदय में रह कर भृंगकीट के समान हमे तद्रूप बना लिया है। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि ब्रज के सयाने लोग तुमसे सौगन्ध देकर पूंछते हैं कि सच बताओ कि तद्रूप हो जाने के पश्चात हृदय में योग के लिये स्थान ही कहां है ?

विशेष—(१) आकाश से यहाँ दो भाव निकलते हैं। एक तो व्यापक और महान और दूसरा शून्य। व्यापक और महान होने के कारण वह छोटे से हृदय में नहीं समा सकता। शून्य को यदि हृदय में रखा गया तो भी वह शून्य ही रहा।

(२) रूपक और उपमालंकार।

(३) गोपियाँ वस्तुतः पूर्णतः कृष्णमय हो गई हैं। यथा

गर यही मरके तसब्बुर है यही तस्वीरे हुस्न,
दिल जिसे कहता है, इक दिन दिलरुबा हो जायगा।

बिलग जानि मानहु, ऊधो प्यारे।
वह मथुरा काजर की कोठरि जे आवहिं ते कारे॥
तुम कारे, सुफलक सुत कारे, कारे मधुप भँवारे।
तिनके संग अधिक छवि उपजत कमल नैन मनि आरे॥
मानहुँ नील माट ते काढ़े लै जमुना ज्यों पखारे।
ता गुन स्याम भई कालिन्दी सूर स्याम गुन न्यारे॥३९॥

शब्दार्थ—बिलग=बुरा मत मानो। भँवारे=घूमने वाला। मनिआरे =सुहावना माट=मटका। पखारे=धोए=तागुन। इसी से।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से व्यंग्य करती हुई कह रही हैं कि प्यारे ऊधो, बुरा न मानना। वह मथुरा काजल की कोठरी है। जो भी वहाँ से आता है काला ही होता है। तुम काले हो, अक्रूर जी यहाँ आये थे वे भी काले थे और यह भ्रमता हुआ भौंरा भी काला ही है। इनके साथ हमारे कृष्ण भी अति सुन्दर प्रतीत होते हैं। मानो सबके सब नील के मटके से निकलकर यमुना के जल में धोये गये हैं। इसलिए यमुना भी श्याम रंग की हो गई है। सूरदास जी कहते है कि गोपियों ने

उद्धव से कहा कि काई कालों के सब गुण अद्भुत ही होते हैं।

विशेष—प्रस्तुत पद में अहेतु को मानकर उत्प्रेक्षा की गई है अतः हेतुत्प्रेक्षा-लंकार है। यमुना ने अपना गुण त्याग कर दूसरे का गुण धारण कर लिया है अतः तद्गुण अलंकार भी है।

> अपने स्वारथ को सब कोऊ।
> चुप करि रहो, मधुप रस लंपट! तुम देखे अरु वोऊ॥
> औरो कछू संदेश कहन को कहि पठयो किन सोऊ।
> लीन्हे फिरत जोग जुवतनि को बड़े सयाने दोऊ॥
> तब कत मोहन रास खिलाई जो पै ज्ञान हुतोऊ?
> अब हमरे जिय बैठो यह पद होनी होउ सो होऊ॥
> मिटि गयो मान परेखो ऊधो हिरदय हतो सो होऊ।
> सूरदास प्रभु गोकुल नायक चित-चिंता अब खोऊ॥४०॥

शब्दार्थ—रस लंपट=रस का लोभी। वोऊ=वे भी, उन्हें भी। पठयो=भेजा। हुतोऊ=थे। मान परेखो=भरोसा।

व्याख्या—ऊधो और कृष्ण की स्वार्थपरता पर व्यंग्य करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि सभी अपने अपने स्वार्थ के हैं। हे रस के लोभी मधुप! चुप भी रहो। हमने तुमको भी देख लिया और उन्हें अर्थात कृष्ण को भी। और जो कुछ संदेश उन्होंने और कहलवाया हो, उसे क्यों नहीं कह डालते? तुम दोनों बड़े चतुर हो, स्त्रियों के लिए योग का उपदेश लिये फिरते हो। कृष्ण जी यदि ऐसे ही ज्ञानी थे तो उन्होंने हमारे साथ रास-लीलायें क्यों की थीं? रास-लीला करते समय उनका ज्ञान कहाँ चला गया था? अब तो हमने अपने मन में यह दृढ़ निश्चय कर लिया है कि चाहे कुछ भी हो, हम कृष्ण के प्रेम से विमुख नहीं हो सकतीं। अब तो सब आशायें और भरोसे मिट गये और हमारा हृदय हताश हो गया है। किन्तु कोई बात नहीं। श्रीकृष्ण तो गोकुल के नायक हैं। अतः हम अब निश्चिन्त रहेंगी।

विशेष—प्रस्तुत पद में एक ओर कवि ने कृष्ण की स्वार्थपरता पर गोपियों द्वारा व्यंग्य करवाया है तो दूसरी ओर उनकी (गोपियों की) अटल प्रेम भक्ति का भी दिग्दर्शन किया है।

> बरु ये कुब्जा भलो कियो।
> सुनि सुनि समाचार ऊधो मो कछुक सिरात हियो॥
> जाको गुन, गहि, नाम, रूप, हरि हास्यो, फिरि न दियो।
> तिन अपनो मन हरत न जान्यो हँसि लोग जियो॥
> सूर तनक चंदन चढ़ाय तन ब्रजपति बस्य कियो।
> और सकल नागरि नारिन को दासी दाँव लियो॥४१॥

शब्दार्थ—सिरात=ठंडा होना। हास्यो=हर लिया। वस्यकियो=वश में

कर लिया।

व्याख्या—कृष्ण की निष्ठुरता पर व्यंग्य करती हुई कोई गोपी उद्धव से कहती है कि कुब्जा ने कुछ अच्छा ही किया। इस बात के समाचार सुन सुन कर मेरा हृदय कुछ कुछ ठन्डा हो जाता है। कृष्ण ने जिसका भी गुण, गति, नाम तथा रूप अर्थात सब कुछ हर लिया उसे फिर कभी नही लौटाया। किन्तु जब उनका स्वयं का मन कुब्जा ने हरा तो वे जान भी न पाये। इस बात को जान कर लोग हँसते हैं। दूसरों का मन हरने वालों के गुरु का मन हर लिया गया और उन्हे पता भी न चला, कितनी आश्चर्य और हँसी की बात है? देखो तो भला उस कुब्जा ने व्रज पति को थोड़ा सा चन्दन लगाकर अपने वश मे कर लिया। इस प्रकार सभी *चतुरा स्त्रियों की ठगाई का दाँव उस दासी कुब्जा ने ले लिया।*

विशेष—स्त्री हृदय की अपने प्रेमी की निष्ठुरता पर कितनी मार्मिक तथा हृदयस्पर्शी उक्ति है!

हरि काहे के अंतर्यामी?
जो हरि मिलत नहीं यहि औसर, अवधि बतावत लामी।।
अपनी चोप जाय उठि बैठे और निरस बेकामी?
सो कह पीर पराई जानै जो हरि गरुड़ागामी।।
आई उघरि प्रीति कलई सी जैसे खाटी आमी।
सूर इते पर अनख मरति हैं, ऊधो, पीवत मामी।।४२।।

शब्दार्थ—लामी=लम्बी। चोप=चाह, चाव। बेकामी=निष्काम। अनख=कुढ़न। मामी-पीना किसी बात को पी जाना, साफ मना कर देना।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि श्रीकृष्ण कैसे अन्तर्यामी हैं जो मिलने की इतनी लम्बी अवधि बता रहे हैं, इस समय आकर नहीं मिलते। वे स्वयं अपनी इच्छा से ही नीरस और निष्काम होकर वहाँ जा बैठे हैं। गरुड़वाहन कृष्ण दूसरों की व्यथा को भला क्या समझें? जैसे आम की खटाई से बर्तन की कलई छूट जाती है उसी प्रकार इस प्रवास से उनकी झूँठी प्रीति का पता भी हमें लग गया। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने ऊधो से कहा कि हम तो इस कुढ़न से और भी मरी जा रही हैं कि वे हमारे प्रेम से स्पष्टतः मना कर रहे हैं।

विशेष—पाँचवीं पंक्ति मे जो उपमा सूर ने दी है, वह उनके महाकवित्व की परिचायक है।

तुम जो कहत सँदेसो आनि।
कहा करौं वा नंद नन्दन सों होत नहीं हित हानि।।
जोग-जुगुति किहि काज हमारे जदपि महा सुख खानि?
सने सनेह स्यामसुन्दर के हिलिमिलि कै मन मानि।।
सोहत लोह परसि पारस ज्यों सुबरन बारह बानि।
पुनि वह चोप कहाँ चुम्बक ज्यों लटपटाय लपटानि।।

रूप रहित निरासा निरगुन निगमहु परत न जानि।
सूरदास कौन विधि तासों अब कीजै पहिचानि ॥४३॥

शब्दार्थ—आनि=आकर। हित-हानि=प्रेम का त्याग। जदपि=यद्यपि। बारहबानि=द्वादशवर्ण अर्थात सूर्य की भाति चमकने वाला, खरा।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे ऊधो, तुमने जो यहाँ आकर हमें योग का संदेश दिया है (उसका मानना हमारा कर्त्तव्य है) किन्तु क्या करें, नंदनंदन श्रीकृष्ण से जो हमें लगन लगी है, वह तो किसी प्रकार भी छूटती ही नहीं है। यद्यपि योग-युक्ति महान सुख की खान है किन्तु हमारे लिए यह किस काम की है? हम तो यहाँ श्यामसुन्दर के प्रेम मे पगी हुई हैं और उन्हीं के मिलने से मन प्रसन्न होता है। योग में चाहे इससे भी श्रेष्ठ गति मिल जाय किन्तु ये ऐसा मिलन-सुख उसमें कहाँ? लोहा पारस के संयोग से खरा स्वर्ण बन जाता है किन्तु उसमें भी वह उमंग से भरा प्रेम कहाँ है जिसके कारण यह चुम्बक से जाकर लिपट जाता है। तुम्हारा ब्रह्म तो निर्गुण है, निराकार है, निरीह है, अचिन्तनीय है और शास्त्रों की समझ से भी परे है। उसका ज्ञान भला हमें विशेषकर अब जबकि हम कृष्ण मे इतनी आसक्त हैं, कैसे हो सकता है?

विशेष—दृष्टान्त अलंकार के प्रयोग ने गोपियों की उक्ति को तो सबल बना ही दिया है, साथ ही पद की शोभा भी बहुत बढ़ गई है।

हम तो कान्ह-केलि की भूखी।
कैसे निरगुन सुनहिं तिहारो बिरहिनि बिरह-बिदूखी?
कहिए कहा यहो नहिं जानत काहि जोग है जोग।
पा लागों तुमहीं सो वा पुर बसत बावरे लोग॥
अंजन, अभरन, चीर, चारु बरु नेकु आप तन कीजै।
दंड, कमंडल, भस्म, अधारी जो जुवतिन को दीजै॥
सूर देखि दृढ़ता गोपिन की ऊधो यह ब्रत पायो।
कहै 'कृपानिधि' हो कृपाल हो! प्रेमै पढ़न पठायो॥४४॥

शब्दार्थ—केलि=रंगरेलियाँ। बिदूखी=दुखी। काहि जोग=किस योग्य। पुर=नगर। अभरन=गहना।

व्याख्या—गोपियाँ कहती हैं कि हम तो कृष्ण के साथ रंगरेलियाँ करने की भूखी हैं। विरह के दुःख से दुखी हम विरहिणी तुम्हारे निर्गुण को कैसे सुन सकती हैं? हम तुमसे क्या कहें जब तुम इतना भी नहीं जानते कि योग का योग्य पात्र कौन है? हम तुम्हारे पैर छूकर तुमसे ही पूछती हैं क्या उस नगर मे सब तुम जैसे ही पागल रहते हैं। शृंगार की सब सामग्री जैसे अंजन, गहना और सुन्दर वस्त्र तनिक तुम ले लो और तुम अपने योग के सब साधन दण्ड, कमण्डल, भभूत और अधारी (साधुओं की लकड़ी) ब्रज-युवतियों को दे दो। भाव यह है कि जिस [illegible] की सामग्री योगियों के लिए अनुकूल है उसी प्रकार हम प्रेमिकाओं के

लिए योग के सब साधन व्यर्थ हैं। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों की दृढ़ता को देखकर उद्धव जी इस निश्चय पर पहुँचे कि कृपालु कृष्ण ने मुझे योग सिखाने नहीं बल्कि प्रेम का पाठ पढ़ने भेजा है।

विशेष—प्रस्तुत पद में गोपियों की अटल धारणा के सम्मुख परास्त होकर ऊधो का यह सोचना कि कृपालु कृष्ण ने उन्हें योग सिखाने नहीं, प्रेम सीखने भेजा है, कितना स्वाभाविक है?

1962

अँखियाँ हरि-दरसन की भूखी।
कैसे रहें रूप रस राँची ये बतियाँ सुनि रूखी॥
अवधि गनत इकटक मग जोवत तब एती नहिं झूखी।
अब इन जोग संदेसन ऊधो अति अकुलानी दूखी॥
बारक वह मुख फेरि दिखाओ दुहि पय पिवत पतूखी।
सूर सिकत हठि नाव चलायो ये सरिता है सूखी॥४५॥

शब्दार्थ—राँची=अनुरक्त। झूखी=संतप्त हुई। बारक=एक बार। पतूखी=पत्ते का दोना। सिकत=बालू।

व्याख्या—गोपियाँ कहती हैं कि हे उद्धव, हमारी आँखें तो हरि-दर्शन की भूखी हैं। रूप के प्रेम में लगी हुई ये आँखें तुम्हारी इन शुष्क बातों को सुन कर भला कैसे मान सकती हैं? यदि तुम सच पूछो तो हमारे ये नेत्र श्रीकृष्ण के विरह में उनकी प्रतीक्षा करते हुए और निर्निमेष बाट जोहते हुए तथा दी हुई अवधि के दिन गिनते हुए भी इतने दुखी नहीं हुए थे जितने कि अब तुम्हारे योग के संदेश सुन सुनकर व्याकुल हो रहे हैं। हे ऊधो, तुम एक बार हमें दूध दुह कर दोने में पीते हुए (वन में बर्तन के अभाव में) कन्हैया का मुख दिखा दो। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि उद्धव, तुम्हारा योग का उपदेश उतना ही हास्यास्पद है जितना कि सूखी नदियों के पुलिन पर नाव चलाने का आयोजन।

विशेष—गोपियों की इसी प्रकार की दृढ़ता एक अन्य हिन्दी कवि की निम्न पंक्तियों में भी दर्शनीय है—

सखि ब्रज भूप रूप अलख अरूप ब्रह्म।
हम न कहैंगी तुम लाख कहिबो करौ॥

जाय कहौ बूझी कुसलात।
जाके ज्ञान न होय सो मानै कहौ तिहारी बात॥
कारो नाम, रूप पुनि कारो, कारे अंग सखा सब गात।
जौ पै भले होत कहुँ कारे तौं कत बदलि सुता लै जात॥
हमको जोग, भोग कुबजा को काके हिये समात?
सूरदास सेए सो पति कै पाले जिन्ह तेहि पछितात॥४६॥

शब्दार्थ—कुसलात=कुशल-क्षेम। काके हिये समात=किसको यह जँचता है। तौं कत······लै जात=तो क्यों लड़के को बदल कर लड़की ले

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि 'तुम' कृष्ण से जाकर कहना कि आपके संदेश के उत्तर में गोपियों ने आपकी कुशल-क्षेम पूछी है और कहा है कि तुम्हारी कही हुई बातें (योग की शिक्षा) वही मान सकता है जिसको बिल्कुल ज्ञान न हो। तुम्हारा नाम काला (कृष्ण) है, रूप भी काला (श्याम रंग) है और तुम्हारे सखा भी सब काले अंगों वाले हैं। यदि काले पसंद होते तो वसुदेव जी तुम्हारे बदले लड़की को क्यों ले जाते ? हमारे लिए योग और कुब्जा के लिए भोग, भला यह बात किसे जँच सकती है ? गोपियाँ कहती हैं कि हमारी क्या बात है जिन नन्द यशोदा ने उन्हें विश्वासपूर्वक पाला-पोसा वे ही स्वयं पछता रहे हैं।

विशेष—गोपियों का कहने का भाव यह है कि हमने तो उनसे पति रूप में ही प्रेम किया था। उनके माता पिता ने पाल-पोस कर उन्हें बड़ा किया था, उनको ही उन्होंने जब धोखा दे दिया तो हमारी तो बात ही क्या ?

> अब कत सुरति होति है, राजन् ?
> दिन दस प्रीति करी स्वारथ-हित रहत आपने काजन॥
> सबै अयानि भई सुनि मुरली ठगी कपट की छाजन।
> अब मन भयो सिंधु के खग ज्यों फिरि फिरि सरत जहाजन॥
> वह नातो टूटो ता दिन ते सुफलक सुत-संग भाजन।
> गोपीनाथ कहाय सूर प्रभु कत मारत हौ लाजन॥४७॥

शब्दार्थ—हित=हेतु। अयानि=अज्ञान। छाजन=स्वाँग। सरत=बढ़ता है। भाजन=भागना।

व्याख्या—कृष्ण की निष्ठुरता पर व्यंग्य करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि अरे राजा साहब ! अब भला आप हमारी काहे को याद करोगे ? अपने स्वार्थ के हेतु थोड़े से समय के लिए ही आपने हमसे प्रेम किया था। वस्तुतः आप तो अपना मतलब पूरा करने में ही लगे रहे। क्या कहें, मुरली की ध्वनि सुनकर हम ही पागल हो गई थीं। हम ही मूर्ख बन गईं। यह तो अब ज्ञात हुआ कि आपके ये सब इनके कपटपूर्ण व्यवहार थे। पर हम करें भी क्या ? जिस प्रकार समुद्र का पक्षी इधर उधर भटक कर जहाज की शरण में ही आता है इसी प्रकार हमारा मन भी इधर उधर भटक कर आपकी (श्याम की) शरण में ही जाता है। किन्तु यह निश्चित है कि हमारे प्रेम का नाता तो उसी दिन टूट गया था कि जिस दिन श्याम अक्रूर के साथ चले गये थे। इस प्रकार नाता तोड़ कर भी न जाने श्याम अपना नाम गोपीनाथ रखकर हमें क्यों लज्जित कर रहे हैं ? नाम गोपीनाथ अर्थात् गोपियों के स्वामी किन्तु नाता रहा नहीं कुछ भी।

विशेष—चौथी पंक्ति में उपमा अलंकार की स्वाभाविकता देखने योग्य है।

> लिखि आई ब्रजनाथ की छाप।
> बाँधे फिरत सीस पर ऊधो देखत आवै ताप॥
> नूतन रीति नंदनंदन की घर घर दीजत थाप।

हरि आगे कुब्जा अधिकारी, ताते है यह दाप ॥
आए कहन जोग अवराधो अविगत-कथा को जाप।
सूर सँदेसो सुनि नहिं लागै कहौ कौन को पाप ॥४८॥

शब्दार्थ—छाप=मुहर, चिन्ह। ताप=बुखार। दाप=गर्व।

व्याख्या—उद्धव द्वारा लाए हुए संदेश-पत्र पर व्यंग्य करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि भाई देखो इस पत्र पर तो श्रीकृष्ण की मुहर लगी हुई है (वास्तव में यह ऊधो की मनगढन्त नहीं है)। इसे ऊधो अपने सिर पर बाँधे घूम रहे हैं अर्थात उपदेश देते फिर रहे हैं। हमें तो इसे देखते ही बुखार चढ़ रहा है। आज जिसकी घर घर स्थापना की जा रही है वह नन्दनन्दन की एक नयी रीति है। अब कृष्ण के यहाँ कुब्जा का अधिकार है इसीलिये तो यह गर्व दिखायी पड़ रहा है। उसी के शासन से तो ये उद्धव जी हमसे योग की आराधना तथा अज्ञात का जाप करने को कहने आये हैं। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि तुम्हारे इस संदेश को सुनकर भला कौन ऐसी सती होगी जिसे पाप नहीं लगेगा? कहने का भाव यह है कि सच्चे प्रेमी के लिए किसी अन्य से प्रेम करना तो दूर रहा, उसका सुनना भी पाप है।

विशेष—तुलसीदास जी का विचार भी देखिये "कुछ ऐसा ही है—
'इतम के अस बस मन माहीं।
सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं ॥'

कहाँ लौं कीजे बहुत बड़ाई।
अतिहि अगाध अपार अगोचर मनसा तहाँ न जाई ॥
जल बिनु तरंग, भीति बिनु चित्रन, बिन चित ही चतुराई।
अब ब्रज में अनरीति कछू यह ऊधो आनि चलाई ॥
रूप न रेख, बदन, बपु जाके संग न सखा सहाई।
ता निर्गुन सों प्रीति निरंतर क्यों निबहै, री माई?
मन चुभि रही माधुरी मूरति रोम रोम अरुझाई।
हौं बलि गई सूर प्रभु ताके जाके स्याम सदा सुखदाई ॥४९॥

शब्दार्थ—बदन=मुख। बपु=शरीर। सहाई=सहायक।

व्याख्या—उद्धव के बेतुके उपदेश देने पर गोपियाँ कहती हैं कि उद्धव जी, आपकी कहाँ तक बड़ाई की जावे? हे ऊधो जी! आपने ब्रज में आकर यह कैसी अनरीति चलाई है कि अगम्य, अपार और अगोचर ब्रह्म का उपदेश दे रहे हो जहाँ कि मन की भी पहुँच नहीं है। यह तो उसी प्रकार की बात हुई जैसे बिना पानी के तरंग, बिना किसी भीति अर्थात आधार के चित्र और बिना चित्त के चतुरता। जिसके रूप, रेखा, शरीर और मुख कुछ भी नहीं है और न कोई सखा अथवा सहायक है, भला उस निर्गुण से लगातार प्रेम कैसे निभ सकता है? हमारे चित्त में तो वह माधुर्यमयी मूर्ति चुभ रही है जो हमारे रोम रोम से उलझ रही है। हम तो उन पर

ही बलिहारी जाते हैं जिन्हें श्याम सदैव भाते हैं।

विशेष—दूसरी पंक्ति में वृत्यानुप्रास अलंकार की छटा दर्शनीय है।

काहे को गोपीनाथ कहावत ?
जो पै मधुकर कहत हमारे गोकुल काहे न आवत ?
सपने की पहिचानि जानि कै हमहिं कलंक लगावत।
जो पै स्याम कूबरी रीझे सो किन नाम धरावत ?
ज्यों गजराज काज के औसर औरै दसन दिखावत।
कहन सुनन को हम हैं ऊधो सूर अनत बिरमावत ॥५०॥

शब्दार्थ—धरावत=धारण किया। बिरमावत=रमना। अनत=अन्यत्र।

व्याख्या—कृष्ण की उदासीनता एवं निष्ठुरता पर व्यंग्य करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि यदि कृष्ण हमसे अपना सम्बन्ध तोड़ना ही उचित समझते हैं तो फिर उन्होंने अपना नाम गोपीनाथ क्यों रखा है ? हे उद्धव, यदि वे हमारे कहलाते हैं तो फिर गोकुल क्यों नहीं आते ? यदि हमसे स्वप्न की सी ही जान-पहचान मात्र थी अर्थात वास्तविक प्रेम नहीं था तो फिर हम पर अपने सम्बन्ध का यह कलंक क्यों लगा रहे हैं ? (गोपीनाथ से तो यही प्रकट होता है कि वास्तव में वे हमारे पति हैं)। जब हमसे वे कुछ सम्बन्ध रखते नहीं हैं तो फिर हम पर यह व्यर्थ का कलंक ही तो रहा। यदि उनका कुबड़ी पर ही अनुराग है तो वे अपना नाम कुब्जानाथ क्यों नहीं रखवाते, गोपीनाथ क्यों रखवा रखा है ? उनका यह व्यवहार तो उस हाथी के समान हुआ जिसके दाँत खाने के और होते हैं और दिखाने के कुछ और। कहने सुनने को तो हम हैं उनकी किन्तु वे रमते और कहीं हो हैं। हमारे नाम की आड़ में प्रेम कर रहे हैं कुब्जा से।

विशेष—दृष्टान्त अलंकार के प्रयोग ने गोपियों के कथन को अधिक बल-शाली बना दिया है।

हमको हरि की कथा सुनाव।
अपनी ज्ञान कथा हो, ऊधो ! मथुरा ही लै गाव ॥
नागरि नारि भले बूझेंगी अपने वचन सुभाव।
पा लागौं, इन बातनि, रे अलि ! उनहीं जाय रिझाव ॥
सुनि प्रिय सखा स्याम सुन्दर के जो पै जिय सति भाव।
हरि मुख अति आरत इन नयननि बारक बहुरि दिखाव ॥
जो कोउ कोटि जतन करै, मधुकर, बिरहिनि और सुहाव।
सूरदास मीन को जल बिनु नाहिन और उपाव ॥५१॥

शब्दार्थ—सुनाव = सुनाओ। सति भाव = सत्यभाव सद्भावना। सुहात=सुहाता है। उपाव=उपाय।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे ऊधो, हमें तो तुम कृष्ण की ही कथा सुनाओ। यह अपनी ज्ञान-चर्चा तो मथुरा ही ले जाकर गाना। वहाँ की नागरी

स्त्रियाँ इसका मूल्य ठीक जाँच सकेंगी। हम तुम्हारे पैर छूती हैं। अपने इस उपदेश को उन्ही को जाकर सुनाओ और अपनी इन मीठी बातों से उन्ही को मोहित करो। हे कृष्ण के प्रिय सखा, यदि वास्तव में तुम्हारे हृदय में हमारे लिये सद्भावना है तो हमारे इन दुःखी नेत्रों को तो श्रीकृष्ण के मुख का दर्शन ही एक बार फिर कराओ। हे भौरे ! चाहे कोई कितना ही प्रयत्न करे किन्तु क्या विरहिणियों को और कोई चर्चा अच्छी लग सकती है अर्थात् बिलकुल नहीं (उन्हें तो अपने प्रेमी की ही चर्चा अच्छी लग सकती है)। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि मछली के जीवन के लिये तो जल के अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं है।

विशेष—प्रस्तुत पद मे गोपियों की अटल प्रेम-भक्ति दर्शनीय है।

> अलि हो ! कैसे कहौं हरि के रूप-रसहि ?
> मेरे मन में भेद बहुत बिधि रसना न जानै नयन की दसहि ॥
> जिन देखे ते आहि बचन बिनु, जिन्हें बचन दरसन न तिसहि।
> बिन बानी भरि उमगि प्रेम जल सुमिरि वा सगुन-जसहि ॥
> बार-बार पछितात यहै मन कहा करै जो बिधि न बसहि।
> सूरदास अगन की यह गति को समुझावै या छपद पसुहि ?॥५२॥

शब्दार्थ—दसहि=दशा को। तिसहि=उसे। बसहि=वश में। छपद पसुहि =भौरा।

व्याख्या—श्रीकृष्ण की रूपमाधुरी के रस की अनिर्वचनीयता का वर्णन करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे भौंरे ! कृष्ण की रूप-माधुरी के रस को किस प्रकार वर्णन किया जाय ? मेरे शरीर में बहुत सारे रहस्य हैं जिनमें से एक यह भी है कि मेरी जिह्वा नेत्रो की दशा नहीं जानती। जिन नेत्रो ने उन्हें देखा है वे वाणी से विहीन हैं अर्थात् वे कुछ कह नहीं सकते। जिह्वा जो बोल सकती है उनने उसके दर्शन नहीं किये हैं। वाणी का अभाव होने के कारण ये नेत्र उन सगुण प्रभु के दर्शन की याद करके प्रेम-जल से परिपूर्ण रहते हैं। मन बार बार यही पश्चाताप करता रहता है कि विधि या भाग्य पर किसी का वश नहीं चलता। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि अपने अंगों की यह दशा इस छः पैर वाले मधुप को कौन समझावे ?

विशेष—तुलसी ने भी नयन और वाणी की यही असमर्थता निम्न शब्दों में व्यक्त की है—

'गिरा अनयन नयन बिनु बानी।'

> फिरि फिरि कहा सिखावत बात ?
> प्रातकाल उठि देखत, ऊधो, घर घर माखन खात ॥
> जाकी बात कहत हौ हमसों सो है हम सों दूरि।
> ह्याँ है निकट जसोदा नन्दन प्रान-सजीवन मूरि ॥

बालक संग लये दधि चोरत खात खवावत डोलत।
सूर सीस सुनि चौंकत नावहिं अब काहे न मुख बोलत ?॥५३॥

शब्दार्थ—ह्यां=यहां। सीस=सिर पर, निकट। मुख बोलत=बोलना।

व्याख्या—उद्धव के निरन्तर समझाने पर भी गोपियाँ कहती हैं कि हे ऊधो ! आप बार-बार हमें क्या शिक्षा दे रहे हैं ? आप सम्भवतः हमको विरह व्यथा से पीड़ित देखकर कुछ सहानुभूति करके यह उपदेश दे रहे हैं। किन्तु आपको ज्ञात होना चाहिये कि हम प्रतिदिन उन्हें घर-घर माखन खाते हुए देखती हैं। तुम जिस निर्गुण की बात हम से करते हो वह तो हम से बहुत दूर है। हमारे प्राणों की संजीवन यशोदा नन्दन वस्तुतः हमारे बहुत समीप है। हमें तो आज भी वे ग्वाल बालों के साथ दही चुराते और उन्हें खवाते डोलते दिखाई देते हैं और हमें देख कर या आहट सुनकर वे चौंक कर सिर झुकाये दिखाई पड़ते हैं। हे ऊधो ! अब बताओ तुम, हमारे प्रेम में वियोग का क्या भय रहा ? अब तुम क्यों नहीं बोलते ?

विशेष—अब उद्धव जी के निर्गुन भगवान ही क्या करेंगे। जब गोपियों को मथुरा में बैठे कृष्ण गोकुल में माखन खाते दिखाई दे रहे हैं। वस्तुतः कृष्ण की स्मृति उनके हृदय में कुछ ऐसी गड़ गई है कि वह उनकी अनुपस्थिति में भी उनके (गोपियों के) सामने उन्हें सदैव उपस्थित रखती है।

अपने सगुन गोपालै, माई ! यह विधि काहे देत ?
ऊधो की ये निरगुन बातें मीठी कैसे लेत।
धर्म, अधर्म कामना सुनावत सुख औ मुक्ति समेत॥
काकी भूख गई मन लाडू सो देखहु चित चेत।
सूर स्याम तजि को भुस फटकै मधुप तिहारे हेत ?॥५४॥

शब्दार्थ—मनलाडू=मन के मोदक। भुस फटकै=भूसी में से कुछ सार निकालने का प्रयत्न करे।

व्याख्या—निर्गुण के समक्ष सगुण की श्रेष्ठता प्रमाणित करती हुई गोपियाँ उद्धव से कह रही हैं कि हे ऊधो, हमारे तो सगुण गोपाल हैं फिर ब्रह्म जो हमारे लिये यह निर्गुण ब्रह्म बरबस क्यों भेज रहे हैं ? हम अपने सगुण गोपाल को आपकी निर्गुण के विषय में की हुई चिकनी चुपड़ी बातों के बदले में कैसे दे सकती हैं ? यद्यपि आप धर्म, अधर्म और कामना आदि की बात सुना कर सुख और मुक्ति के दाता बने हुए हैं किन्तु तो भी हमारी समझ में आपकी बात नहीं आती। तनिक सोचो तो सही कि भला मन के मोदक खाकर किसकी भूख शान्त होती है ? (अथाव योग की बातों मात्र से हमारा कार्य नहीं चलेगा)। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि कृष्ण को छोड़कर भूसी फटक कर कुछ सार निकालने के समान आपके निर्गुण को भजने का कौन प्रयत्न करे ? अर्थात् आपके निर्गुण में से बहुत कुछ प्रयत्नों के बाद सार निकल भी आया तो वह किस काम का ?

विशेष—लोकोक्ति अलंकार ने गोपियों के कथन को अधिक बलशाली बना दिया है।

> प्रेम रहित यह जोग कौन काज गायो ?
> दीनन सों निठुर बचन कहे कहा पायो ?
> नयनन निज कमल नयन सुन्दर मुख हेरो।
> मूंदन ते नयन कहत कौन ज्ञान तेरो ?
> तामें कहु मधुकर ! हम कहा लैन जाहीं।
> जामें प्रिय प्राननाथ नंद नन्दन नाहीं ?
> जिनके तुम सखा साधु बातें कहु तिनकी।
> जीवें सुनि स्याम कथा दासी हम जिनकी॥
> निरगुन अविनासी गुन आनि आनि भाखौ।
> सूरदास जिय के जिय कहाँ कान्ह राखौ ?५५॥

शब्दार्थ—काज=कार्य। कमल नयन=कृष्ण। भाखौ=कहना। कान्ह=कृष्ण।

व्याख्या—नीरस योग और सरस प्रेम का अन्तर स्पष्ट करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि आपका प्रेम से रहित इस योग की कथा का गान करना व्यर्थ है। हम विरह से व्यथित गोपियों के सम्मुख योग के निष्ठुर वचन कह कर भला तुमने क्या पाया ? जिन नेत्रों से हमने अपने कमल नयन श्रीकृष्ण के सुन्दर मुख के दर्शन किये हैं तुम उन्हीं नेत्रों को हम से बन्द करने की बात कहते हो, यह तुम्हारा कौन सा ज्ञान है ? भला नेत्र बन्द करने से हमको क्या प्राप्त हो जायगा, कहने का आशय यह है कि जिस परम तत्व का दर्शन योगी नेत्र बन्द करके करता है हमने तो उसके दर्शन खुले नेत्रों से ही कर लिये हैं फिर इन्हें बन्द करने से क्या लाभ होगा ? अरे भ्रमर, जिसमें हमारे प्राणनाथ नन्दनन्दन नहीं हैं, उससे हमें लेना ही क्या है ? हमसे तो तुम उनकी बातें करो जिनके तुम सखा हो और जिनकी हम दासियाँ हैं। उनकी कथा सुनना ही हमारा जीवन है। जब तुम अविनाशी तथा निर्गुन ब्रह्म के अन्यान्य गुणों का वर्णन करते हो तो हमारे प्राणों के प्राण उन कृष्ण को कहाँ छिपाये रखते हो ?

विशेष—वस्तुतः योगियों के नेत्र बन्द करके उस परम तत्व के दर्शन करने की अपेक्षा गोपियों द्वारा खुले नेत्रों से दर्शन करना सरल एवं ग्राह्य है।

> जनि चालो, अलि, बात पराई।
> ना कोउ कहै सुनै या ब्रज में नइ कीरति सब
> बूझै समाचार मुख ऊधो कुल की सब
> भले संग बसि भई भली मति, भले
> सुन्दर कथा कटुक सी लागति
> उलटी नाव

शब्दार्थ—नई=नीति। जाति=खो जाती है। मारति=दुःख। खराई=खारापन।

व्याख्या—योग को पराया होने के कारण अनुपयुक्त बताती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि योग हमारे लिये पराया है और परायी बातों को कहने से क्या लाभ ? इस सब बात को ब्रज में न कोई कहता है और न कोई सुनता है ? तुम्हारी यह सब नयी कीर्ति समाप्त हुई जाती है। कहने का भाव यह है कि पुरानी जमी हुई कीर्ति को तो जाने में विलम्ब लगता है किन्तु ऊद्धव की यह कीर्ति तो नयी है, इसके जाने में देर नहीं लग सकती। अतः अच्छा हो यदि इस निर्गुण गाथा को ऊधो न कहे गोपियाँ कहती हैं कि हमें तो तुम अपने मुख से यह समाचार सुनाओ कि कुल की *व्यथा उन्हें कैसे भूल गई ? भले लोगों का साथ हुआ उनका जो उन्हें यह भली मति* प्राप्त हुई। तुम्हारी यह सुन्दर कहानी हमें कड़वी लगती है और तुम्हारा यह उपदेश हमारे हृदय में खारापन उत्पन्न कर रहा है। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने कहा ! आपके मित्र कृष्ण भगवान के यहाँ कैसा अजीब न्याय है कि बहे जाने वालों से भी उतराई का तकाजा किया जा रहा है ? मतलब यह कि प्रेमधारा में बहे जाने वालों से निर्गुण के अपनाने की बात कहना ऐसा ही है जैसा कि बहे जाने वालों से मल्लाहों द्वारा उतराई का तकाजा करना।

विशेष—'तुष्यतुदुर्जनः' न्याय से यद्यपि योग उत्तम माना जाता है किन्तु *गोपियों को उसे पराया कह कर उपादेय न बताना भी कम न्याय संगत नहीं है।* लोकोक्ति अलंकार की छटा भी दर्शनीय है।

> हमारे हरि हारिल की लकरी।
> मन बच क्रम नंद नन्दन सों उर यह दृढ़ करि पकरी॥
> जागत सोवत, सपने सौतुख कान्ह कान्ह जकरी।
> सुनतहि जोग लगत ऐसो अलि ! ज्यों करुई ककरी॥
> सोई व्याधि हमें लै आए देखी सुनी न करी।
> यह तो सूर तिन्हें लै सौंपो जिनके मन चकरी॥५७॥

शब्दार्थ—हारिल=एक पक्षी जो प्रायः पंजुल में कोई लकड़ी या तिनका लिये रहता है। सौतुख=प्रत्यक्ष। जक=रट, धुन। चकरी=चकई, चकई नामक खिलौने की भाँति चंचल।

व्याख्या—सगुण में अपनी दृढ़ता दिखाती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि जैसे हारिल पक्षी का यह व्रत है कि वह पृथ्वी पर अपना पैर नहीं रखती। वृक्ष, लता आदि के आधार के अभाव में वह अपने पंजुल में दबी लकड़ी के आधार पर ही अपने अटल व्रत का निर्वाह करती है और जीते जी उस लकड़ी को नहीं छिपारती इसी प्रकार हमने भी हरि को पकड़ रखा है और हम जीते जी उन्हें नहीं छोड़ सकतीं। हमने तो अपने हृदय में मनसा वाचा कर्मणा से हरि को ही दृढ़ता से पकड़ा ... है। सोते-जागते, स्वप्न और प्रत्यक्ष में सदा कृष्ण के ही दर्शन और उन्हीं की

रट रहती है। हे भौंरे, तुम्हारी जोग की बातें सुनने में ऐसी लगती हैं जैसे कड़वी ककड़ी। तुम तो योग रूपी ऐसी व्याधि हमारे लिये लाये हो कि जिसको न हमने पहले कभी सुना था और न कभी जिसका अनुमान ही किया था। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने उद्धव से कहा कि यह तो तुम उन्हें ही ले जाकर दे दो जिनका मन चरई की भाँति चपल है। हम तो अत्यन्त दृढ़ हृदय वाली हैं। हम पर कृष्ण के अतिरिक्त और किसी का प्रभाव पड़ ही नहीं सकता।

विशेष—'उपमा' अलंकार के सयोग ने गोपियों के कथन को अधिक बलशाली बना दिया है, साथ ही पद की शोभा भी द्विगुणित हो गई है।

> फिरि फिरि कहा सिखावत मौन ?
> दुसह बचन अलियों लागत उर ज्यों जारे पर लौन ॥
> सिंगी, भस्म, त्वचामृग, मुद्रा, अरु अवरोधन पौन।
> हम अबला अहीर, सठ मधुकर! घर बन जानै कौन ॥
> यह मत लै तिनहीं उपदेसो जिन्हैं आजु सब सोहत।
> सूर आज लौ सुनी न देखी पोत सूतरी पोहत ॥४८॥

शब्दार्थ—जारे=जले हुए। लौन=नमक। अवरोधन=प्राणायाम। पोत=माला की गुरिया।

व्याख्या—अपनी मनोदशा का सम्यक् वर्णन करने पर भी जब उद्धव का योगोपदेश का क्रम जारी रहा तो गोपियाँ झल्ला उठीं और उससे कहने लगीं कि तुम बार-बार हमें मौन की शिक्षा क्यों दे रहे हो? तुम्हारे ये कठोर उपदेश हमें ऐसे प्रतीत हो रहे हैं जैसे कोई जले पर नमक छिड़क रहा हो। सिंगी फूँकना, भस्म रमाना, मृगछाला और मुद्राओं का धारण करना और प्राणायाम का साधन तो योगियों के लिए ही उचित है। मन की शुद्धि तथा एकाग्रता के लिए, ये योगियों के लिए ही आवश्यक साधन हैं। हे मूर्ख भौंरे, हम तो गँवार अहीर अबलाएँ हैं। भला हमें ये साधन कैसे फब सकते हैं? ज्ञानी इन्हें सुख और दु:ख में सम भावना रखने के हेतु अपनाते हैं। वे वैरागी बनना चाहते हैं। हमें यह भावना वैसे ही प्राप्त है। हमारे लिए घर और वन में कोई भेद वैसे ही नहीं है। हमारे लिए तो सब भूमि गोपाल की ही है। अत: उद्धव महाराज, यह उपदेश तो तुम उन्हीं को दो जो सब प्रकार से खुशहाल हैं। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि आज तक हमने तो माला के दानों को सुतरी में पिरोने वाला न तो देखा और न सुना।

विशेष—'मौन' योग का उपलक्षण है। वाणी का सयम करने के लिए योगी लोग मौन साधन करते हैं। इसी मौन की ओर संकेत करके गोपियों ने उद्धव जी से योग के विषय में कहा है।

1970

> मोहि अलि दुहूँ भाँति फल होत।
> तब रस-अधर लेति मुरली, अब भई कूबरी सौत ॥

तुम जो जोगमत सिखवन आये भस्म चढ़ावन अंग।
इन बिरहिन में कहूँ कोउ देखी सुमन गुहाये मंग?
कानन मुद्रा पहिरि मेखली धरे जटा आधारी।
यहाँ तरल तरिवन कहँ देखे अरु तनसुख की सारी॥
परम वियोगिनी रटति रैन दिन धरि मन-मोहन-ध्यान।
तुम तो चलो बेगि मधुबन को जहाँ जोग को ज्ञान॥
निसदिन जीजतु है या ब्रज में देखि मनोहर रूप।
सूर जोग लै घरघर डोलो, लेहु लेहु धरि सूप॥२६॥

शब्दार्थ—मंग=माँग। तरल=चंचल। तरिवन=कान का गहना। तनसुख=एक कपड़ा।

व्याख्या—गोपियाँ कहती हैं कि हे अलि, हमें तो संयोग और वियोग दोनों दशाओं में एक ही फल प्राप्त होता है। जब कृष्ण यहाँ थे तब उनके अधरों के अमृत रस को लेने वाली मुरली थी और अब वियोग में कुबरी सौत उनके अधरामृत के पान करने की अधिकारिणी है। तुम तो इन विरहिणियों को योग सिखाने आए हो और अंगों पर भस्म चढ़ाने को कह रहे हो। भला बताओ, क्या इनमें से किसी की माँग में तुमने फूल गुहाए देखा है? ये सब तो पोषित पतिकाएँ हैं अतः केशों को सजाने से कोसों दूर हैं। तुम इन्हें कानों में योगियों की-सी मुद्रा, मेखला और जटाओं के धारण करने का उपदेश दे रहे हो और इनसे कहते हो साधुजनों जैसा दण्ड धारण करने को; तो क्या तुमने यहाँ किसी को चमकते हुए कर्णफूल और तनसुख की झीनी साड़ी पहने देखा है? ये तो सब वियोगिनियाँ हैं, शृंगार से बहुत दूर रहकर दिन-रात मनमोहन का ध्यान कर उन्हें ही रटती रहती हैं। अतः यहाँ आपका उपदेश देना व्यर्थ है। आपको शीघ्र ही मथुरा चला जाना चाहिये जहाँ योग के पारखी आपके योग-ज्ञान की कद्र करेंगे। यहाँ ब्रज में तो दिन-रात श्यामसुन्दर का वही मनोहर रूप अब भी चारों ओर जागता दिखाई पड़ता है। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हे उद्धव, तुम सूप में जोग रखकर जो घर-घर घूम रहे हो और चिल्ला रहे हो कि योग ले लो, योग ले लो, सब व्यर्थ है क्योंकि यहाँ तुम्हारे योग का कोई ग्राहक नहीं है।

विशेष—वस्तुतः यह कथन अक्षरशः सत्य है कि जो जिस वस्तु के गुणों की परख जानता है वही उसका आदर करता है। कहा भी है—

नवेत्तियो यस्य गुण प्रकर्षं स तस्य निन्दां सततं करोति।
यथा किराती करिकुम्भजातां मुक्तां परित्यज्य बिभर्ति गुंजाम्॥

बिलग जनि मानौ हमरी बात।
उरपति बचन कठोर कहति, मति बिनु पति यों उठि जात॥
जो कोउ कहत जरे अपने कछु फिरि पाछे पछितात।
जो प्रसाद पावत तुम ऊधो कृस्न नाम लै खात।।

मन जु तिहारो हरि चरनन तर अचल रहत दिन रात।
'सूर स्याम ते जोग अधिक' केहि कहि आवत यह बात ?॥६०॥

शब्दार्थ—पति यों उठि जात=मर्यादा जाती रहती है। जरे अपने=अपना जी जलने पर। तर=नीचे। बिलग जनि मानौ=बुरा मत मानना।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि ऊधो जी, तुम हमारी बात का बुरा मत मानना। हमें कठोर बात कहने में कुछ भय-सा प्रतीत हो रहा है। बात यह है कि मति अर्थात् विवेक के बिना मर्यादा नष्ट हो जाती है। यदि कोई किसी के जले पर कुछ कहता है तो वह पीछे पश्चात्ताप करता है। भाव यह है कि पीड़ित व्यक्ति को आवश्यकता है सहानुभूति के दो शब्दों की। उसे ज्ञान और धर्म का उपदेश नहीं चाहिये। हम कृष्ण से प्रेम करती हैं, तो क्या यह कुछ पाप है ? आप भी तो कृष्ण के नाम के प्रताप से ही प्रतिष्ठा प्राप्त किये हुए हो और खाते-कमाते हो। आपका मन भी तो दिन-रात श्री कृष्ण के चरणों में ही लगा रहता है। बड़ा आश्चर्य है कि फिर भी तुम्हारे मुख से यह बात कैसे निकल आती है कि कृष्ण से योग महान् है। एक प्रकार से यह तो तुम्हारा उनके प्रति बड़ा भारी अन्याय और कृतघ्नता है।

विशेष—ऊधो कृष्ण के सखा थे। वे दिन-रात उनके चरणों में ही पड़े रहना चाहते थे। उनकी जो कुछ भी प्रतिष्ठा तथा आवभगत थी वह थी केवल कृष्ण-सखा होने के कारण। वे जब योग को कृष्ण से बड़ा बताने लगे तो गोपियों का आश्चर्य प्रकट करना कुछ आश्चर्य की बात नहीं।

याकी सीख सुनै ब्रज को, रे ?
जाकी रहनि कहनि अनमिल, अलि, कहत समुझि अति थोरे॥
आपुन पद-मकरंद सुधारस हृदय रहत नित बोरे।
हमसों कहत बिरस समझौ, है गगन कूप खनि खोरे॥
धान को गाँव पयार ते जानौ ज्ञान विषय रस भोरे।
सूर सो बहुत कहे न रहै रस गूलर को फल फोरे॥६१॥

शब्दार्थ—याकी=इनकी। अनमिल=विपरीत। खोरे=नहाये। फोरे=फोड़ने, खोलने। पयार=पयाल अर्थात् पके हुए धान के डंठल।

व्याख्या—उद्धव की कथनी एवं करनी में अन्तर स्पष्ट करते हुए तथा उनके उपदेश की निस्सारता का प्रतिपादन करते हुए गोपियाँ उनसे कहती हैं कि ब्रज में इसकी शिक्षा भला कौन सुनने वाला है ? हमारे थोड़े से कहने से ही सब समझ जाओ कि इनके रहन-सहन और कथन में कितना अन्तर है ? स्वयं तो अपने हृदय को उनके चरणामृत में डुबोये रहते हैं और हमें उसे नीरस बता कर निर्गुण की साधना द्वारा आनन्द प्राप्त करने का उपदेश देते हैं। यह तो कुछ ऐसी बात हुई कि जैसे कोई आकाश में कुआँ खोद कर स्नान करने की इच्छा करे। तुम जैसे बैरागी हो यह तो हम जानती हैं। धानों का गाँव पके हुए धान के डंठलों से मालूम हो

जाता है। ज्ञान तो विषयों के आनन्द से विरक्त रहता है। किन्तु एक तुम ज्ञानी हो कि जो उनके चरणामृत का आनन्द ले रहे हो और हमें योग का उपदेश दे रहे हो। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि बस जाओ रहने दो, अधिक कहने से क्या लाभ, गूलर के फल को फोड़ने से कीड़े ही कीड़े निकलते हैं जिससे घृणा हो जाती है।

विशेष—लोकोक्ति अलंकार के सुन्दर एवं स्वाभाविक प्रयोग ने गोपियों के कथन में तो तीव्रता एवं प्रभावोत्पादकता ला ही दी है, साथ ही पद की शोभा को भी बहुत अधिक बढ़ा दिया है।

निरखत अंक स्यामसुंदर के बार बार लावति छाती।
लोचन-जल कागद-मसि मिलि कै ह्वै गई स्याम स्याम की पाती॥
गोकुल बसत संग गिरिधर के कबहुँ बयारि लगी नहिं ताती।
तब की कथा कहा कहौ ऊधो, जब हम बेनुनाद सुनि जाती॥
हरि के लाड़ गनति नहिं काहू निसिदिन सुदिन रास समाती।
प्राननाथ तुम कब धौं मिलौगे सूरदास प्रभु बाल संघाती॥६१॥

शब्दार्थ—निरखत=देखकर। बयारि=हवा। ताती=गरम। बेनुनाद=बंशी की ध्वनि। बाल सघाती=बाल्यकाल के साथी।

व्याख्या—सूरदास जी कहते हैं कि कृष्ण के पत्र के अक्षरों को देख-देखकर गोपिकायें बार-बार उन्हें हृदय से लगाती हैं; किन्तु नेत्रों से बहने वाली आँसुओं की धारा ने पत्र पर गिर कर स्याही को फैला दिया है जिससे सारा पत्र काले रंग का हो गया है और उन्हें इस प्रकार पत्र में भी कृष्ण ही दिखाई पड़ रहे हैं। वे विगत स्मृतियों को याद कर कहने लगीं कि जब कृष्ण गोकुल में थे तब हमें कभी भी गर्म हवा न लगी अर्थात् हमें उस समय पूर्ण शान्ति और सुख प्राप्त होता था तथा लम्बी-लम्बी उसाँसें लेनी नहीं पड़ती थीं। हे उद्धव, हम तुमसे भी इस बात को क्या छिपावें कि उस समय हम इतनी भोली थीं कि मुरली की ध्वनि सुनते ही कृष्ण के पास पहुँच जाती थी और उनके प्रेम में किसी को भी कुछ नहीं समझती थीं तथा सदैव दिन-रात रसिक कृष्ण के प्रेम में ही लीन पड़ी रहती थीं। किन्तु अब न जाने हमारे बचपन के साथी प्राणप्रिय कृष्ण कब मिलेंगे?

विशेष—(i) पत्र ने अपना गुण त्याग कर श्यामता ग्रहण कर ली है इसलिए तद्गुण अलंकार है।

(ii) गिरिधर को यदि साभिप्राय माना जाय तो परिकरांकुर अलंकार भी है।

अबकी सौं कठिन करत मन निसिदिन।
कहि कहि कथा, मधुप, समुझावति तदपि न रहत नंदनंदन बिन॥
बरजत श्रवन सँदेस, नयन जल, मुख बतियाँ कछु और चलावत।
बहुत भाँति चित धरत निठुरता सब तजि और यहै जिय आवत॥

कोटि स्वर्ग सम सुख अनुमानत हरि-समीप-समता नहिं पावत।
थकित सिंधु-नौका के खग ज्यों फिरि फिरि फेरि वहै गुन गावत॥
जे बासना न बिदरत अन्तर तेइ तेइ अधिक अनूअर दाहत।
सूरदास परिहरि न सकल तन बारक बहुरि मिल्यो है चाहत॥६३॥

शब्दार्थ—अपनी सी=अचानक। बिदरत=फटना। अंतर=हृदय। अनूअर=लगातार।

व्याख्या—प्रयत्न करने पर भी जब गोपियाँ अपने को श्री कृष्ण से ही अनुरक्त पाती हैं तो वे उद्धव से कहती हैं कि हे मधुप, हम यथा शक्ति अपने मन को बहुत कठोर बनाती हैं। अनेक प्रकार की कथायें कह-कहकर अपने मन का प्रबोध देती हैं फिर भी वह नदनंदन के बिना नहीं रहता। हम कानों में उनका संदेश नहीं पड़ने देती, नेत्रों के आँसुओं को भी दबाती हैं और मुख से कुछ अन्य बातें भी चलाती हैं जिसमें मन उनकी ओर न जाय। मन में बहुत प्रकार की कठोरता लगा कर भी हम देखती हैं कि मन सब कुछ छोड़ कर यही निश्चय करता है कि जो सुख हरि के समीप रहने से प्राप्त होता है वह सुख करोड़ों स्वर्ग के सुख की कल्पना करके भी प्राप्त नहीं हो सकता। सागर में चलने वाली नाव का पक्षी जिस प्रकार चक्कर काटकर थक कर फिर नाव पर ही आकर बैठता है उसी प्रकार हमारा मन इधर-उधर भटक कर उन्हीं के गुण गाकर उन्हीं की भक्ति में आश्रय प्राप्त करता है। हमारे हृदय में उनसे मिलने की एक ऐसी कामना पैदा होती है जिससे हमारा हृदय लगातार जलता रहता है। बस एक कसर रह जाती है और वह यह कि हृदय फटता नहीं। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि यह व्यथा मरणदायक है किन्तु फिर भी हम इस बात का प्रयत्न करती हैं कि अभी हमारा शरीर न छूटे क्योंकि अभी हम उनसे एक बार और मिलने की इच्छा रखती हैं।

विशेष—(i) एक बार सच्चा प्रेम होने पर फिर किसी प्रकार भी उस प्रेम-मार्ग से नहीं हटा जा सकता। गोपियाँ प्रयत्न करती हैं कि वे बेचारे ऊधो का मार्ग ग्रहण करलें, कृष्ण को भूल जाय, किन्तु भला यह संभव ही कहाँ था?

(ii) मिलन की आशा मरणदायक व्यथा को भी सहन करने की शक्ति दे देती है। इसीलिए गोपिकायें ऐसी अवस्था में भी जीवित रहीं।

(iii) उपमा अलंकार की छटा भी प्रस्तुत पद में दर्शनीय है।

रहु रे, मधुकर! मधुमतवारे।
कहा करौं निर्गुन लै कै हौं जीवहु कान्ह हमारे॥
लोटत नीच परागपंक में पचत न आपु सम्हारे।
बारंबार सरक मदिरा को अपरस कहा उघारे॥
तुम जानत हमहूँ वैसी हैं जैसे कुसुम तिहारे।
घरी पहर सबको बिलमावत जेते आवत कारे॥

सुन्दरस्याम कमलदल-लोचन जसुमति-नंद-कुमारे।
सूर स्याम को सर्वस अर्प्यो अब कापै हम लेहिं उधारे ॥६४॥

शब्दार्थ—सरक=घूंट भरना। अपरस=रसहीन। उधारे=उधार, कर्ज। पचत=परेशान होता है। कहा उघारे=खोलने से क्या लाभ। बिरमावत=रोकते हो, आराम देते हो। कापै=किससे।

व्याख्या—गोपियाँ अत्यन्त खीझ कर कहती हैं कि हे मधु पीके मतवाले भौंरे, चुप रह। हमारे कृष्ण चिरायु हों, हम निर्गुण को लेकर क्या करेंगी? जैसे तुम स्वार्थी हो कि अपने स्वार्थ के लिए पराग के पंक में लोटते फिरते हो और अपने मन को वश में नहीं कर पाते, वैसे ही तुम सब को समझते हो। बार-बार तुम शराब की घूंटें भरते हो जिसके बुरे स्वाद वर्णन न करना ही अच्छा है। तुम इतने बुरे हो लेकिन फिर भी फूलों से रंगरेलियाँ करते हो और वे तुम्हारा ऐसी दशा में भी स्वागत करते हैं। चाहे कोई भी काले रंग का क्यों न आवे वे तो सभी के साथ रंगरेलियाँ करने को तैयार रहते हैं क्योंकि वे रंगरेलियों के भूखे हैं। किन्तु हम उन जैसी नहीं हैं। हम ऐसी नहीं हैं कि आज सगुण को अपनाती हैं और कल निर्गुण के गीत गाती हैं। याद रखो, भ्रमर, हमने तो केवल कृष्ण से प्रेम किया है। उनके अतिरिक्त हम किसी को नहीं अपना सकतीं। हमने तो अपना सब कुछ नन्द और यशोदा के प्यारे सुन्दर कृष्ण को ही अर्पित कर दिया है। अब हमारे पास किसी दूसरे को कुछ देने को शेष रहा ही नहीं। हम अब किसी और को कुछ देने के लिए उधार भी किससे माँगें?

विशेष—(i) 'सरक' शब्द का अर्थ हमने आचार्य शुक्ल से कुछ भिन्न माना है। उनके अनुसार इसका अर्थ है मद्यपात्र किन्तु वह इतना ठीक नहीं बैठता जितना कि हमारा अर्थ 'घूंट भरना'।

(ii) सूरदास जी ने यहाँ यह प्रदर्शित किया है कि उनकी गोपियाँ वासना की देवी नहीं थी; उनमे तो सतीत्व की दृढ एवं निश्चल भावना थी।

निर्गुन कौन देस को बासी?
मधुकर! हँसि समुझाय, सौंह दै बूझति साँच, न हाँसी॥
को है जनक, जननी को कहियत, कौन नारि, को दासी?
कैसो बरन भेस है कैसो केहि रस में अभिलासी॥
पावैगो पुनि कियो आपनो जो रे! कहैगो गाँसी।
सुनत मौन ह्वै रह्यौ ठग्यो सो सूर सबै मति नासी॥६५॥

शब्दार्थ—सौंह=सौगन्ध। बरन=वर्ण। गाँसी=कपट की बात, चुभने वाली बात। नासी=नष्ट हो गई।

व्याख्या—गोपियाँ ऊधो के निर्गुण ब्रह्म का मजाक उड़ाती हुई कहती हैं कि हे ऊधो, बताओ तुम्हारा निर्गुण किस देश का रहने वाला है। हे मधुकर, तुम हमें खुशी से यह बात समझा दो। तुम्हें हमारी शपथ है, हम तुमसे हँसी नहीं कर रहीं, तुम

हमें सच-सच बता दो। उसके माता-पिता का क्या नाम है? उसकी स्त्री कौन है और उसकी दासी का क्या नाम है? उसका रंग और भेष कैसा है? यह भी बताओ कि उसे किस वस्तु से विशेष रुचि तथा लगाव है जिससे हम उसे जान सकें। पर देख लेना बिल्कुल सच-सच बताना। यदि तुम कुछ भी कपट अपने हृदय में रखा तो जान लो अपने किये का फल पाओगे। सूरदास जी कहते हैं कि ऊधो गोपियों की इन बातों को सुनकर ठगे-से रह गये! उनकी बुद्धि नष्ट हो गई। उनसे कोई उत्तर ही न बन पड़ा।

विशेष—ठीक ही है, भला वेद जिसका 'न तस्य प्रतिमा अस्ति' कहकर गान करते हैं और उपनिषद् जिसे 'नेति नेति' कह कर बताते हैं उसका वर्णन बेचारा उद्धव ही क्या कर सकता था?

97०

> नाहिन रह्यो मन में ठौर।
> नंदनंदन अछत कैसे आनिए उर और?
> चलत, चितवत, दिवस जागत, सपन सोवत राति।
> हृदय ते वह स्याम मूरति छन न इत उत जाति॥
> कहत कथा अनेक ऊधो लोक-लाभ दिखाय।
> कहा करौं तन प्रेम-पूरन घट न सिंधु समाय!
> स्याम गात सरोज आनन ललित अति मृदु हास।
> सूर ऐसे रूप-कारन मरत लोचन प्यास॥६६॥

शब्दार्थ—अछत=रहते। नाहिन=नहीं है। आनिए=ला सकती हैं। लोक-लाभ=सांसारिक लाभ।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हमारे मन में और किसी को बसाने को स्थान ही नहीं है। हमारे हृदय में तो नंदनंदन विराजमान हैं। उनके रहते हुए भला और कोई दूसरा हृदय में किस प्रकार लाया जा सकता है? यदि ऊधो यह कहने लगें कि जब कभी वे कहीं चले जावें तभी के लिए किसी दूसरे को धारण दे दो तो इसके लिए भी जैसे पहले से ही गोपियाँ उत्तर देने को तैयार बैठी हैं। वे कहती हैं कि उनकी श्यामली मूर्ति क्षण भर के लिए भी इधर-उधर नहीं जाती। वे तो दिन में जागते समय, चलते-फिरते, देखते-निहारते तथा रात में सोते या स्वप्न देखते में भी वे सदा साथ रहते हैं, क्षण भर के लिए भी इधर-उधर को नहीं जाते। यद्यपि उद्धव अनेकानेक लौकिक लाभ दिखा कर अपनी निर्गुण गाथा सुना रहे हैं किन्तु हमारा अन्तःकरण तो प्रेम से लबालब भरा है। ऐसी दशा में अंततः भी निर्गुण का ग्रहण किस प्रकार किया जा सकता है। भला घड़े में कहीं समुद्र समा सकता है। निर्गुण जैसा व्यापक ब्रह्म हमारे छोटे से हृदय में समा ही कैसे सकता है? कृष्ण का श्याम शरीर है, कमल के समान मुख है, साथ ही उनकी हँसी अत्यन्त आकर्षक है। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने उद्धव से कहा कि हमारे नेत्र तो ऐसे रूप का पान करने के लिए सदा तृषित रहते हैं।

विशेष—(i) रामानुजीय दर्शन और न्याय दर्शन के अनुसार मन अणु है अतः गोपियों ने ठीक ही कहा है कि उनके मन में इतना स्थान कहाँ कि जो दूसरा भी ठहराया जा सके।

(ii) रहीम और कबीर जैसे विद्वान कवियों ने भी मन के विषय में कुछ ऐसी ही बात कही है—

> प्रियतम छवि नयनन बसी, पर छवि कहाँ समाय।
> भरी सराय रहीम लखि, पथिक आप फिरि जाय॥ (रहीम)
> कबिरा काजर रेखहू अब तो दई न जाय।
> नैनन प्रीतम रमि रहा दूजा कहाँ समाय॥ (कबीर)

> काहे को रोकत मारग सूधो ?
> सुनहु मधुप ! निर्गुन-कंटक ते राजपंथ क्यों रूंधो ?
> कै तुम सिखै पठाए कुब्जा, कै कही स्यामघन जू धौं।
> वेद पुरान सुमृति सब ढूंढो जुवतिन जोग कहूँ धौं ?
> ताको कहा परेखो कीजै जानत छाछ न दूधो।
> सूर मूर अक्रूर गए लै ब्याज निबेरत ऊधो।९७।

शब्दार्थ—राजपथ=राजमार्ग, चौड़ा मार्ग। धौं=कदाचित्। सुमृति=स्मृति शास्त्र। कहूँ धौं=कहीं भी। छाछ=मट्ठा। मूर=मूलधन। रूंधो=रोकते हो।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे मधुप, तुम सीधे मार्ग (सगुण मार्ग) को क्यों रोक रहे हो। तुम निर्गुण के काँटों से सगुण के चौड़े मार्ग को क्यों रोकते हो ? ऐसा प्रतीत होता है कि तुम्हें कुब्जा ने सिखा-पढ़ा कर भेजा है जिससे उसका मार्ग सदा के लिए साफ हो जाय। ऐसा भी हो सकता है कि स्वयं घनश्याम ने ही हमसे अपना पिंड छुड़ाने के लिए तुमसे ऐसा कहला दिया हो। कुछ भी हो और चाहे किसी ने भी कहला कर भेजा हो ? समस्त वेद, पुराण और स्मृति ग्रंथ खोज डालो, क्या कहीं युवतियों के लिए योग का विधान लिखा है ? चाहे शास्त्रों में भी न लिखा हो किन्तु उनके इष्टदेव कृष्ण का कथन होने के कारण मान्य है। इसका उत्तर देती हुई गोपियाँ कहती हैं कि जिसे दूध और छाछ का अन्तर भी ज्ञात न हो तो उसकी बातों का हम बुरा भी क्या मानें ? सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि मूल-धन अर्थात् कृष्ण को पहले ही अक्रूर ले गये और अब ब्याज अर्थात् उनकी स्मृति को तुम (ऊधो) लेने आये हो।

विशेष—'निर्गुन-कंटक' में रूपक, 'राजपथ' में रूपकातिशयोक्ति तथा अंतिम पंक्ति में लोकोक्ति अलंकार की छटा देखते ही बनती है।

> बातन सब कोऊ समझावै।
> जेहि बिधि मिलन मिलैं वै माधव सो बिधि कोउ न बतावै॥
> जदपि जतन अनेक रचौ पचि और अनत बिरमावै।
> तदपि हठी हमारे नयना और न देखे भावै॥

बासर-निसा प्रानवल्लभ तजि रसना और न गावै।
सूरदास प्रभु प्रेमहि लगि करि कहिए जो कहि आवै ॥६८॥

शब्दार्थ—औरे=कहीं दूसरे पर टिके। प्रेमहि=प्रेम के सम्बन्ध से। बिरमावैं=रम रहे हैं। बासर=दिन।

व्याख्या—गोपियाँ कहती हैं कि सभी लोग हमें बातों से ही समझाना चाहते हैं किन्तु मिलन का उपाय कोई नहीं बताना चाहता जिससे कि कृष्ण मिल सकें। यद्यपि हम अनेक यत्न कर-करके थक गईं हैं किन्तु वे तब भी अन्यत्र ही रमे रहते हैं। पुनः ये हमारे नेत्र इतने हठीले हैं कि इन्हें और कुछ देखना भाता ही नहीं। यह हमारी जिह्वा भी कुछ ऐसी है कि दिन-रात प्राणवल्लभ श्री कृष्ण के अतिरिक्त और किसी का गुणगान करना ही पसन्द नहीं करती। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हे उधो, प्रेम के नाते तुम जो चाहो सो हमसे कहो किन्तु हमारी सब इन्द्रियाँ कृष्ण में ही अनुरक्त हैं।

विशेष—भक्तशिरोमणि रसखान ने भी इस तथ्य को निम्न पद में स्वीकार किया है—

'बैन वही, उनको गुन गाइ
औ कान वही, उन बैन सो सानी।
हाथ वही उन गात सरै
अरु पाइ वही जु वही अनुजानी॥'

ऐसेई जन दूत कहावत।
मोको एक अचंभो आवत यामे ये कह पावत?
बचन कठोर कहत, कहि दाहत, अपनी महत गंवावत।
ऐसी परकृति परति छाँह की जुवतिन ज्ञान बुझावत॥
आपुन निलज रहत नखसिख लौं एते पर पुनि गावत।
सूर करत परसंसा अपनी, हारेहु जीति कहावत॥६६॥

शब्दार्थ—दूत=इधर की उधर लगाने वाले। महत=महत्ता, महिमा। परकृति=प्रतिकृति या प्रकृति अर्थात् संसर्ग अथवा छाया का ऐसा प्रभाव पड़ता है।

व्याख्या—कोई गोपी कहती है कि वास्तव में ऐसे ही मनुष्यों को दूत कहा जाता है (जो तनिक-सी बात को बढ़ा कर बहुत बड़ी बात कर देते हैं।)। परन्तु मुझे तो आश्चर्य यह है कि ऐसा करने में इन्हें मिलता क्या है? ये अपना प्रभाव जमाने के लिए ही दूसरों को बुरा-भला कहते हैं जिससे सुनने वालों का हृदय दुःखी होता है। दुःखी होकर फिर वे लोग खूब इनकी बेइज्जती करते हैं और इस प्रकार इनकी महत्ता धूल में मिल जाती है। इन्हें ही देखो, संगति का इन पर भी यह प्रभाव पड़ा है कि ये भी युवतियों को ज्ञान पढ़ाने चल दिये हैं। स्वयं तो नख से शिख तक अर्थात् सर्वांग निर्लज्ज हैं पर साथ ही निरंतर अपना यही गीत भी गाये चले जा रहे हैं। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि ये लोग अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बन रहे हैं।

इतने सज्जारहित हैं कि ये अपनी पराजय को भी विजय समझते हैं।

विशेष—कृष्ण का योग सन्देश गोपियों को इतना बेतुका प्रतीत होता है कि वे ऊधो पर घोर अविश्वास प्रगट करती हैं और उसे एक ऐसा दूत समझती हैं जिसके विषय में संभवतः किसी ने कहा भी है—

'लज्जामेकां परित्यज्य त्रैलोक्य विजयी भवेत्।'

> प्रकृति जोई जाके अंग परी।
> स्वान-पूंछ कोटिक जो लागै सूधि न काहु करी॥
> जैसे कांग भच्छ नहिं छांडै जनमत जौन घरी।
> धोये रंग जात कहु कैसे ज्यों कारी कमरी?
> ज्यों अहि डसत उदर नहिं पूरत ऐसी धरनि धरी।
> सूर होउ सो होउ सोच नहिं, तैसे हैं एउ री॥७०॥

शब्दार्थ—प्रकृति=स्वभाव। स्वान=कुत्ता। अहि=सांप। धरनि धरी=टेक पकड़ी।

व्याख्या—गोपियों द्वारा बार-बार मना करने पर भी जब उद्धव योग की गाथा गाते ही रहे तो वे झल्ला कर कहने लगीं कि ठीक है जो स्वभाव भी जिस आदमी का बन जाता है वह कभी नहीं छूटता। करोड़ों उपाय क्यों न कीजिये, कुत्ते की पूँछ कभी सीधी हो ही नहीं सकती; सदैव टेढ़ी ही रहेगी। कौआ जन्म से ही अभक्ष खाना नहीं छोड़ता। काले कम्बल को चाहे कितना ही भी क्यों न धोया जाय, उसका रंग कभी नहीं छूटता अर्थात् उसका रंग काला ही रहेगा। चाहे पेट न भरे पर सांप का यह स्वभाव है कि वह काट ही खाता है। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा, चाहे कुछ भी हो उद्धव अकारण ही दूसरों को दुःख देने की अपनी आदत नहीं त्याग सकते।

विशेष—(i) उर्दू के प्रसिद्ध कवि अकबर ने भी निम्न पंक्तियों में उक्त कथन से सहमति प्रगट की है—

> आदत जो पड़ी हो पहले से वह दूर भला कब होती है?
> माकिट में रखी चुनौटी है, पतलून के नीचे धोती है।
> नसीहत का असर क्या खाक होगा ऐसे पागल पर।
> चढ़ाते हो गुलाबी रंग तुम भी काले कम्बल पर।

(ii) अर्थान्तरन्यास अलंकार का स्वाभाविक प्रयोग है।

> ब्रजजन सकल स्याम-व्रतधारी।
> बिन गोपाल और नहिं जानत आन कहैं व्यभिचारी॥
> जोग मोट सिर बोझ आनि कै कत तुम घोष उतारी?
> इतनी दूरि जाहु चलि कासी जहाँ बिकति है प्यारी॥

यह सँदेस नहि सुनै तिहारो, है मडली अनन्य हमारो।
जो रसरीति करी हरि हमसों सो कत जात बिसारो?
महामुक्ति कोऊ नहि बूझै, जदपि पदारथ चारो।
सूरदास स्वामी मनमोहन मूरति की बलिहारी ॥७१॥

शब्दार्थ—ग्रान=दूसरे। ध्यारी=महँ ी। अनन्य=सच्ची। पदारथ चारी=चार पदार्थ अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष।

व्याख्या—ब्रज मे सभी श्याम मे पूर्णतया अनुरक्त है अतः हे ऊधो, आप अपना जोग और कहीं ले जाओ। इसी भाव को प्रगट करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि यहाँ व्रज में तो सभी लोग श्याम का व्रत धारण किये हुए हैं। श्याम के अतिरिक्त यहाँ के लोग और किसी को जानते भी नही। किसी अन्य की कथा कहना अथवा सुनना यहाँ व्यभिचार माना जाता है। तुमने अपने जोग की पोटली यहाँ व्यर्थ मे उतार दी है। यदि तुम इसे काशी ले जाते तो वहाँ तुम्हारा यह योग का सौदा महँगा बिकता क्योंकि वहाँ विद्वान लोग रहते हैं और विद्वान ही योग का महत्त्व भी समझते हैं। यहाँ तो सरल स्वभाव के ब्रज-जन हैं जो पूर्णतया श्याम मे अनुरक्त हैं और तुम्हारे इस योग को सुनना भी नही चाहते। हमारी मडली तो बड़ी अनोखी है। जो रास-रंग यहाँ कृष्ण कर गये हैं वह भला हम कैसे भूल सकते हैं? यहाँ तुम्हारी मुक्ति को भी कोई नहीं पूछता क्योंकि जो आनन्द कृष्ण के साथ रसकेलियों मे आया था वह इस मुक्ति मे कहाँ। रही चारों पदार्थों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—की बात सो वे हमे सहज मे ही प्राप्त हैं। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हे उद्धव, यहाँ तो हम अपने सुन्दर रूप वाले मनमोहन पर न्यौछावर है।

विशेष—श्री मैथिलीशरण गुप्त ने भी गोपियो के इस तथ्य को स्वीकार किया है—

जो जन तुम्हारे पद कमल के असल मधु को जानते।
वे मुक्ति की भी कर अनिच्छा तुच्छ उसको मानते॥

कहति कहा ऊधो सो बौरी।
जाको सुनत रहे हरि के ढिग *स्यामसखा यह सो री!*
हमको जोग सिखावन आयो, यह तेरे मन आवत।
कहा कहत री! मैं पत्यात री नहीं सुनी कहनावत॥
करनी भली भलेई जानै, कपट कुटिल की खानि।
हरि को सखा नहीं री माई! यह मन निसचय जानि॥
कहाँ राम-रस कहाँ जोग-जप? इतनो अन्तर भाखत।
सूर सबै तुम कत भई बौरी याकी पति जो राखत॥७२॥

शब्दार्थ—बौरी=पगली। पत्यात=विश्वास करती हूँ। पति=विश्वास।

व्याख्या—उद्धव को बनाने के लिए एक गोपी दूसरी गोपी से कहती है कि अरी पगली, तू ऊधो से क्या कह रही है? तू जानती नहीं कि ये कृष्ण के वे ही सखा

हैं जिनके विषय में हम बहुत कुछ सुना करते थे। अरी पगली, तू क्या कह रही है मैं तो अभी तक यही सच माने बैठी थी कि ये अवश्यमेव कृष्ण के ही मित्र हैं और उन्हीं के आदेशानुसार यहाँ योगसन्देश लाये हैं। किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। क्या तुम्हें यह कथन ज्ञात नहीं है कि जो भले होते हैं वे तो सदा भला काम करते हैं और जो कपटी होते हैं वे कुटिलता की खान होते हैं; तू बस मेरे इतना कहने से ही सब समझ जा। तब गोपी ने उत्तर दिया कि अच्छा तो ये हजरत कृष्ण के मित्र नहीं हैं, अब मैं जान गई। यह योग का सन्देश इनकी मनगढ़न्त कल्पना है। ठीक भी है, कहाँ तो उन रसिक शिरोमणि कृष्ण का राम के प्रति सच्चा अनुराग और कहाँ यह जोग-जप आदि नीरस क्रियायें? आकाश और पाताल का अन्तर है। वास्तव में अरी तुम सब क्यों पागल हो गई हो जो इस पर विश्वास कर रही हो; यह कृष्ण का मित्र नहीं है।

विशेष—गोपियों को इस प्रकार का भ्रम हो जाना अत्यन्त स्वाभाविक है क्योंकि कृष्ण तो रसिक शिरोमणि हैं फिर वे नीरस योग का सन्देश क्यों भेजते। रसिक शिरोमणि और योग का सन्देश बिल्कुल विपरीत बात है।

तौ हम मानें बात तुम्हारी।
अपनो ब्रह्म दिखावहु ऊधो मुकुट-पीतांबरधारी॥
भाज हैं तब ताको सब गोपी सहि रहिं हैं बरु गारी।
भूत समान बतावत हमको जारहु स्याम बिसारी॥
जे मुख सदा सुधा अचॅवत है ते विष क्यों अधिकारी।
सूरदास प्रभु एक अंग पर रीझि रहीं ब्रजनारी॥७३॥

शब्दार्थ—गारी=गाली। भूत=आकारहीन परछाईं। अचॅवत=आचमन करना अर्थात् पीते हैं।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव के ब्रह्म को मानने के लिए अपनी एक शर्त रखती हुई कहती हैं कि हे उद्धव, हम तुम्हारी बात मान सकती हैं यदि हमें तुम अपने ब्रह्म को मुकुट और पीताम्बर वेषधारी के रूप में दिखा दो। यदि तुम हमारी यह शर्त पूरी कर दो तो हम तुम्हें विश्वास दिलाती हैं कि चाहे हमें गाली ही क्यों न लगे, हम तुम्हारे ब्रह्म को स्वीकार कर लेंगी। किन्तु तुम तो हमें भूत जैसी आकारहीन परछाईं बता रहे हो। आग लगा दो अपने ऐसे भयानक ब्रह्म में। इसके उपदेश से भला हम अपने श्याम को कैसे भुला देंगी? भला जो अपने मुख से अमृत पीते रहे हैं, वे विष के अधिकारी क्यों बनने लगे? सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि ब्रज की नारियाँ तो प्रभु कृष्ण के अंग-अंग पर रीझ चुकी हैं अर्थात् वे फिर तुम्हारे आकारहीन भयावह ब्रह्म को कैसे अपना लेंगी?

विशेष—गोपियों की शर्त वास्तव में बहुत कठोर है। न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेगी। न तो ऊधो अपने निराकार ब्रह्म को मुकुट और पीताम्बरधारी के रूप में दिखा सकेंगे और न गोपियाँ स्वीकार करेंगी।

यहै सुनत ही नयन पराने।
जबहीं सुनत बात तुव मुख की रोवत रमत ढराने॥
बारंबार स्यामघन घन तें भाजत फिरत लुकाने।
हमको नहिं पतियात तबहिं तें जब ब्रज आपु समाने॥
नातरु यहौ काछ हम काछति वै यह जानि छपाने।
सूर दोष हमरे सिर धरिहौ तुम हौ बड़े सयाने॥७४॥

शब्दार्थ—ढराने=ढले। काछ काछति=वेष धारण करती, चाल चलती। रमत=मग्न होते हैं। भाजत=भागते हैं। लुकाने=छिपते हैं। समाने=आए।

व्याख्या—निर्गुण के उपदेश की भयानकता का प्रकारान्तर से वर्णन करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे उद्धव, तुम्हारा निर्गुण का उपदेश सुनते ही हमारे नेत्र यहाँ से भाग निकले। तुम्हारे मुख से बात सुनते ही रोते हुए यहाँ से ढुलक-ढुलक कर ये चलते बने। तुम्हारे कृष्ण के समान वर्ण को देखकर ये लालच से तुम्हारी ओर बढ़े थे किन्तु पास पहुँचने पर तुमने जो व्यथा इनको दी, इससे ये अब सभी कालों को देखकर चकपका जाते हैं। कृष्ण के सदृश काली घटाओं को भी देखकर ये नेत्र अब इधर-उधर छिपते फिरते हैं। काले रंग से इस प्रकार भयभीत होने के वास्तविक कारण आप हैं। जब से आप ब्रज में पधारे हैं तभी से श्याम रंग से ये कुछ इतने भय-भीत हो गये हैं कि हमारे समझाने पर भी विश्वास नहीं करते। यदि ये हमारा कहना मान लेते तो शायद हम आपकी बतायी हुई चाल पर भी चल देतीं। पर अब क्या करें ये तो पहले ही कहीं जाकर छिप गये हैं। सूर कहते हैं कि गोपियों ने ऊधो से कहा कि तुम तो बड़े चतुर हो, तुम तो इस सबका दोष हमारे माथे ही मढ़ोगे। इन सत्याग्रही नेत्रों का दोष कुछ न मानकर श्याम से जाकर यही कहोगे कि गोपियों ने आपका संदेश नहीं माना।

विशेष—नेत्रों का यह सत्याग्रह सूर की गोपियों की चतुरता एवं वाग्विदग्धता का ज्वलंत प्रमाण है।

देन आए ऊधो मत नीको।
आवहु री! सब सुनहु सयानी, लेहु न जस को टीको॥
तजन कहत अंबर, आभूषन, गेह नेह सब ही को।
सीस जटा, सब अंग भस्म, अति सिखवत निर्गुन फीको॥
मेरे जान यहै जुवतिन को देत फिरत दुख पी को।
तेहि सर-पंजर भए स्याम तन, अब न गहत डर जी को॥
जाकी प्रकृति परी प्रानन सों, सोच न पोच भलो को।
जैसे सूर ब्याल डसि भाजत का मुख परत अमी को?॥७५॥

शब्दार्थ—अंबर=वस्त्र। सर-पंजर=बाणों का घेरा। अमी=अमृत। पोच=बुरा। ब्याल=सर्प।

व्याख्या—गोपियाँ आपस में कह रही हैं कि ऊधो जी अच्छी सलाह देने आये

हैं। माधो! चतुर सखियो, सब की सब चलकर सत्संग लाभ के यश की अधिकारि बनें। अरे! यह सुन्दर और सूक्ष्म वस्त्र और आभूषण त्यागने को कहते हैं और (आदि सभी के स्नेह को छोड़ने की बात बता रहे हैं। इनके उपदेशानुसार तो सि पर जटायें तथा सारे शरीर पर भस्म लगाना होगा और नीरस निर्गुण का ध्या करना होगा। मेरा विचार तो यह है कि युवतियों को वैराग्य की शिक्षा देकर तथ सबके स्नेह से विमुख होने का उपदेश देकर यही उनके स्वामियों को वियोग दु प्रदान करते फिरते हैं। उनको घायल करने के हेतु ये बाणों के समूह को ग्रहण किं हुए हैं। इन्हीं बाणों के समूहों के पिंजड़े में फँसे होने के कारण ये काले हो रहे हैं अब तो ये इतने पक्के हो गये हैं कि इनके हृदय में तनिक भी शंका और संकोच का अनुभव नहीं होता। वास्तव में बात यह है कि जिसका जन्म से जो स्वभाव बन जाता है उसके लिए फिर वह बात कुछ भली और बुरी नहीं रहती। सूरदास जी कहते हैं कि साँप काटता है किन्तु क्या काटने से उसके मुख में अमृत पड़ जाता है? नहीं, काटना तो उसका जन्मजात स्वभाव है इसीलिए वह काटता है।

विशेष—उत्प्रेक्षा और दृष्टान्त अलंकार की छटा दृष्टव्य है।

प्रीति करि दीन्हीं गरे छुरी।
जैसे बधिक चुगाय कपटकन पाछे करत बुरी॥
मुरली मधुर चेंप कर काँपो मोरचन्द्र ठटवारी।
बंक बिलोकनि लूक लागि बस सकी न तनहिं सम्हारी॥
तलफत छाँड़ि चले मधुबन को फिरि कै लई न सार।
सूरदास या कलप-तरोवर फेरि न बैठो डार॥७६॥

शब्दार्थ—काँपो=कंपा, बाँस की पतली तीलियाँ जिनमें बहेलिये लासा लगा कर चिड़िया फँसाते हैं। ठटवारी=टट्टी। सार=खोज खबर लेना। कलप-तरोवर= कल्पतरु।

व्याख्या—कृष्ण की निष्ठुरता पर प्रकाश डालती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि कृष्ण का यह विस्मरण सदेश हमें बहुत कठोर प्रतीत हो रहा है। यह तो ऐसा है जैसे पहले प्रीति करना और फिर कटार भोंक देना। उनका यह कार्य तो ऐसा है जैसा कि एक उस शिकारी का जो पहले तो कपट से अन्न के कण चुगाता है और बाद में जब जीव लुब्ध हो जाता है तो उसको मार डालता है। इस प्रकार अब हम जान गई कि वस्तुतः कृष्ण ने हमारे लिए शिकारी का बाना धारण करके हमें भूल में डाल कर हमारा सर्वनाश करने का विचार किया था। कृष्ण की मधुर मुरली ही तो मानो हमें फँसाने के लिए लासा था तथा उनके हाथ जिनमें मुरली शोभायमान थी, कंपा के समान थे। उनके सिर का मोरमुकुट मानो हमें फँसाने को टट्टी था। फिर उन्होंने अपनी बाँकी चितवन से तो हमको अचानक वह चोट दी जिससे हम अपने आप को संभाल ही न सकीं। चितवन की उस आग में हमें छटपटाते हुए छोड़कर वे स्वयं मधुबन को चलते बने और हमारी कोई खैर-खबर तक न ली। सूर कहते हैं कि

गोपियों ने कहा कि हे उद्धव, फिर हम उस कल्पतरु की डाल पर बैठ ही न सकीं अर्थात् कृष्ण के जाने के बाद फिर हम सुखी हो ही न सकी। हमारे मनोरथ के कल्पतरु मे फिर कोई शाखा न निकली अर्थात् हमारे सब मनोरथ मिट्टी में मिल गये।

विशेष—उपमा और सांगरूपक अलकार की छटा दर्शनीय है।

नयननि वहै रूप जौ देख्यो।
तौ ऊधो यह जीवन जग को साँचु सफल करि लेख्यो॥
लोचन चारु चपल खंजन, मनरंजन हृदय हमारे।
रुचिर कमल मृग मीन मनोहर स्वेत अरुन अरु कारे॥
रतन जटित कुंडल श्रवननि वर, गंड कपोलनि झाँई।
मनु दिनकर प्रतिबिंब मुकुर महँ ढूंढ़त यह छवि पाई॥
मुरली अधर विकट भौंहैं करि ठाढ़े होत त्रिभंग।
मुकुतमाल उर नीलसिखर तें धसि धरनी ज्यों गंग॥
और भेष को कहै बरनि सब अंग अंग केसरि खौर।
देखत बनै, कहत रसना सो सूर बिलोकत और॥७७॥

शब्दार्थ—झाँई=प्रतिबिम्ब। मुकुर=दर्पण। विकट=टेढी। होत त्रिभंग=गले, कमर और पैर से टेढे होकर। मुकुतमाल=मोती की माला। और=और कोई (यहाँ नेत्र से तात्पर्य है)।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हमने नेत्रों से जो वह रूप (कृष्ण का) देखा तो हमने संसार में अपना जीवन सफल समझा। वे सुन्दर नेत्र जो चंचल खंजनों के समान हमारे मन को अनुरक्त करते थे, कमल, मृगनयन और मछली के सदृश शोभायुक्त थे और श्वेत, लाल और काले रंग के थे भला हमारे मन को अपनी ओर कैसे आकर्षित न करते? फिर कानों में सुन्दर रत्नजटित कुण्डल जिनकी मन को आकर्षित करने वाली कान्ति निर्मल कपोलों पर प्रतिबिम्बित होती हुई अत्यन्त मनमोहक प्रतीत हो रही थी। ऐसा प्रतीत होता था मानो सूर्य का प्रतिबिम्ब मुकुट में पड़ कर इस छवि को ढूंढ निकालने का प्रयास कर रहा हो। अधरों पर मुरली, टेढ़ी भौंहें तथा त्रिभंगी मुद्रा में उनका खड़ा होना भी बहुत मनमोहक था। छाती पर स्थित मोतियों की माला ऐसी सुशोभित थी जैसी कि नील पर्वत से धरणी की ओर गिरती हुई गंगा सुशोभित होती है। उनके शरीर के अन्य वेश का वर्णन करना व्यर्थ है। उनके अंग-प्रत्यंग पर केसर की रचना शोभायमान थी। कृष्ण की इस शोभा का वर्णन नहीं किया जा सकता; इसकी अच्छी अनुभूति तो देखने से ही हो सकती है क्योंकि कहने वाली वाणी तथा देखने वाले और कोई (नेत्र) हैं।

विशेष—(i) तुलसी ने भी एक स्थान पर ऐसा ही कहा है—
'गिरा अनयन नयन बिनु बानी।'

(ii) रूपक, उत्प्रेक्षा और उपमालंकार ने पद की शोभा बहुत बढ़ा दी है।

नयनन नंदनंदन ध्यान।
तहाँ लै उपदेश दीजै जहाँ निरगुन ज्ञान॥
पानिपल्लव-रेख गनि गुन अवधि बिधि-बंधान।
इते पर काहे कटुक बचनन हनत जैसे प्रान॥
चंद कोटि प्रकास मुख, अवतंस कोटिक भान।
कोटि मन्मथ वारि छबि पर, निरखि दीजत दान॥
भृकुटि कोटि कुदंड रुचि अवलोकनी संधान।
कोटि वारिज बंक नयन कटाच्छ कोटिक बान॥
कंबु ग्रीवा रतनहार उदार उर मनि जान।
आजानुबाहु उदार अति कर पद्म सुधानिधान॥
स्याम तन पटपीत की छबि करै कौन बखान?
मनहु निर्तत नीलघन में तड़ित अति द्युतिमान॥
रासरसिक गोपाल मिलि मधु अधर करती पान।
सूर ऐसे रूप बिनु कोउ कहा रच्छक आन?॥७८॥

शब्दार्थ—गनि=समझकर। गुन=गुण की सीमा, अत्यन्त गुणयुक्त। बिधि-बंधान=ब्रह्मा की रचना। अवतंस=कुंडल। भान=भानु। रुचि=शोभा। कंबु=शंख। उदार=चौड़ा। मनि=मणि, कौस्तुभ। निर्तत=नाचती है, चमकती है। कुदंड=कोदंड, धनुष। अवलोकनी=चितवन। संधान=धनुष खींचना।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हमारे नेत्रों में सदा नंदनंदन का ही ध्यान समाया रहता है। हमारे नेत्रों में उसके अतिरिक्त और कोई जँचता ही नहीं। अतः तुम यह अपना निर्गुण का उपदेश वहीं जाकर दो जहाँ लोग निर्गुण से जानकारी रखते हों। एक तो हम अभाग्यवश वैसे ही अपनी हस्तरेखाओं पर उनके आगमन की अवधि के दिन गिना करती हैं और अपने भाग्य को कोसा करती हैं और उस पर भी फिर आप वियोग की कटु बात कह-कहकर हमारे प्राणों को मारे डालते हैं। किन्तु ध्यान रखो कोई कुछ भी करता रहे हमारा आश्रय तो वही रूप-माधुरी है जिसमें हमने करोड़ों चन्द्रों के प्रकाश जैसे चमकते मुख के और करोड़ों सूर्य जैसे जगमगाते हुए आभूषणों को देखा है। करोड़ों कामदेवों जैसी उस छवि पर हम अपने को बलिदान कर चुकी हैं। जिनकी भ्रूलतायें धनुष जैसी शोभा वाली हैं। जिनकी दर्शन-शक्ति उस भ्रूलता-धनुष का आकर्षण है और जो अपने अनोखे कमल जैसे कोमल नयनों से कटाक्ष रूपी कोमल बाणों की वर्षा करता है, कौन होगा ऐसा जो उन बाणों की चोट खाकर भी अपना सब कुछ बलिदान न कर दे। प्रियतम कृष्ण की शंख जैसी गर्दन में रत्नों के हार और वक्षस्थल पर सरस एवं सुन्दर कौस्तुभ मणि शोभायमान है। उनके हाथ घुटनों तक लम्बे हैं और उनके कमल रूपी चरण अमृत-निधान हैं। उनके सर्वांग सुन्दर श्याम शरीर पर पीताम्बर से जो शोभा छाई है उसका वर्णन करने की भला किसमें शक्ति है? ऐसा प्रतीत होता है कि मानो श्याम

मेघों में कांतियुक्त बिजली नाच कर रही हो। ऐसे सुन्दर गोपाल से आलिंगन करके हमने उनके अधरामृत का पान किया है। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि ऐसे रूप माधुर्य के अतिरिक्त भला और कौन हमारा रक्षक हो सकता है? अतः अब हम वियोग में रक्षा के लिए किसी और की शरण नहीं जा सकतीं। वही श्याम इस विपद में भी हमारी रक्षा करेंगे।

विशेष—इस एक ही पद में उपमा, प्रतीप, सांगरूपक, वाचकलुप्तोपमा, वस्तूत्प्रेक्षा पाँच अलंकारों का स्वाभाविक प्रयोग देखने योग्य है।

हम, अलि, गोकुलनाथ अराध्यो।
मन बच क्रम हरि सों धरि पतिव्रत प्रेम-जोग तप साध्यो ॥
मातु-पिता-हित प्रीति निगम-पथ तजि दुख-सुख भ्रम नाख्यो।
मानऽपमान परम परितोषी अस्थिर थित मन राख्यो ॥
सकुचासन, कुलसील परस करि, जगत बंद्य करि बंदन।
मानऽपवाद पवन-अवरोधन हित-क्रम काम-निकंदन ॥
गुरुजन-कानि अगिनि चहुँदिसि, नभ-तरनि ताप बिनु देखे।
पिवत धूम-उपहास जहाँ तहँ, अपजस स्रवन-अलेखे ॥
सहज समाधि बिसारि बपुकरी, निरखि निमेख न लागत।
परम ज्योति प्रतिअंग-माधुरी धरत यहै निसि जागत ॥
त्रिकुटी संग भ्रूभंग, तराटक नैन नैन लगि लागे।
हँसन प्रकास, सुमुख कुंडल मिलि चंद सूर अनुरागे ॥
मुरली अधर स्रवन धुनि सो सुनि अनहद सब्द प्रमाने।
बरसत रस रुचि-बचन-संग, सुख-पद-आनंद-समाने ॥
मंत्र दियो मनजात भजन लगि, ज्ञान ध्यान हरि ही को।
सूर, कहो गुरु कौन करै, अलि, कौन सुनै मत फीको? ॥७६॥

शब्दार्थ—नाख्यो=पार किया। कानि=लज्जा। त्रिकुटी=दोनों भौंहों के बीच का स्थान। तराटक=त्राटक; योग के छः कर्मों में से एक, अनिमेष रूप से किसी बिन्दु पर दृष्टि गड़ाने का अभ्यास। मनजात=कामदेव। सकुचासन=संकोच रूपी आसन पर स्थित होकर। परस करि=छूकर, दान देकर, छोड़ कर। क्रम=कर्म। निकंदन=नाश। तरनि=सूर्य। अपजस=अपयश। अलेखे=सुनी अनसुनी कर देना। प्रकास=ब्रह्म ज्योति दर्शन। अनहद=अनाहत शब्द। प्रमाने=मान, समान। समाने=ब्रह्मानंद में लीन होने की दशा।

व्याख्या—अपने प्रेम योग की ऊधो के ज्ञान-योग से समानता प्रदर्शित करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि अरे मधुप, हमने गोकुलनाथ कृष्ण की आराधना की है। हमने मन, वचन और कर्म से हरि के साथ पतिव्रत धर्म का निर्वाह करके प्रेम

के योग और तप को प्रमाणित कर दिया है। तुम्हारी योग-साधना के सदृश ही हमने भी प्रेम-योग साधना में माता पिता तथा अन्य हितैषियों के प्रेम से अपना सम्बन्ध तोड़ कर तथा सारी इच्छाओं को पूरा करने वाले वैदिक पथ को त्याग कर संसार के सुख एवं दुःखों के भ्रम को त्याग दिया है। भाव यह है कि हम भी योगियों के समान सुख-दुःख की प्राप्ति से मुक्त हो चुकी हैं। इतना ही नहीं, हमने प्रेम-योग द्वारा चंचल मन को भी स्थिर कर लिया है और इसलिए मान और अपमान दोनों से हम परम सन्तुष्ट रहती हैं। संकोच का आसन बना कर हमने कुलशील प्राणायाम भी सिद्ध कर लिया है। हमने संसार की सभी हितकारी क्रियाओं को छोड़ दिया है तथा सच्ची सन्यासी जनों जैसी निस्पृहता ग्रहण कर ली है। प्रेम-योग ही नहीं, हमने प्रेम-तप को भी सिद्ध कर लिया है। योगियों जैसी पंचाग्नि तप की साधना हमने भी की है। हमारी इस साधना में चारों दिशाओं की अग्नि का कार्य किया चारों ओर विद्यमान हमारे बड़े जनों की लज्जा ने और पंचाग्नि तप में सूर्य के स्थान में हमारा वियोग जन्य प्रदर्शन रहा। जहाँ-तहाँ होते हुए अनेक उपहासों का धूम्र पीकर निरन्तर कानों में पड़ने वाले अपयश की भी हम अवहेलना करते रहे हैं। अपने शरीर को भुलाकर हम एक निश्चल एवं अखंड समाधि में लगी रही हैं। इस समाधि में हमने भी योगियों की भाँति अपने इष्टदेव की प्रत्येक अंग माधुरी के दर्शन किये हैं। ये दर्शन हमने एकटक नेत्रों से इतनी तन्मयता से किये कि अब रात और दिन सोते-जागते वही अलौकिक ज्योति सामने खड़ी दीखती है। हमने उनके भ्रूभंग पर त्रिकुटी साधना तथा उनके नेत्रों को एकटक देखकर नाटक साधना में भी सिद्धि प्राप्त कर ली है। उनके स्मित प्रकाश से युक्त कुण्डल तथा मुख रूप सूर्य चन्द्र से अनुराग करके होठों पर स्थित मुरली के मधुर स्वर रूपी योगियों के अनाहत शब्द को भी हमने निरन्तर सुना है। उनके राग भरे वचनों का रस हमारे लिए सदैव आनन्द देने वाला मोक्ष-सुख रहा है। हमारे इस प्रेम-योग का मन्त्र कामदेव का मन्त्र है जिसमें सर्वदा हरि का ज्ञान एवं ध्यान बना रहता है। सूर कहते हैं कि गोपियों ने ऊधो से कहा कि अब तुम्हीं बताओ भौंरे, फिर हम किसी और को गुरु क्यों बनावें और तुम्हारे इस फीके मत को यहाँ कौन सुने ?

विशेष—प्रेम-योग को ज्ञान-योग के समान सिद्ध करके सूर ने अपना अतुल शास्त्रीय ज्ञान प्रकट किया है, साथ ही प्रस्तुत पद का सांगरूपक अलंकार का सुन्दर, निर्वाह उनके महान् काव्य-कला-ज्ञान का भी प्रतीक है।

कहिवे जोग न कछु तक राखो।
लावा मेलि दए हैं तुमको बकत रहौ नि भ्राखो॥
जाकी बात कहौ तुम हमसों सो धौं कहौ को काँधो।
तेरो कहो सो पवन भूस भयो, बहो जात ज्यों आँधो॥
कत श्रम करत सुनत कोह्यां है, होत जो बन को रोयो।
सूर इते पै समुझत नाहीं, निपट दई को खोयो॥८०॥

शब्दार्थ—लाया मेल दए=जादू अथवा टोटका करके पागल बना देना। धाम्यो=मारा। बाँधी=मान लिया। दई की खोयो=गया-बीता।

व्याख्या—बहुत कुछ कहने पर भी जब उद्धव निर्गुण का उपदेश देने से विरत न हुए तो गोपियाँ झल्ला कर कहने लगी कि अब जो कुछ तुम्हारे मन में हो, उसके कहने में कोई कसर मत रखना। बेधड़क होकर खूब कहो जो भी तुम्हें कहना है। ऐसा प्रतीत होता है कि तुम्हें तो किसी ने कुछ जादू-टोना करके पागल बना दिया है। तुम्हारी इच्छा है कि दिन भर बकवास करते रहो। तुमने जिसके विषय में यहाँ जो कुछ कहा है, उसे यहाँ किसी ने स्वीकार भी किया है? तुम्हारा कहना तो यहाँ लोगों ने इस कान से सुना और उस कान से निकाल दिया है। तुम्हारे कथन की तो यहाँ वह गति हुई है जो आँधी में भूसे की होती है। तुम व्यर्थ ही श्रम कर रहे हो। तुम्हारा कथन यहाँ वन में रोने के सदृश निरर्थक है। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि तुम तो इतने गये-बीते हो कि इतना होने पर भी तो नहीं समझते।

विशेष—लोकोक्तियों की भरमार ने गोपियों के कथन को अत्यधिक प्रभाव-शाली बना दिया है।

> कोउ ब्रज बाँचत नाहिंन पाती।
> कत लिखि लिखि पठवत नंदनंदन कठिन बिरह की कांती॥
> नयन, सजल, कागद अति कोमल, कर अँगुरी अति ताती।
> परसत जरै, बिलोकत भीजै दुहूँ भाँति दुख छाती॥
> क्यों समुझै ये अंक सूर सुनु कठिन मदन-सर-घाती।
> देखे जियहिं स्याम सुंदर के रहहिं चरन दिन राती॥८१॥

शब्दार्थ—पाती=पत्र। कांती=छुरी। मदन=कामदेव। सर=बाण। घाती=बिंधे हुए।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि ब्रज में नन्दनन्दन की इस सन्देश-पत्रिका को कोई नहीं पढ़ता। अत्यधिक विरह की इस कठोर छुरी-सी पाती इस पत्रों को नन्दनन्दन बार-बार क्यों लिख भेजते हैं? क्या तुम्हें ज्ञात नहीं है कि इस पत्र का कागज बड़ा कोमल है। इनके सन्देश की व्यथा से हमारे नेत्र सजल उठे हैं और हाथ की उँगलियाँ गर्म हो गई हैं। यदि हमने गर्मी से जलती हुई इन उँगलियों से इसे छू लिया तो छूते ही यह जल जायगी और यदि अश्रुपूर्ण नेत्रों से देख लिया तो यह भीग जायगी। तात्पर्य यह है कि इसका स्पर्श करना और इस पर दृष्टि डालना दोनों बातें ही गोपियों के लिए बड़ी दुखदायक हैं। सूर [illegible] गोपियों ने कहा कि हे उद्धव, इस कठोर कामदेव के बाणों का प्रहार [illegible] लिखावटों को समझ कर हम क्या करेंगी, हम तो श्यामसुन्दर [illegible] दिन-रात उन्हीं के चरणों में रत रहती हैं

विशेष—'लुप्तोपमा' अलंकार की छटा दर्शनीय है।

मुकुति आनि मंदे में मेली।
समुझि सगुन लै चले न, ऊधो! ये सब तुम्हरे पूंजि अकेली॥
कै लै जाहु अनत ही बेचन, कै लै जाहु जहाँ बिष-बेली।
याहि लागि को मरै हमारे वृंदावन पाँयन-तर पेली॥
सीस धरे घर घर कत डोलत, एकमते सब भई सहेली।
सूर वहाँ गिरिधरन छबीलो जिनकी भुजा अंस गहि मेली॥८२॥

शब्दार्थ—मदे मे=मंदे बाजार में। मेली=उतारी। मस=कथा। सगुन लै=सगुन विचार कर। ये सब=जोग, तप, व्रत आदि। बिष-बेली=कुब्जा। पाँयन-तर पेली=पैरो के नीचे करके, तिरस्कार करके।

व्याख्या—गोपियाँ योग-संदेश पर व्यंग्य कसती हुई उद्धव से कहती हैं कि तुमने मुक्ति को मन्दे बाजार में लाकर उतारा है। तुम सगुन विचार कर नही चले, नहीं तो लाभ अवश्य होता। यहाँ लाकर तो तुमने हानि ही उठाई। तुम्हारे पास तो पूँजी भी बस यही है। अतः यदि तुम लाभ चाहते हो तो इसे और कही जाकर बेचो। संभवतः तुम्हें अच्छे ग्राहक मिल जायें और तुम्हारा यह सौदा (योग-संदेश) लाभ से बिक जाय। हमारी सम्मति मे तो तुम इसे वहाँ ले जाओ जहाँ विष-बेल कुब्जा है। वह इसके गुणों को भली प्रकार जानती है और इसलिए वही इसके गुणों की परख भी कर सकेगी। हम निकट ही रहने वाले वृन्दावन और उसकी रंगरेलियों को तिरस्कृत करके इसके लिए अपनी जान क्यों खपावें? अतः तुम इसे सिर पर रखे घर-घर क्यों फेरी लगा रहे हो? सूरदास जी कहते हैं कि सब सखियाँ एकमत होकर उद्धव से कहने लगीं कि हमारा अद्भुत छविशाली गिरधारी जो आजकल मथुरा मे रहता है और जिससे गलबाहीं डाल कर हमने आलिंगन किया है, उससे प्राप्त आनन्द के सामने हम और किसी सुख को कुछ नहीं समझतीं।

विशेष—प्रस्तुत पद व्यंग्य, जो सूर के भ्रमरगीत की प्रधान विशेषता है, का एक जीता-जागता उदाहरण है।

निरमोहिया सों प्रीति कीन्ही काहे न दुख होय?
कपट करि करि प्रीति कपटी लै गयो मन गोय॥
काल-मुख तें काढ़ि आनी बहुरि दीन्हीं ढोय।
मेरे जिय की सोइ जानै जाहि बीती होय॥
सोच; आँखि मँजीठ कीन्हीं निपट काँची पोय।
सूर गोपी मधुप आगे दरकि दीन्हीं रोय॥८३॥

शब्दार्थ—निरमोहिया=निष्ठुर। गोय=चुरा कर। आँख मँजीठ कीन्ही—

कृष्ण का मार्ग देखते-देखते हमारे नेत्र घुंघची के समान लाल हो गये हैं।

विशेष—यह एक लोकप्रसिद्ध बात है कि विरह में आनन्द देने वाले शीतल पदार्थ भी सन्ताप देने वाले बन जाते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी की भी इसी तथ्य को प्रगट करने वाली निम्न चौपाइयाँ देखिये—

कहेउ राम वियोग तव सीता।
मो कहुँ सकल भये बिपरीता॥
नव तरु किसलय मनहुँ कृसानू।
काल निसा सम निसि ससि भानू॥
जे हित रहे करत तेइ पीरा।
उरग स्वास सम त्रिविध समीरा॥ (रामचरितमानस)

संदेसो कैसे कै अब कहौं?
इन नैनन्ह या तन को पहरो कब लौं देति रहौं?
जो कुछ बिचार होय उर-अंतर रचि पचि सोचि गहौं।
मुख आनत, ऊधो-तन चितवत न सो विचार, न हौं॥
अब सोई सिख देहु सयानी! जातें सखहिं लहौं।
सूरदास प्रभु के सेवक सों बिनती कै निवहौं॥८५॥

शब्दार्थ—तन=ओर, तरफ। आनत=आते ही। चितवत=देखकर। लहौं =प्राप्त कर लूं।

व्याख्या—कोई गोपी कहती है कि अब सन्देश किस प्रकार कहें? वे सोचती हैं कि अब प्रियतम श्री कृष्ण ने चरम निष्ठुरता का प्रदर्शन किया है तो उनके पास प्रेम का प्रति सन्देश भेजना निरर्थक है। उनके निष्ठुर सन्देश को सुनकर हमारा यह शरीर तो चल बसना चाहता है किन्तु क्या करें ये नेत्र अभी तक इस पर पहरा लगा रहे है कि कहीं यह भाग न जाय। नेत्रों को तो अभी उनसे मिलने की आशा है। किन्तु ये बेचारे नेत्र भी भला कब तक पहरा लगायेंगे? हृदय में प्रति सन्देश देने के लिए विचार उठते हैं और बड़ी कठिनाई से उन विचारों को सोच-सोच कर उठाया जाता है किन्तु जहाँ वे कहने के लिए मुख मे आये, उद्धव को देखते ही विलीन हो जाते हैं और मैं तथा मेरे विचार सब कुछ गायब हो जाते हैं। अतः हे चतुर सखियो, अब तो कुछ ऐसी शिक्षा दो जिससे प्रियतम से मिलन हो सके। सूरदास जी कहते हैं कि गोपी ने यह कहा कि मेरी राय में तो स्वामी श्याम के सेवक ऊधो से ही विनती करनी चाहिये। शायद हमारा कार्य उन्हीं के द्वारा हो सकता है। वे ही हमारी भेंट करा सकते है, और कोई उपाय नहीं दीखता।

विशेष—ठीक भी है, अपनी गरज में तो गधे को भी बाप बनाना पड़ता है। ऊधो हृदयहीन ही सही किन्तु जब यह कार्य निकल ही इनसे सकता है? नीति भी

यही कहती है—

स्पन्धेनापिवहेच्छत्रं कालमासाद्य-बुद्धिमान्।

बहुरो ब्रज वह बात न चाली।
वह जो एक बार ऊधो-कर कमलनयन पाती दै घाली॥
पथिक! तिहारे पा लागति हौं मथुरा जाव जहाँ बनमाली।
करियो प्रकट पुकार द्वार ह्वै 'कालिंदी' फिर आयो काली॥
जबै कृपा जदुनाथ कि हमपै रही, सुरुचि जो प्रीति प्रतिपाली।
माँगत कुसुम देखि द्रुम ऊँचे, गोद पकरि लेते गहि डाली॥
हम ऐसी उनके केतिक हैं अंग-प्रसंग सुनहुरी, आली!
सूरदास प्रभु प्रीति पुरातन सुमिरि सुमिरि राधा-उर साली॥८६॥

शब्दार्थ—कमलनयन=श्री कृष्ण। घाली=भेजी। काली=काली नाग। द्वार ह्वै=द्वार पर से। केतिक=कितनी ही। साली=पीड़ा पहुँचाने लगी।

व्याख्या—उद्धव के चले जाने के बाद फिर जब ब्रज में कृष्ण की कोई खबर तक न मिली तो विरह से व्यथित होकर राधा कह रही है कि ब्रज में तो फिर से वह बात भी न चली। एक बार कमलनयन श्री कृष्ण ने उद्धव के हाथ जो पत्र भेजा था उसकी चर्चा भी बाद में यहाँ न हुई। राधा किसी पथिक से प्रार्थना करती है कि हे पथिक, मैं तुम्हारे पैर छूती हूँ, तुम मथुरा जाओ जहाँ बनमाली कृष्ण रहते हैं और उनके द्वार पर खड़े होकर पुकार लगाना कि यमुना में काली नाग फिर से आ गया है। तो क्या इस सूचना को पाकर कृष्ण आ जावेंगे? उनकी पुरातन प्रीति से तो यही भरोसा होता है कि वे अवश्य आवेंगे। पहले तो जब कभी हम वनस्थली में विहार करते समय पुष्पों को देखकर उन्हें प्राप्त करने के लिए मन ललचाती थी तो वे ऊँचे वृक्षों पर लटकते हुए पुष्पों को हमें गोद में लेकर डाली झुका कर तोड़ कर हमें दे देते थे। किन्तु सखी, हमारे जैसी छोटी-बड़ी, उनके न जाने कितनी हैं? सूर कहते हैं कि इस प्रकार पुरातन प्रेम का स्मरण करके राधा का हृदय व्यथित हो उठा।

विशेष—निम्न पंक्तियाँ भी कुछ ऐसा ही भाव-प्रदर्शन कर रही हैं कि उनके लिए तो हम जैसे लाखों हैं पर हमारे लिए उन जैसा अन्य कोई नहीं—

साहब तुम जनि बीसरौ लाख लोग मिलि जाहिं।
हमसे तुमको बहुत हैं तुमसे हमको नाहिं॥

ऊधो! क्यों राखौं ये नैन?
सुमिरि सुमिरि गुन अधिक तपत हैं सुनत तिहारो बैन॥
है जो मनोहर बदनचंद के सादर कुमुद चकोर।
परम-तृषारत सजल स्यामघन के जो चातक मोर॥

मधुप, मराल चरन पंकज के, गति बिलास-जल मीन।
चकवाक, मनि-दुति दिनकर के, मृग मुरली आधीन॥
सकल लोक सूनो लागतु है बिन देखे वा रूप।
सूरदास प्रभु नँदनंदन के नखसिख अंग अनूप॥८७॥

शब्दार्थ—बैन=वचन। मराल=हंस। मनि-दुति=सूर्यकान्त मणि। चकवाक=चकवा। अनूप=अद्भुत।

व्याख्या—उद्धव के निर्गुणोपदेश से व्यथित होकर गोपियाँ कहती हैं कि हे उद्धव, तुम ही बताओ अपने इन नेत्रों को कैसे रोका जाय? तुम्हारी बात सुनकर तथा उनके गुणों का स्मरण कर-करके ये हमारे नेत्र बहुत अधिक सन्तप्त होते हैं। हमारे नेत्र उनके सुन्दर मुखचन्द्र के लिए कुमुद और चकोर हैं जिन्होंने उसे देख कर ही विकसित होना सीखा है और जो उसी ओर एकटक देखकर ही सन्तोष पाते हैं। हमारे ये नेत्र उन सजल घनश्याम के रूपमाधुर्य के लिए अत्यधिक प्यासे मोर और चातक हैं और उनके कमल रूपी चरणों में अनुराग रखने वाले ये भ्रमर और हंस हैं। यदि उनका लीलायुक्त गमन जलप्रवाह है तो ये हमारे नेत्र उसी जलप्रवाह के मीन हैं। उनके उरस्थल पर चमकती हुई सूर्यकान्त मणि वाले सूर्य के ये चकवाक हैं और उनकी मुरली के लिये ये मृग हैं। इस प्रकार हमारे ये नेत्र उनके अंग-प्रत्यंग के रूप-माधुर्य पर मुग्ध हैं। उस सौंदर्य को बिना देखे हमें यह सारा संसार शून्य प्रतीत होता है। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि उनके नख से लेकर शिखा तक अद्भुत सौंदर्य भरा पड़ा है।

विशेष—(i) रूपक अलंकार के सर्वांगपूर्ण प्रयोग ने नेत्रों के चित्रण को अत्यन्त पूर्ण तथा चित्रोपम बना दिया है।

(ii) वास्तव में उनका (कृष्ण भगवान् का) सौंदर्य सारे संसार के सौंदर्य का मूल है। तभी तो गोपिकाओं को उनके बिना यह संसार सूना-सा प्रतीत होता है।

सँदेसनि मधुबन-कूप भरे।
जो कोउ पथिक गए हैं ह्याँ तें फिरि नहिं अवन करे॥
कै वै स्याम सिखाय समोधे कै वै बीच मरे?
अपने नहिं पठवत नँदनंदन हमरेउ फेरि धरे॥
मसि खूँटी कागद जल भीजे, सर दव लागि जरे।
पाती लिखैं कहो क्यों करि जो पलक-कपाट अरे?॥८८॥

शब्दार्थ—समोधे=समझा-बुझा लिया। खूँटी=चुक गई। दव=दावाग्नि। कागद=कागज। सर=सरकण्डा। अरे=बन्द हो गये।

व्याख्या—अपने संदेशों के उत्तर न मिलने का कारण कल्पित करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हमारे संदेशों से तो मथुरा के कुएँ भर गये। जो कोई पथिक इधर से गया वह फिर उधर से लौट कर ही न आया। ऐसा प्रतीत होता है कि कृष्ण

ने उन्हें समझा-बुझा दिया अथवा वे कहीं बीच में ही मर गये जिससे वे इधर न आ सके। नंदनंदन अपने तो भेजते ही नहीं और जो हमने भेजे थे उनको भी वहीं समेट कर रख लिया। कृष्ण के पत्र न लिखने के कारण कल्पित करती हुई वे कहती हैं शायद मथुरा में स्याही भी चुक गई, कागज गल गये और दावाग्नि से सरकंडे (जिनकी लिखने की कलम बनती है) जलकर भस्म हो गये। जब नेत्रों के पलक-कपाट भी बन्द हो रहे हैं तो भला पत्र कहाँ से लिखे जाते ?

विशेष—रूपक और अतिशयोक्ति अलंकार ने अपना खूब रंग दिखाया है।

नंदनंदन मोहन सों मधुकर ! है काहे की प्रीति ?
जो कीजै तो है जल, रवि औ जलधर की सी रीति ॥
जैसे मीन, कमल, चातक को ऐसे ही गइ बीति।
तलफत, जरत, पुकारत सुनु, सठ ! नाहिन है यह रीति ॥
मन हठि परे, कबंध जुद्ध ज्यों, हारेहु भइ जीति।
बंधत न प्रेम-समुद्र सूर बल कहुँ, बारुहि की भीति। ८६॥

शब्दार्थ—कबंध=धड़। बल=बल सहित। बारुहि=बालू। भीति=दीवार।

व्याख्या—अपने प्रेमी कृष्ण से प्रेम न पाकर भी गोपियाँ अपने प्रेम-पथ पर अटल हैं और इसी तथ्य पर प्रकाश डालती हुई वे उद्धव से कहती हैं कि हे भ्रमर, नंदनंदन श्री कृष्ण से प्रेम कैसा ? उनकी रीति तो जल, सूर्य और बादल के सदृश है। मछलियाँ, कमल और चातक क्रमशः इनसे बहुत प्रेम करते हैं और अपनी सारी आयु इसी प्रेम में बिता देते हैं किन्तु तब भी उन्हें अपने-अपने प्रियतम का प्रेम प्राप्त नहीं होता। मीन जल के बिना तड़पा करती है, कमल सूर्य की प्रचण्ड गर्मी में जलता रहता है और चातक पिउ-पिउ की पुकार मचा कर रह जाता है। हे शठ, प्रेम की यह पद्धति नहीं है। ये बेचारे यह सब जानते हुए भी अपने प्रेम-पथ पर अटल रहते हैं। इनकी दशा उस योद्धा के समान है जिसका युद्ध में सिर कट जाने पर भी धड़ अपने यश के हेतु निरन्तर संघर्ष किया करता है। ये बेचारे यह जानते हुए भी कि प्रियतम का मिलना असम्भव है, यश के लिए प्रेम में बलिदान हो जाते हैं। वे अपनी पराजय में ही अपनी विजय समझते हैं। सूरदास जी कहते हैं कि प्रेम का पारावार प्रियतम द्वारा की गई अवहेलनाओं की बालू की दीवारों की भाँति बंधन में नहीं रह सकता। वह प्रेम कोई ऐसा प्रेम नहीं है जो प्रियतम की उदासीनता पर कम हो जाय अर्थात् हमारा श्री कृष्ण से जो प्रेम है वह अटल है। उन के द्वारा प्रेम न पाकर भी हम उनसे प्रेम करना नहीं छोड़ सकतीं।

विशेष—(i) जिन्दा रहकर इश्क में जलना है तड़पाने बसर। (मदनर)
जान परवाने ने दे दी बेखटर इतना तो था ॥

(ii) रूपकालंकार तथा निदर्शनालंकार का स्वाभाविक प्रयोग दृष्टव्य है।

मधुबनियाँ लोगनि को पतिम्राय ?
मुख और अंतर्गत औरै पतियाँ लिखि पठवत हैं बनाय ।।
ज्यों कोइल्सुत काग जिम्रावत भाव-भगति भोजनहिं खवाय।
कुहकुहाय म्राए बसंत ऋतु, अंत मिलै कुल अपने जाय ।।
जैसे मधुकर पहुप-बास लै फेरि न बूझै बातहु म्राय।
सूर जहाँ लौं स्यामगात हैं तिनसों क्यों कीजिये लगाय ? ।। ६०।।

शब्दार्थ—पतिम्राय=विश्वास करना। अंतर्गत=मन में। भाव=प्रेम-भाव। कुहकुहाय=कूकती है। लगाय=लगन।

व्याख्या—कृष्ण की कपट-प्रीति पर प्रकाश डालती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि मथुरावासियों का कौन विश्वास करे ? उनके मन में कुछ और मुख में कुछ होता है। सोचते कुछ हैं और करते कुछ हैं। छल-कपट की बातें बना-बनाकर पत्र लिखते हैं। जिस प्रकार काग बड़े चाव से चुग्गा खिला-खिला के कोयल के बच्चों को पालता है किन्तु वसन्त आने पर वे कू-कू करके अपने कोकिल कुल में जा मिलते हैं। ठीक उसी भाँति कृष्ण ने किया है। नन्द और यशोदा ने बड़े चाव से उन्हें पाला किन्तु जब यौवन का वसन्त आया अर्थात् किसी योग्य हो गये तो अपने माँ-बाप के यहाँ मथुरा चले गये। हमारे साथ कृष्ण ने भ्रमर जैसा व्यवहार किया है। जैसे भ्रमर पुष्पों की गन्ध लेकर चलता बनता है और फिर लौट कर उनकी खैर-खबर भी नहीं लेता, उसी प्रकार कृष्ण ने हमारे साथ व्यवहार किया है। सूरदास जी कहते हैं कि वास्तव में श्याम शरीर वालों से मन लगाने से पश्चात्ताप के अतिरिक्त और कुछ प्राप्त नहीं होता। इनसे तो सम्बन्ध न रखना ही उत्तम है।

विशेष—अर्थान्तरन्यास अलंकार का प्रयोग अत्यन्त स्वाभाविक है।

मोहन माँग्यो अपनो रूप।
या ब्रज बसत अँचै तुम बैठीं, ता बिनु तहाँ निरूप ।।
मेरो मन, मेरो अलि ! लोचन लै जो गए धुप धूप।
हमसों बदलो लेन उठि धाए मनो धारि कर सूप ।।
अपनो काज सँवारि सूर, सुनु, हमहिं बतावत कूप।
लेवा-देइ बराबर में है, कौन रंक को भूप ।।६१।।

शब्दार्थ—अँचै=पी गई। निरूप=निराकार। धुप धूप=धुला हुमा।

व्याख्या—निराकार की उपासना के लिए उद्धव का विशेष आग्रह देखकर कोई सखी राधा से व्यंग्यपूर्वक कहती है कि हे राधा, श्री कृष्ण ने तुमसे अपना रूप माँगा है। जब वे यहाँ व्रज में रहते थे तो उनके रूप का पान तुमने कर लिया था अब वे उस रूप के अभाव में वहाँ निराकार हो गये हैं। राधा इस बात का उत्तर देती हुई कहती है कि हे सखी, क्या तुम्हें ज्ञात नहीं है कि उन्होंने भी मेरे शुद्ध मन को अपनी चितवन से चुरा लिया है। आज वे उद्धव हाथों में सूप लेकर खूब फटक कर हमसे बदला लेने को चल दिये हैं। इस प्रकार वे अपना कार्य तो ठीक सँवार रहे हैं किन्तु

हमारी वस्तु (मन जो श्री कृष्ण चुरा ले गये हैं) की इन्हे कोई चिन्ता नहीं। इस प्रकार ये हमे तो कुएं में ढकेले दे रहे हैं। सूरदास जी कहते हैं कि राधा ने सखियों से कहा कि उद्धव को यह विदित होना चाहिये कि लेन-देन मे सब बराबर हैं, चाहे कोई राजा हो अथवा रंक। जिसने जो जिससे लिया है वह उसे उतना वापिस कर दे। कहने का तात्पर्य यह है कि कृष्ण यदि हमसे अपना रूप माँगते हैं तो वे भी हमारा मन, जिसे वे चुरा कर ले गये हैं, हमे वापिस कर दें।

विशेष—परिवृत्ति अलंकार की छटा दृष्टव्य है।

हरि सों भलो सो पति सीता को।
बन बन खोजत फिरे बधु-सग, कियो सिंधु बीता को।।
रावन मार्‌यो, लंका जारी, मुख देख्यो भीता को।
दूत हाथ उन्हे लिखि न पठायो निगम-ज्ञान गीता को।।
अब धौं कहा परेखो कीजै कुबजा के मीता को।
जैसे चढ़त सबै सुधि भूली, ज्यों पीता चीता को?
कीन्हीं कृपा जोग लिखि पठयो, निरखु पत्र री! ताको।
सूरजदास प्रेम कह जानै लोभी नवनीता को।।६२।।

शब्दार्थ—बीता को=बीते भर का। भीता=भयभीत। पीता चीता को=*किसी ने नहीं। निगम=ब्रह्मज्ञान। परेखो=विश्वास।*

व्याख्या—कृष्ण की राम से तुलना करती हुई गोपिकायें कहती है कि हमारे प्रियतम श्री कृष्ण से तो सीता के पति राम कहीं अधिक अच्छे थे। वे तो सीता की खोज में भाई लक्ष्मण को साथ लेकर वन-वन भटकते फिरे और फिर समुद्र को एक बीता के समान पार कर गये। उन्होंने रावण का वध किया, लंका को जला दिया और उस भयभीत सीता का मुख देखा। प्रेमी से मिलने के लिए प्रियतम के ये कठिन आयोजन कितने सराहनीय हैं? उन्होंने कृष्ण की भाँति उद्धव जैसे दूत के हाथों शास्त्रों के ज्ञान का सन्देश भेज कर सीता को और भी अधिक दुःखी बनाने की कभी चेष्टा नहीं की। हम उस कुब्जा के मित्र अर्थात् कृष्ण का क्या बुरा मानें? वे तो स्वार्थी हैं। जब प्रेम का नशा चढ़ा था तब इस निष्ठुरता का विचार नहीं किया था। नशे में होश भी कहाँ रहता है? खैर, चलो यह भी उनकी हम पर महान् कृपा ही है कि उन्होंने संदेशा भेज दिया, हो चाहे वह योग का ही। कम से कम उन्हे हमारी याद तो आई, चाहे वह आई हो किसी रूप मे भी। न मानो तो सखी! यह उनका पत्र देख लो। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि अरे भाई, वह माखन का लोभी प्रेम की परिपाटी क्या जाने?

विशेष—विपत्ति के समय अपने समान अन्य लोगों की याद करके अपने प्रियजनों के व्यवहार की दूसरे समान स्थिति वालों के प्रियजनों के व्यवहार से तुलना करना कितना स्वाभाविक है। कृष्ण और राम की यह तुलना कितनी स्वाभाविक एवं प्रसंगानुकूल है?

हरि हैं राजनीति पढ़ि आए।
समुझी बात कहत मधुकर जो ? समाचार कछु पाए ?
इक अति चतुर हुते पहिले ही, अब करि नेह दिखाए।
जानी बुद्धि बड़ी, जुवतिन को जोग-संदेस पठाए ॥
भले लोग आगे के, सखि री ! परहित डोलत धाए।
वे अपने मन फेरि पाइए जे हैं चलत चुराए॥
ते क्यों नीति करत आपुन जे औरनि रीति छुड़ाए ?
राजधर्म सब भए सूर जहँ प्रजा न जायँ सताए॥६३॥

शब्दार्थ—जुवतिन—युवतियाँ। धाए—दौड़े फिरना। औरनि—दूसरों की।

व्याख्या—गोपियाँ आपस में कहती हैं कि कृष्ण तो मथुरा जाकर राजनीति के पंडित हो गए हैं। तुमने जो कुछ उद्धव कह रहे हैं समझा, क्या इससे कुछ निष्कर्ष निकाला। एक तो वह पहले से ही बहुत चतुर थे जबकि उन्होंने कपटपूर्ण नीति द्वारा प्रेम-प्रदर्शन किया था, अब उनकी प्रतिभा का और भी पता लग गया जबकि उन्होंने युवतियों के लिए योग का संदेश भेजा है। सखी, वस्तुतः पुराने लोग बहुत भले होते हैं। वे बेचारे दूसरों की भलाई करने के लिए इधर-उधर दौड़ते फिरते हैं। तात्पर्य यह है कि ये उद्धव जी जो अपना काम-धन्धा छोड़कर दूसरों की भलाई के लिए इधर-उधर घूमते फिर रहे हैं इन्हें तुम भला न समझो। खैर, कुछ भी हो देखने की बात तो यह है कि उन्होंने चलते समय जो हमारा चित्त चुराया था उसे तो हम आज तक न लौटा सकीं फिर इस योग का आधान कहाँ है ? जो दूसरों की नीति छुड़ाने का प्रयास करते हैं उनसे अपनी नीति-पालन की आशा कैसे की जा सकती है। सूरदास जी कहते हैं कि राजनीति तो राजधर्म के पालन को कहते हैं। राजधर्म के पालन का अर्थ यह है कि वहाँ प्रजा नहीं सताई जाती। तात्पर्य यह है कि कृष्ण जी हमको सता रहे हैं अतः यह उनकी राजनीति नहीं है, यह तो कूटनीति है कूटनीति !

विशेष—राजा का कार्य है प्रजा को सुख पहुंचाना। कृष्ण जी ने गोपियों को दुःख दिया, अतः उन्होंने अपने राजधर्म का पालन नहीं किया। अतः उनकी इस नीति को राजनीति कहना राजधर्म का अपमान करना है। वस्तुतः उनकी इस नीति को कूटनीति कहना ही न्यायसंगत है। इस पद में यही व्यंग्य है।

जोग की गति सुनत मेरे अंग आगि बई।
सुलगि सुलगि हम रही तन में फूंक आनि दई॥
जोग हमको भोग कुबजहिं, कौने सिख सिखई ?
सिंह गज तजि तृनहिं खाइत सुनि बात नई॥
कर्मरेखा मिटति नाहीं जो विधि आनि ठई।
सूर हरि की कृपा जापै सकल सिद्धि भई॥६४॥

शब्दार्थ—बई—लगी। ठई—बनाई। सिख—शिक्षा। सिखई—सिखाई।

व्याख्या—कोई गोपी उद्धव के सामने अपनी किसी सखी से कह रही है कि इस योग के समाचार को सुनकर तो मेरे सारे शरीर में आग लग गई। हम तो पहले से ही विरहानल में जल रही थी। उद्धव ने योग का उपदेश देकर उसे और भी प्रचण्ड कर दिया। हमारे लिए तो योग और कुब्जा के लिए भोग, यह शिक्षा तुम्हे किसने दी? सिंह भी हाथी के मास को छोड़कर घास खाता है, यह अनहोनी बात सुनी जा रही है। तात्पर्य यह है कि हम तो अटल प्रेमिका हैं, भला योग को कैसे अपना सकती हैं? जो विधाता ने भाग्य में लिख दिया वह किसी से नहीं मिट सकता। सूरदास जी कहते हैं कि हरि की कृपा जिन पर हो जाती है उन्हें सारी सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं। भाव यह है कि यद्यपि वर्तमान दशा से यही प्रतीत होता है कि विधाता ने कुब्जा के भाग्य में सुख और गोपियों के भाग्य में दुख लिखा था। किन्तु यदि भगवान् श्री कृष्ण की कृपा हो जाय तो गोपियों को सुख प्राप्त होना कठिन नहीं है क्योंकि भला भगवान् की शक्ति से बाहर ही क्या है? जिस पर हरिकृपा हो जाय उसके लिए सब कुछ प्राप्त करना सभव है।

विशेष—अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार का सुन्दर प्रयोग दर्शनीय है।

ऊधो! जान्यो ज्ञान तिहारो।
जानै कहा राजगति-लीला अंत अहीर बिचारो॥
हम सब अयानी, एक सयानी कुबजा सों मन मान्यो।
आवत नाहिं लाज के मारे, मानहु कान्ह खिस्यान्यो॥
ऊधो! जाहु बाँह धरि ल्याओ सुंदर स्याम पियारो।
ब्याहौ लाख, धरौ दस कुबरी, अंतहि कान्ह हमारो॥
सुन, री सखी! कछू नहिं कहिए माधव आवन दीजै।
जबहीं मिलैं सूर के स्वामी हाँसी करि करि लीजै॥१५॥

शब्दार्थ—खिस्यान्यौ—लज्जा अनुभव हुई। धरौ—रखे। राजगति—राज-नीति।

व्याख्या—कृष्ण ने गोपियों के पास योग का सन्देश किस कारण से भेजा, इस बात का अनुमान लगाती हुई गोपिया उद्धव से कहती हैं कि तुम्हारे ज्ञानोपदेश का रहस्य अब ज्ञात हुआ। हमारा प्रियतम तो बेचारा अहीर है, वह राजकीय गतिविधियों को क्या जाने? हम सबको अज्ञानी समझ कर वे बिचारे हमें त्याग कर चले गए और अब ज्ञानी बनाने के हेतु ही शायद यह ज्ञान भिजवाया है। उन्हें तो वह अकेली कुब्जा ही ज्ञानी दिखाई दी अतः वे उसी से अपना मन लगा बैठे। किन्तु वास्तविकता यह थी नहीं, सो वे भी जान गए। अतः वे अब यहां लज्जा के वश नहीं आते। हे उद्धव, हम तुम्हें विश्वास दिलाती हैं कि हम उनसे इस विषय में कुछ नहीं कहेंगी, तुम उनका हाथ पकड़कर उन्हें यहाँ लिवा लाओ। चाहे वे लाखों ब्याह कर लें, चाहे कुबरी जैसी दसो घर में किन्तु यह निश्चित है कि वे अन्त में रहेंगे हमारे ही! इस प्रकार से कहती हुई गोपी से कोई दूसरी गोपी यह सोचकर कि वहीं उद्धव जाकर उन्हें यह सब बता दें तो फिर वे

नहीं आवेंगे, कहती है कि हे सखी, तुम अभी से कुछ मत कहो, पहले माधव को आ जाने दो। जब वे सूर के स्वामी मिल जाएं तो तब खूब मनभर के हँसी कर लेना।

विशेष—'बिब्बोक' भाव की सुन्दर छटा देखने योग्य है।

उर में माखनचोर गड़े।
अब कैसे हु निकसत नहिं, ऊधो ! तिरछे ह्वं जो अड़े॥
जदपि अहीर जसोदानंदन तदपि न जात छँडे।
यहाँ बने जदुबंस महाकुल हमहिं न लगत बड़े॥
को वसुदेव, देवकी है को, ना जानें औ बूझे।
सूर स्यामसुंदर बिनु देखे और न कोऊ सूझे॥६६॥

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव के योगमार्ग को ग्रहण करने की अपनी असमर्थता को प्रगट करती हुई कहती हैं कि हे ऊधो, हमारे हृदय में तो माखनचोर श्री कृष्ण गड़े हुए हैं। वे कुछ ऐसे तिरछे होकर फंस गये हैं कि किसी प्रकार भी निकलते नहीं हैं। भाव यह है कि कृष्ण की बांकी अदायें हृदय में ऐसी जम गई हैं कि उन्हें अलग करना बड़ा कठिन है। यदि तुम यह कहो कि वे अहीर हैं और हमें एक अहीर से प्रेम करना शोभा नहीं देता, तो भी हम उन्हें नहीं त्याग सकतीं। आखिर हम भी तो अहीर ही हैं। वहाँ जाकर चाहे उन्होंने बड़े भारी कुल यदुवंश से अपना सम्बन्ध स्थापित कर लिया है किन्तु हम तब भी उन्हें बड़ा नहीं समझती हैं। होंगे कोई वसुदेव, होगी कोई देवकी; हम न उन्हें जानते हैं और न बूझते हैं। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हमें श्री कृष्ण के बिना देखे कुछ भी अच्छा नहीं लगता और न कुछ समझ में आता है।

विशेष—कृष्ण जी के त्रिभंगी होने की बात कविवर बिहारी के निम्न दोहे में दृष्टव्य है—

करौ कुबत जग कुटिलता तजौं न दीनदयाल।
दुखी होउगे सरल चित्त बसत त्रिभंगीलाल॥

गोपालहिं कैसे कै हम देतिं ?
ऊधो की इन मीठी बातन निर्गुन कैसे लेतिं ?
अर्थ, धर्म, कामना सुनावत सब सुख मुकुति-समेत।
जे व्यापकहिं बिचारत बरनत निगम कहत हैं नेति॥
ताको भूलि गई मनसाहू देखहु जो चित चेति।
सूर स्याम तजि कौन सकत है, अलि काकी गति एति॥६७॥

शब्दार्थ—मनसाहू—इच्छा तक। चेति—विचार करके। एति—इतनी, ऐसी।

व्याख्या—सगुण को निर्गुण से बदलने में अपनी असमर्थता प्रगट करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे उद्धव, भला हम गोपाल को कैसे दे सकती हैं ? ऊधो की इन

प्रकार की मोटी बातों से निर्गुण को कैसे ग्रहण कर सकती हैं ? वे हमें निर्गुण की उपासना के बाद धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सभी परम सुखों की प्राप्ति सुगम बताते हैं किन्तु यह निर्गुण का व्रत कितना कठोर है, वे यह नहीं सोचते। उसका प्राप्त करना भी असम्भव है। ब्रह्म की व्यापकता का वर्णन करते हुए शास्त्र उसको नेति-नेति कहते हैं। यदि यह कहा जाय कि मन में मनन करना ही उसकी प्राप्ति है तो यह कथन भी न्यायसंगत नहीं माना जा सकता। वस्तुतः मन भी यहाँ भटकता रहता है और कभी लक्ष्य पर नहीं पहुँचता। सूर की गोपियाँ कहती हैं कि सगुणोपासक के सरल मार्ग को छोड़कर उस कठिन ब्रह्म की प्राप्ति कैसे कोई कर सकता है ? भाव यह है कि हम अपने सगुण को निर्गुण से नहीं बदल सकतीं।

विशेष—इस पद में निर्गुण का खण्डन अत्यन्त तर्कयुक्त है।

> उपमा एक न नैन गही।
> कविजन कहत कहत चलि आए,सुधि,करि करि काहू न कही॥
> कहे चकोर, मुख-बिधु बिनु जीवन, भँवर न, तहँ उड़ जात।
> हरि मुख-कमल कोस बिछुरे तें ठाले क्यों ठहरात ?
> खंजन मनरंजन जन जौ पै, कबहुँ नहिं सतरात।
> पंख पसारि न उड़त, मंद ह्वै समर-समीप बिकात॥
> आए बंधन ब्याध ह्वै ऊधो, जौ मृग, क्यों न पलाय ?
> देखत भागि बसैं उन बन तें जहँ कोउ संग न धाय॥
> ब्रजलोचन बिनु लोचन कैसे ? प्रति छिन अति दुख बाढ़त।
> सूरदास मीनता कछू इक, जल भरि संग न छाँड़त॥६८॥

शब्दार्थ—ठाले—अभाव में। समर—कामदेव। सतरात—चिढ़ना। ब्रजलोचन—कृष्ण।

व्याख्या—अपने नेत्रों को उपमा ग्रहण न करने योग्य समझती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हमारे नेत्र अब एक भी उपमा ग्रहण करने योग्य नहीं हैं। कविजन पहले से ही नेत्रों के लिए विविध उपमान प्रस्तुत करते चले आए हैं किन्तु उन्होंने वियोगावस्था के नेत्रों का स्मरण करके कोई उपमान नहीं चुना। नेत्रों के लिए कवियों के पास सर्वप्रसिद्ध उपमान चकोर है किन्तु हमारे नेत्रों की उससे समानता करना नितान्त मिथ्या है। चकोर तो चन्द्रमा के बिना जीवित ही नहीं रह सकता, किन्तु ये हमारे नेत्र कृष्ण को बिना देखे जीवित हैं। इनकी भ्रमर से भी समानता बताना अनुचित है। भ्रमर तो कमल से बिछुड़ने पर फिर उड़कर वहीं पहुँच जाता है किन्तु ये हमारे नेत्र निठल्ले पड़े हैं। उनका तीसरा उपमान है खंजन, सो वह भी ठीक नहीं जँचता। यदि इन्हें खंजन के समान लोगों का मन प्रसन्न करने वाले कहा जाय तो भी उपयुक्त नहीं है। खंजन किसी के निकट आने पर सुगमता से पकड़ में नहीं आ पाता, किन्तु ये हमारे नेत्र काम के निकट जाते ही उसके हाथों बिक जाते हैं। नेत्रों के लिए एक और

उपमान है मृग । किन्तु यह भी हमारे नेत्रों के लिए ठीक नहीं जचता । मृग तो शिकारी आते ही बहुत दूर वन में भाग जाता है, किन्तु ये हमारे नेत्र आज जबकि ऊधो-शिकारी हमारा शिकार करने आये हैं तो अब तक यहां क्यों हैं, वन में दूर क्यों नहीं भाग गये जहां इनके साथ कोई न लग सकता था । ब्रजजीवन श्री कृष्ण के अभाव में हमारे नेत्र कैसे ? उनके रहने से क्या लाभ ? उनसे तो और प्रतिक्षण दुःख ही बढ़ता है । हां नेत्रों की उपमा मछली से ठीक बैठ सकती है । मछली का गुण है—जल का कभी साथ न छोड़ना । सो यह गुण इन वियोगिनियों की आंखों में भी है । ये भी दिन-रात आंसुओं से भरी रहती हैं, कभी भी जल से इनका साथ नहीं छूटता ।

विशेष—इस पद में हीनोपमा तथा रूपक अलंकार है ।

> अब नीकं कै समुझि परी ।
> जिन लगि हुती बहुत उर आसा सोऊ बात निबरी ॥
> ये सुफलक सुत, ये सखि ! ऊधो मिली एक परिपाटी ।
> उन तो वह कीन्ही तब हमसों, ये रतन छँडाइ गहावत माटी ॥
> ऊपर मृदु भीतर तें कुलिस सम, देखत के अति भोरे ।
> जोइ जोइ आवत वा मथुरा तें एक डार के से तोरे ॥
> यह, सखि, मैं पहिले कहि राखी असित न अपने होंहीं ।
> सूर कोटि जौ माथो दीजै चलत आपनी गौं हीं ॥९९॥

शब्दार्थ—निबरी—छूटी, जाती रही, समाप्त हो गई । असित—काले । गौं—घात ।

व्याख्या—उद्धव को लज्जित करने के लिए गोपियां आपस में कहती हैं कि अच्छा अब हम अच्छी तरह समझ गईं । जिनसे (ऊधो से जिन्हें श्री कृष्ण समझा था) हमें बहुत आशा थी, वह भी अब समाप्त हो गई । हे सखी, ये अक्रूर जी तथा ये उद्धव दोनों की जोड़ी खूब मिली है । उन्होंने तो हमारे साथ वह किया जिसे मुख से कहना भी अच्छा नहीं है (श्री कृष्ण को मथुरा ले गये) और ये,अर्थात् ऊधो हमसे रत्न (सगुण भक्ति) छीनकर मिट्टी (निर्गुणोपासना) दे रहे हैं । बाहर से अत्यन्त कोमल तथा भीतर से वज्र के समान कठोर ये लोग देखने में ही भोले-भाले हैं । वस्तुतः तो ये जितने भी मथुरा से आते हैं, सब एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं । सूर कहते हैं कि एक गोपी दूसरी से कहती है कि हे सखी ! मैं तो तुमसे पहले से ही कहती रही हूं कि ये काले कभी भी अपने नहीं हो सकते । चाहे अपना सिर भी इनको दे दो ये तब भी अपनी घात में ही लगे रहेंगे ।

विशेष—उद्धव और अक्रूर दोनों का जो चित्रण गोपियों के शब्दों में सूर ने इस पद में प्रस्तुत किया है वह अत्यन्त स्वाभाविक एवं हृदयस्पर्शी है ।

> मधुकर रह्यो जोग लौं नातो ।
> कतहिं बकत बेकाम काज बिनु, होय न ह्यां तें हातो ॥

जब मिलि मिलि मधुपान कियो हो तब तू कहि धौं कहाँ तो।
तू आयो निर्गुन उपदेसन सो नहिं हमैं सुहातो॥
काँचे गुन लै तनु ज्यौं बेधौ; लैवारिज को तांतो।
मेरे जान गह्यो चाहत हो फेरि कै मैंगल मातो॥
यह लै देहु सूर के प्रभु को आयो जोग जहाँ तो।
जब चहि हैं तब माँगि पठै हैं जो कोउ आवत-जातो॥१००॥

शब्दार्थ—हातो—दूर, अलग। गुन—तागा। मैंगल—मस्त हाथी। हो—था। धौं—न जाने। तो—था। वारिज—तंतु। जहाँ तो—जहाँ से।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि अच्छा भ्रमर, तुम्हारी दृष्टि में हमारा श्री कृष्ण से सम्बन्ध योग तक ही रहा है। व्यर्थ की बकवास क्यों करते हो? यहाँ से दूर क्यों नहीं चले जाते। जब हम लोगों ने मधुपान किया था तब तुम कहाँ चले गये थे? अब जो तुम निर्गुन का उपदेश देने आये हो, सो हमें अच्छा नहीं लगता। तुम्हारा यह प्रयत्न ऐसा है जैसा कि कच्चे धागे से किसी के शरीर को बींधने का प्रयत्न अथवा कमल के तन्तुओं से मस्त हाथी को पकड़ने का प्रयास। तुम यह योग जहाँ से लाये हो वहीं जाकर वापिस कर दो। जब कभी हमें आवश्यकता पड़ेगी तब हम वहीं से किसी आते-जाते के हाथों मंगा लेंगी।

विशेष—(१) वस्तुतः गोपियों को योग की कभी आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी।

(॥) उपमालंकार का प्रयोग दर्शनीय है।

हरिमुख निरखि निमेख बिसारे।
ता दिन तें मनो भए दिगंबर इन नैनन के तारे॥
घूँघट पट छाँड़े बीथिन महँ अहर्निसि अटत उघारे।
सहज समाधि रूपरुचि इकटक टरत न टक तें टारे॥
सूर, सुमति समुझति, जिय जानति, ऊधो! बचन तिहारे।
करें कहा ये कह्यो न मानत लोचन हठी हमारे॥१०१॥

शब्दार्थ—अटत—घूमते हैं। निमेख—पलक। अहर्निसि—दिन-रात। उघारे—नग्न।

व्याख्या—अपने नेत्रों की विवशता प्रगट करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हमने कृष्ण के मुख को देखकर पलक मारना भी भुला दिया। पलक-रूपी वस्त्र से न ढकी होने के कारण ये आँखें नंगी रह गई हैं। उसी दिन से घूँघट के वस्त्र को त्याग कर रात-दिन गलियों में नंगी घूमती रहती हैं। अपने प्रियतम के सौन्दर्य की ओर एकटक देखती हुई ये अपनी स्वाभाविक समाधि में तल्लीन रहती हैं। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने उद्धव से कहा कि जब अपनी सुमति से विचार करती हैं तो आपके वचनों का सार पूर्ण रूप से समझ लेती हैं। हम समझती हैं कि आपके . . . कारी नहीं हैं।

परन्तु करें तो क्या करें, ये हमारे हठी नेत्र हमारा कहना नहीं मानते। निरन्तर कृष्ण की उस रूप-माधुरी पर मस्त रहते हैं। यही कारण है कि आपके वचनों को अपने लिए हितकारी समझते हुए भी हमें आपके वचनों की अवहेलना करनी पड़ रही है।

विशेष—(i) वस्तुतः नेत्रों की यह विवशता अत्यन्त स्वाभाविक है। देखिये, नशतर भी आँखों की इस विवशता को किस ढंग से प्रगट करते हैं—

"वह आयें या कि न आयें यह उनके दिल की रज़ा।
हम उनकी राह में आँखें बिछाये जाते हैं॥"

(ii) दूसरी पंक्ति में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

दूर करहु बीना कर धरिबो।
मोहे मृग नाहीं रथ हाँक्यो, नाहिन होत चंद को ढरिबो॥
बीती जाहि पै सोई जानै कठिन है प्रेम-पास को परिबो।
जब तें बिछुरे कमलनयन, सखि, रहत न नयन नीर को गरिबो॥
सीतलचंद अगिनी-सम लागत, कहिए धीर कौन बिधि धरिबो।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस बिनु सब झूठो जतननि को करिबो॥१०२॥

शब्दार्थ—ढरिबो—अस्त होना। पास—फंदा। रहत—रुकना।

व्याख्या—वियोगिनी राधा के सन्ताप को कम करने के लिए जब गान-वाद्य किया गया तो कोई गोपिका कहती है कि हाथ में रखी हुई वीणा को दूर कर दो। तुम्हें दीखता नहीं कि वीणा की मोहक तानों से चन्द्र के रथ में जुते हुए मृग रुक गये और अब चन्द्र भी अस्त नहीं होता अर्थात् रात भी व्यतीत नहीं होती। प्रेम-पाश में फंसे व्यक्ति की व्यथा वही जान सकता है जिसने सन्ताप भोगा हो। हे सखि, जबसे कमल-नयन श्री कृष्ण बिछुड़े हैं तभी से नेत्रों से आँसू गिरने बन्द नहीं हुए। यह शीतल चन्द्रमा भी अग्नि के समान लगता है। फिर बताओ, भला धैर्य कैसे रखा जा सकता है? सूरदास जी कहते हैं कि हे प्रभु, तुम्हारे वियोग से पीड़ित लोगों की कोई औषधि ही नहीं है। सभी उपचार व्यर्थ हैं।

विशेष—(i) 'राम वियोगी न जिएँ तो बौराहोहिं'—(कबीर)

(ii) अतिशयोक्ति अलंकार है।

अति मलीन वृषभानु कुमारी।
हरि स्रम-जल अंतर-तनु भीजे ता लालच न धुवावति सारी॥
अधोमुख रहति उरध नहिं चितवति ज्यों गथ हारे थकित जुआरी।
छिटुर, बदन कुम्हिलाने, ज्यों नलिनी हिमकर की मारी॥
सुनि सहज मृतक भई, इक बिरहिनी दूजे अलि जारी।
बिनु यों जीवति हैं, ब्रजवनिता सब स्याम दुलारी॥१०३॥

:—पूँजी। छिटुर—बाल। स्रम-जल—पसीना। अंतर-तनु—

भीतर तक। नलिनी—कमलिनि। हिमकर—चन्द्रमा।

व्याख्या—गोपियाँ वियोगिनी राधा की दशा तथा उस पर उद्धव के निर्गुणोपदेश के प्रभाव का वर्णन करती हुई कहती हैं कि वृषभानु की पुत्री राधा अत्यन्त मलीन है। उसने अपनी साड़ी इसलिए नहीं धुलवाई क्योंकि रति-केलि के समय वह साड़ी प्रियतम कृष्ण के पसीने से भीग चुकी है। वह सदा नीचे मुख किये रहती है, ऊपर को देखती तक नहीं। उसकी मुद्रा हारे हुए जुआरी की मुद्रा के समान है। उसके बाल बिखरे हुए हैं, उसका मुख कुम्हलाया हुआ है। इस प्रकार वह पाले से मारी हुई कमलिनी के समान लगती है। कृष्ण के संदेश को सुन कर तो वह अनायास ही मर गई है। विरह का दुःख तो था ही फिर इस भ्रमर (ऊधो) ने और आकर जला डाला है। सूर कहते हैं कि राधा ही नहीं अपितु श्याम के वियोग में श्याम से प्रेम करने वाली सभी व्रजबनितायें इसी प्रकार जी रही हैं।

विशेष—उत्प्रेक्षा और उपमालंकार है।

ऊधो! तुम हो अति बड़भागी।
अपरस रहत सनेह तगा तें, नाहिन मन अनुरागी॥
पुरइनि-पात रहत जल-भीतर ता रस देह न दागी।
ज्यों जल माँह तेल की गागरि बूँद न ताके लागी॥
प्रीति-नदी में पाँव न बोरयो, दृष्टि न रूप-परागी।
सूरदास अबला हम भोरी गुर चींटी ज्यों पागी॥१०४॥

शब्दार्थ—अपरस—दूर, अलग। दागी—दाग लगाना। पुरइनि—कमल। पात—पत्र, पत्ता।

व्याख्या—गोपियाँ कहती हैं कि हे उद्धव, तुम बड़े भाग्यशाली हो क्योंकि तुम स्नेह के तागे से अनासक्त हो और तुम कहीं आसक्त ही नहीं होते। जिस प्रकार कमल-पत्र पानी में रहते हुए भी जल के द्रव से अलग रहता है उसी प्रकार तुम भी संसार में रहते हुए भी सांसारिक प्रपंचों से दूर हो। जिस प्रकार तेल से भरी गगरी को जल में डालने पर भी उस पर जल का कोई प्रभाव नहीं होता, उसी प्रकार तुम पर भी प्रेम का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। तुमने प्रेम-नदी में अपना पैर नहीं डुबाया और न तुम्हारी आँखें ही किसी के प्रेम में फंसी। सूर कहते हैं कि गोपिकाओं ने कहा कि हम तो भोली-भाली अबलाएँ हैं (तुम तो सबल थे, जो बच गये) प्रियतम के सौन्दर्य पर गुड़ पर चींटी की भाँति एकदम आसक्त हो गईं।

विशेष—रूपक और उपमा अलंकार की छटा देखते ही बनती है।

ऊधो! यह मन और न होय।
पहिले ही चढ़ि रह्यो स्याम-रँग छुटत न देख्यो धोय
कैतव-बचन छाँड़ि हरि हमको सोइ करे
कोन हमें ऐसो लागत है

अब क्यों मिटत हाथ की रेखा ? कहौ कौन बिधि कीजै ?
सूर, स्याममुख आनि दिखाओ जाहि निरखि करि जीजै ॥१०१॥

शब्दार्थ—कैतव—छल, कपट। चंपक फूल—चंपा का फूल। निरखि—देख कर।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हमारा मन अब और कहीं आसक्त हो ही नहीं सकता। इस पर तो पहले श्याम रंग चढ़ चुका है, जो धोने से धुल ही नहीं सकता। अतः अब हित इसी में है कि कृष्ण अब कपट वचनों को त्याग कर वही करें जो आरम्भ से करते रहे हैं। हमें तुम्हारा यह योग उसी प्रकार हेय लगता है जैसे तुम्हें चम्पा का फूल लगता है। जो भाग्य में लिखा हुआ है वह भला अब कैसे मिट सकता है ? सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने कहा, अच्छा तो बस तुम हमें तो श्याम के मुख के दर्शन करा दो क्योंकि उसी को देखकर हम जी सकती हैं।

विशेष—(i) वस्तुतः श्याम रंग बहुत पक्का रंग होता है, धोने से वह छुट ही नहीं सकता। किसी ने कहा भी है—

'धोए हू सौ बेर के काजर होय न सेत।'

(ii) सर्वगुण सम्पन्न होने पर भी चम्पा का पुष्प भ्रमर (ऊधो) को अच्छा नहीं लगता। किसी ने ठीक ही कहा है—

'चंपा में तो तीन गुण रूप रंग अरु बास।
अवगुण तो बस एक है भवर न आवें पास॥'

1962

ऊधो ! ना हम बिरही, ना तुम दास।
कहत सुनत घट प्रान रहत हैं, हरि तजि भजहु अकास॥
बिरही मीन मरत जल बिछुरे छाँडि जियन की आस।
दास भाव नहिं तजत पपीहा बरु सहि रहत पियास॥
प्रगट प्रीति दसरथ प्रतिपाली प्रीतम के बनबास।
सूर स्याम सों दृढ़व्रत कीन्हो मेटि जगत-उपहास॥१०६॥

शब्दार्थ—घट—शरीर। अकास—शून्य आकाश अर्थात् निर्गुण ब्रह्म। जगत-उपहास—जगत् द्वारा हंसी उडाना।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे ऊधो ! वास्तविक अर्थ मे न तो हम वियोगिनी हैं और न तुम उनके दास हो। हम तो इसलिए सच्ची विरहिणी नहीं हैं क्योंकि हमारे प्राण तुम्हारे निर्गुण-उपदेश को सुनकर भी नहीं निकलते है। तुम सच्चे दास इसलिए नहीं हो क्योंकि तुम कृष्ण को छोड़कर निर्गुण को भजने का उपदेश देते हो। देखो, मछली जल से अलग होने पर अपने प्राण त्याग देती है किन्तु एक हम हैं कि कृष्ण के बिछुड़ जाने पर भी अपने प्राणों को संवारे बैठी हैं। दूसरी ओर तुम अपने को देखो। पपीहा चाहे प्यासा रहे, चाहे कितने ही भी कष्ट उठावे परन्तु अपने दास-भाव को वह नहीं त्याग सकता। जहाँ तक सच्चे प्रेम की बात है, वह देखो राजा दशरथ का। जिन्होंने राम के

वनवास चले जाने पर उनके वियोग में अपने प्राण दे दिये। हमारा प्रेम और वियोग तो सब विडम्बना है। यद्यपि हमने भी सूर के प्रभु श्री कृष्ण से संसार के उपहास की अवहेलना करके प्रेम किया था किन्तु उनके वियोग मे अपने प्राणों का परित्याग नही किया।

विशेष—उदाहरण अलंकार है।

ऊधो ! कही सो बहुरि न कहियो।
जौ तुम हमहिं जिवायो चाहौ अनबोले ह्वै रहियो॥
हमरे प्रान अघात होत हैं, तुम जानत हौ हाँसी।
या जीवन तें मरन भलो है करवट लैबो कासी॥
जब हरि गवन कियो पूरब लौं तब लिखि जोग पठायो।
यह तन जारि कै भस्म ह्वै निबर्‌यो बहुरि मसान जगायो॥
कै रे ! मनोहर आनि मिलाओ, कै लै चल हम साथे।
सूरदास अब मरन बन्यो है, पाप तिहारे माथे॥ १०७॥

शब्दार्थ—बहुरि—फिर। अनबोले—चुप। निबर्‌यो—निबटा, समाप्त हुआ। पूरब लौं—पूर्व की ओर, मथुरा। मसान जगाना—सिद्धि के लिए साधना करना।

व्याख्या—उद्धव के बार-बार के योग के उपदेश से खीझकर गोपियाँ कहती हैं कि हे उद्धव, तुमने जो योग की बातें अब तक कही हैं, उन्हें फिर न कहना। यदि तुम हमारा जीवन चाहते हो तो बस अब चुप ही रहना। तुम्हारे इन वचनों से हमारे प्राणों को चोट लगती है और तुम हँसी समझ रहे हो। वस्तुतः इस विरह-व्यथित जीवन से तो काशी जाकर अपने प्राण दे देना उत्तम है। यह हमारा दुर्भाग्य ही है कि जब कृष्ण मथुरा गये तो तब यह योग उन्होंने हमारे लिए लिख भेजा। इसकी व्यथा से हमारा शरीर वस्तुतः भस्म ही हो गया है। अब जो कुछ आप कह रहे हैं वह केवल श्मशान जगाना है। अब हम बिल्कुल निर्जीव हो चुकी हैं अतः या तो उस सौन्दर्य राशि श्री कृष्ण को हमसे लाकर मिला दो अथवा हमें अपने साथ उन तक ले चलो। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने उद्धव से कहा कि यदि तुमने ऐसा न किया तो हमारा मरण निश्चित है और उसका पाप तुम्हारे ही मस्तक पर लगेगा।

विशेष—'करवट लैबो कासी' पंक्ति का आशय यह है कि काशी जाकर अपने को आरे से चिरवाकर मर जाना ही उत्तम है।

ऊधो ! तुम अपनो जतन करौ।
हित की कहत कुहित की लागै, किन बेकाज ररौ?
जाय करौ उपचार आपनो, हम जो कहत हैं जी की।
कछू कहत कछुवै कहि डारत, धुन देखियत नहिं नीकी॥
साधु होय तेहि उत्तर दीजै तुमसों मानी हारि।
याही तें तुम्हैं नंदनंदन जू यहाँ पठाए टारि॥

मथुरा बैगि गहौ इन पाँयन, उपज्यो है तन रोग।
सूर सुबैद बेगि किन ढूँढौ भए अर्द्धजल जोग ॥१०८॥

शब्दार्थ—कुहित—बुरी। उपचार—दवा। घुन—रंगढंग। अर्द्धजल जोग—मरने के निकट हुए।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव, तुम हमें क्या शिक्षा देते हो, पहले अपना उपचार तो करो। हम तुमसे तुम्हारी भलाई की कहती हैं पर तुम्हें हमारी बात अहित की लगती है। तुम हमारी तो मानते नहीं हो और अपनी कहे जा रहे हो। हम तुमसे हृदय से कह रही हैं कि तुम जाकर अपना उपचार करो। कहना चाहते हो कुछ और कह जाते हो कुछ। यह तुम्हारी जक-जक कुछ अच्छी बात नहीं है। अब हम चुप ही रहेंगी क्योंकि किसी बात का उत्तर भले आदमी को ही दिया जाता है। हम तो तुमसे हार मान गईं। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी जक-जक की बीमारी के कारण कृष्ण ने शायद तुम्हें यहाँ भेद दिया है। तुम शीघ्र ही उल्टे पैरों मथुरा चले जाओ क्योंकि तुम्हारा शरीर रोगग्रस्त हो गया है। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हे उद्धव, तुम जाओ शीघ्रता से किसी अच्छे वैद्य की खोज करो क्योंकि तुम्हारा रोग असाध्य हो रहा है और तुम मरने के निकट पहुँच रहे हो।

विशेष—'अर्द्धजल' शब्द विचारणीय है। शव को दाह के पूर्व अर्द्धजल दिया जाता है। अतः इससे यहाँ अर्थ हुआ 'मरने के निकट पहुँचना'।

ऊधो ! जाके माथे भाग।
कुब्जा को पटरानी कीन्हीं, हमहिं देत बैराग ॥
तलफत फिरत सकल ब्रजवनिता चेरी चपरि सोहाग।
अन्यो बनायो सब सखी री ! बैरं ! हंस व काग ॥
लौंडी के घर डौंड़ी बाजी स्याम राग अनुराग।
हाँसी, कमलनयन-संग खेलति बारहमासो फाग ॥
जोग की बेलि लगावन आए काटि प्रेम को बाग।
सूरदास प्रभु ऊख छाँड़ि कै चतुर चिचोरत आग ॥१०९॥

शब्दार्थ—चपरि—शीघ्रता से। आग—गन्ने का अगला भाग।

व्याख्या—अपने को दुःखी और कुब्जा को सुखी अनुभव करके गोपियाँ झल्ला कर उद्धव से कहती हैं कि हे ऊधो, जिसके भाग्य में जो कुछ लिखा होता है, उसे वही भोगना पड़ता है। यह हमारा दुर्भाग्य ही है कि कृष्ण ने कुब्जा को तो पटरानी बना रखा है और हमें यह वैराग्य का सन्देश भेजा है। यह भाग्य का ही तो खेल है कि ब्रज की सुन्दरियाँ तो विरह-व्यथा में छटपटाती फिरती हैं और दासी कुब्जा के मस्तक पर सुहाग का टीका लगाया जा रहा है। इसी बीच में एक अन्य गोपी बोली, सखी ! अब की बार कुब्जा और कृष्ण की जोड़ी कौए और हंस की जोड़ी के सदृश खूब मिली है। आज दासी कुब्जा के घर कृष्ण के प्रेम की शहनाइयाँ बज रही हैं। आज वह खुशी से

कृष्ण के प्रेम में बिल्कुल डूब कर बारहमासी फाग खेल रही है। वस्तुतः यह अपने-अपने भाग्य की ही बात है कि वहाँ तो वह प्रेमोत्सव हो रहे है और यहाँ तुम हमारे प्रेम का बाग काटकर जोग की बेल लगाने आये हो। सूर कहते हैं कि गोपियों ने ऊधो से कहा कि तुम हमसे प्रेम त्याग कर योग ग्रहण करने की आशा व्यर्थ में कर रहे हो क्योंकि बुद्धिमान लोग भला कहीं गन्ने को छोड़कर उसके आगों को चूसते है?

विशेष—अन्तिम पंक्ति का अन्तिम शब्द 'आग' विचारणीय है। आचार्य शुक्ल जी ने इसका अर्थ 'आक' अर्थात् 'मदार' किया है। किन्तु हमें यह उतना सार्थक नहीं जँचता जितना कि 'आगों' अर्थात् गन्ने का अगला भाग। गन्ने की मदार से तुलना उतनी सार्थक नहीं है। फिर ब्रजभाषा मे गन्ने के अगले भाग को 'आग' कहते भी हैं।

> ऊधो! अब यह समुझ भई।
> नँदनंदन के अंग अंग प्रति उपमा न्याय दई॥
> कुंतल, कुटिल भंवर, भरि भाँवरि मालति भुरै लई।
> तजत न गहरु कियो कपटी जब जानी निरस गई॥
> आनन इंदुबरन-सम्मुख तजि करखे तें न नई।
> निरमोही नहि नेह, कुमुदिनी अंतहि हेम हई॥
> तन घनस्याम सेई निसिबासर, रटि रसना छिजई।
> सूर विवेकहीन चातक-मुख बूंदौ तौ न सई॥११०॥

शब्दार्थ—दई—दी। गहरु—देर। हेम हई—पाले से मारा गया। सई—गई। भुरै लई—ठग लिया। निरस—रसहीन हो गई। करखे तें—खींचने पर भी न हटी। छिजई—घिस डाली।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती है कि अब हमारी समझ मे आया। नंदनंदन के अंग-प्रत्यंग के वर्णन के लिए कवियों द्वारा जो अनेक उपमायें दी गई हैं वे सब न्यायोचित ही हैं। उनके बालों की जो उपमा भ्रमर से दी गई है वह ठीक ही है। उससे केवल उनका रूप-साम्य ही व्यक्त नहीं होता, वरन् स्वभाव की समानता भी दृष्टिगत होती है। जिस प्रकार भौंरा चक्कर काट-काटकर भोली-भाली मालतियों को भरमाकर उनसे रंगरेलियाँ करके तथा उनके नीरस हो जाने पर तुरन्त ही वहाँ से चला जाता है, उसी प्रकार अपने छल्लेदार बालों से मुग्ध करके तथा भोग करके और शिथिल होने पर कृष्ण हमें छोड़कर चल दिये। उनके मुख की उपमा चन्द्र से ठीक ही दी गई है। बेचारी कुमुदिनी चन्द्र से इतना प्रेम करती है कि सदा एकटक उसकी ही ओर निहारती रहती है, कोई उसे खींचकर हटाना भी चाहे तो वह नहीं हटती। दूसरी ओर चन्द्र इतना निष्ठुर है कि उससे स्नेह ही नहीं करता। वह स्वयं हिमकर है किन्तु अनुरक्त कुमुदिनी को अन्त में हिम के हाथों ही अपनी जीवनलीला समाप्त करनी पड़ती है। बिल्कुल यही दशा कृष्ण के मुख-चन्द्र की है। जो ब्रज-बालायें उस पर अपनी जान न्योछावर करती थीं, उन्हीं को वे अपने मुख के सन्देश से मारे डाल रहे हैं। बाल और मुख ही क्या

उनके समस्त शरीर के लिए घनश्याम की उपमा भी पूर्णतया उपयुक्त है। सूर कहते हैं कि चातक घनश्याम (बादलों) की सेवा दिन-रात करता है, रात-दिन उसको पुकारते-पुकारते उसकी वाणी भी क्षीण हो जाती है किन्तु यह निर्मोही बादल उस बेचारे विवेक-हीन चातक के मुख में एक बूंद भी नहीं डालता। ठीक इसी प्रकार हम रात-दिन कृष्ण का नाम ही लेती रहती हैं किन्तु वे हमें दर्शन तक देना नही चाहते।

विशेष—काव्यलिंग अलंकार है।

> ऊधो ! हम अति निपट अनाथ।
> जैसे मधु तोरे की माखी त्यों हम बिनु ब्रजनाथ॥
> अधर-अमृत की पीर मुई, हम बालदसा तें जोरी।
> सो तौ बधिक सुफलकसुत लै गयो अनायास ही तोरी॥
> जब लगि पलक पानि मीडति रही तब लगि गए हरि दूरी।
> कै निरोध निबरे तिहि अवसर दै पग रथ की धूरी॥
> सब दिन करी कृपन की संगति, कबहुँ न कीन्हों भोग।
> सूर बिधाता रचि राख्यो है, कुबजा के मुख-जोग॥११॥

शब्दार्थ—मधु—शहद। पानि—हाथ। निरोध—रोक। कृपन—कंजूस।

व्याख्या—दीन भाव से अपनी प्रेम-दशा का वर्णन करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे ऊधो, हम तो बिल्कुल अनाथ हैं। जिस प्रकार शहद का छत्ता टूट जाने पर मधु-मक्खियाँ अनाथ हो जाती हैं उसी प्रकार ब्रजनाथ श्री कृष्ण के चले जाने के कारण हम निराश्रित हो गई हैं। अधरामृत की इच्छा को बाल्यकाल से ही सहेज कर रखा था किन्तु उस संचित मनोरथ को वह बहेलिया सुफलकसुत अर्थात् अक्रूर तोड़ कर ले गया। जब हम अपने हाथों से पलकें मल रही थीं, उसी समय वह हमारे हरि को बहुत दूर ले गये। भाव यह कि कृष्ण को ले जाने के समय हम अचेतावस्था में थीं। हम चेत होने पर उनके पीछे भी चलीं पर रथ के नीचे की धूल ने उड़कर हमारे कार्य में बाधा उपस्थित कर दी। हे उद्धव, हमने संचयशील कृपण के समान भोगों की इच्छाओं का सदा संचय ही किया, भोग कभी नहीं किया। सूर कहते हैं कि गोपियों ने ऊधो से कहा कि हम भोग करती भी कैसे? विधाता ने तो कुब्जा के मुख में योग का उपदेश लिखा था।

विशेष—उपमा अलंकार है।

> ऊधो ! ब्रज की दसा बिचारौ।
> ता पाछे यह सिद्धि आपनी जोग कथा बिस्तारौ॥
> जेहि कारन पठए नँदनंदन सो सोचहु मन माहीं।
> केतिक बीच बिरह परमारथ जानत हौ किधौं नाहीं॥
> तुम निज दास जो सखा स्याम के संतत निकट रहत हौ।
> जल बूड़त अवलंब फेन को फिरि फिरि कहा गहत हौ?

वै प्रति ललित मनोहर आनन कैसे मनहि बिसारौं।
जोग जुक्ति औ मुक्ति विविध विधि वा मुरली पर वारौं ॥
जेहि उर बसे स्याम सुंदर घन क्यों निर्गुन कहि आवै।
सूरस्याम सोइ भजन बहावै जाहि दूसरो भावै। ११२॥

शब्दार्थ—बिस्तारो—बिस्तार के साथ कहना। निज—खास। फेन—भाग।

व्याख्या—ब्रज की दशा को योगोपदेश के विपरीत बताती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे ऊधो, पहले तुम ब्रज की दशा पर विचार करो तब पीछे योग-सिद्धि की कथा खूब कहना। अपने मन में तनिक यह तो सोचो कि आखिर कृष्ण ने तुम्हें यहाँ किस लिए भेजा है ? तुम्हें यह ज्ञात नहीं कि विरह और मोक्ष में कितना अन्तर है ? तुम तो श्याम के निजी दास हो, सदा उनके निकट रहते हो। फिर भी तुम उस प्रकार की अज्ञानता क्यों कर रहे हो ? पानी में डूबते हुए को भागों का सहारा लेने के लिए क्यों आग्रह कर रहे हो ? तुम तो जानते हो कि वे अत्यन्त सुन्दर मुख वाले हैं, उन्हें हम कैसे विस्मृत कर सकती हैं ? तुम्हारी योग साधना तथा मुक्ति को हम प्रत्येक प्रकार से उस मुरली पर बलिदान करने को प्रस्तुत हैं। जिसके हृदय में श्याम कृष्ण बसे हैं उसे निर्गुण ब्रह्म क्यों मानें ? गोपियों की इस अनन्य भक्ति पर मुग्ध होकर सूर कहते हैं कि वस्तुतः जिसे अपने इष्ट देव के अतिरिक्त और कुछ भाता है उसका भजन व्यर्थ है अर्थात् उसे अनन्य भक्ति नहीं कहा जा सकता।

विशेष—रूपक अलकार है।

ऊधो ! यह हित लागै काहे ?
निसिदिन नयन तपत दरसन को तुम जो कहत हिय-माहे ॥
नींद न परति चहूँदिसि चितवति बिरह अनल के दाहे।
उर तें निकसि करत क्यों न सीतल जो पै कान्ह यहाँ है ॥
पा लागौं ऐसेहि रहन दे अवधि-आस-जल-थाहे।
जनि बोरहु निर्गुन-समुद्र में, फिरि न पायहौ चाहे ॥
जाको मन जाही तें राच्यो तासों बनै निबाहे।
सूर कहा लै करै पपीहा एते सर सरिता हैं ? ॥११३॥

शब्दार्थ—हित—रुचिकर। माहे—में। दाहे—जलन से। थाहे—थाहने पर।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव, तुम्हारी यह बात कि वे घटघटवासी हैं हमें भला कैसे रुचिकर प्रतीत हो सकती है ? तुम कहते हो कि वे हृदय में हैं फिर हमारे नेत्र रात-दिन उनके दर्शन को क्यों तड़पते रहते हैं ? हमारी नींद हराम हो गई है। विरहाग्नि से पीड़ित हम चारों दिशाओं में निहारती रहती हैं। यदि तुम्हारे कथनानुसार वे हमारे हृदय में हैं तो फिर हृदय से बाहर निकलकर हमारे तप्त प्राणों को वे शीतल क्यों नहीं कर देते ? अतः तुम्हारा यह कथन कि

वे हमारे हृदय में हैं बिल्कुल प्रगट है। हम तुम्हारे पैरों पड़ती हैं, तुम हमें इसी भाँति अवधि की आशा रूपी जल की थाह के सहारे बना रहने दो क्योंकि अवधि पूरी होने पर मिलन की आशा तो है। तुम हमें अपने निर्गुण रूपी समुद्र में मत डुबोओ, वहाँ तो फिर खोजने पर भी हमारा पता न लगेगा। सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों ने अन्त में ऊधो से निवेदन किया कि जो जिससे प्रेम करे उससे उसका निर्वाह होना ही अच्छा है। देखो! संसार में अनेक तालाब और नदियाँ हैं और सबमें जल है किन्तु पपीहे के लिए तो ये सब व्यर्थ है, उसे तो स्वाति नक्षत्र का ही जल चाहिये।

विशेष—रूपक और उदाहरण अलंकार है।

ऊधो! ब्रज में पैंठ करी।
यह निर्गुन, निर्मूल गाठरी अब किन करहु खरी॥
नफा जानि कै ह्याँ लै आए सबै वस्तु अकरी।
यह सौदा तुम ह्याँ लै बेचौ जहाँ बड़ी नगरी॥
हम ग्वालिन, गोरस दधि बेंचौ, लेहिं अबै सबरी।
सूर यहाँ कोउ गाहक नाहीं, देखियत गरे परी॥११४॥

शब्दार्थ—पैंठ—दुकान। अकरी—महँगी। सबरी—सब।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव को चिढ़ाती हुई कहती हैं कि तुमने भी ब्रज में आकर अपनी दुकान खूब लगाई! किन्तु यह निर्गुण की गठरी यहाँ तो निरर्थक ही रही। अब तुम इसे उठाकर यहाँ से चले क्यों नहीं जाते? मनमाना लाभ लेने के लिए सब वस्तुएँ यहाँ तुम महँगी भर कर ले आये थे। अपने इस सौदे को तुम वहाँ जाकर बेचो जहाँ बड़े-बड़े नगर हों। यहाँ इसका ग्राहक कौन है? यहाँ तो हम ग्वालिनें हैं, तुम्हारे इस महँगे सौदे को किस प्रकार खरीद सकती हैं? हाँ, यदि तुम दूध-दही बेचते तो अभी सब खरीद लेतीं। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि यहाँ तुम्हारे इस महँगे निर्गुण के सौदे का कोई ग्राहक नहीं है। कोई जबरदस्ती थोड़े ही है जो हमें लेना ही पड़ेगा। अतः अच्छा होगा कि आप और कहीं जाकर देखें।

विशेष—समासोक्ति अलंकार है।

गुप्त मते की बात कहौ जनि कहुँ काहू के आगे।
कै हम जानें कै तुम, ऊधो! इतनी पावें माँगे॥
एक बेर खेलत बृंदाबन कंटक चुभि गयो पाँय।
कंटक सों कंटक लै काढ्यो अपने हाथ सुभाय॥
एक दिवस बिहरत बन-भीतर मैं जो सुनाई भूख।
पाके फल वै देखि मनोहर चढ़े कृपा करि रूख॥

> ऐसी प्रीति हमारी उनकी बसते गोकुल-बास ।
> सूरदास प्रभु सब बिसराई मधुबन कियो निवास ॥११५॥

शब्दार्थ—जनि—मत । विहरत—विहार करना । रूख—वृक्ष । मधुवन—मथुरा ।

व्याख्या—अपने प्रेम की गोपनीय बातें बताकर राधा उद्धव पर अपना विश्वास जमाने का प्रयास करती हुई कहती है कि हम तुम्हे अपनी गुप्त बातें बताती है, देखो, किसी और से मत कहना। हे ऊधो, ये बातें, देखो, बस तुम्हारे और हमारे बीच मे ही रहनी चाहियें। एक बार वृन्दावन मे खेलते समय हमारे पैर मे काँटा चुभ गया था तो कृष्ण ने बड़े प्रेम से अपने हाथ से एक काँटे द्वारा हमारा काँटा निकाला था। एक दिन हम और कृष्ण वन मे विहार कर रहे थे। मैंने उनसे कहा कि मुझे भूख लगी है। वे मुझ पर इतने कृपालु हुए कि पक्के फल देख कर एकदम वृक्ष पर चढ़ गये। जब वे गोकुल में रहते थे तो हमारी उनसे इतनी गाढ़ी मित्रता थी; किन्तु अब हम करें भी क्या, मथुरा रहकर सूर के प्रभु श्याम अब सब कुछ भूल गये हैं।

विशेष—अपनी गुप्त बातें बता कर दूसरे के हृदय पर कुछ प्रभाव डालने की युक्ति वस्तुतः एक प्रबल हथियार है।

> मधुकर ! राखु जोग की बात ।
> कहि कहि कथा स्यामसुंदर की सीतल करु सब गात ॥
> तेहि निर्गुन गुनहीन गुनैबो सुनि सुंदरि अनखात ।
> दीरघ नदी नाव कागद की को देख्यो चढ़ि जात ?
> हम तन हेरि, चितै अपनो पट देखि पसारहि लात ।
> सूरदास या सगुन छाँड़ि छन जैसे कल्प बिहात ॥११६॥

शब्दार्थ—गुनैबो—गुण सम्पन्न बनाने से। अनखात—बुरा मानती है। तन—ओर। बिहात—बीतता है।

व्याख्या—योग की अग्राह्यता पर प्रकाश डालती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती है कि हे मधुकर, तू योग की बातें रहने दे। श्यामसुन्दर की कथा कह-कहकर हमारे सन्तप्त शरीर को शीतल कर। गुणों से रहित निर्गुण की बातें सुनकर सुन्दरियों को बुरा लगता है। भला लम्बी-चौड़ी नदी को कागज की नाव द्वारा पार होते किसी ने कभी किसी को देखा है? हम अपनी ओर और अपने कपड़ों की ओर देखकर उसके अनुसार ही अपने पैर फैलाती हैं। ठीक भी है—तेते पाँव पसारिये जेती लाँबी सौर। निर्गुण को ग्रहण करने की हमारी सामर्थ्य ही नहीं है। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि सगुण के वियोग में हमारा तो एक-एक क्षण कल्प के समान बीत रहा है।

विशेष—निदर्शना और लोकोक्ति अलंकार है।

ऊधो ! तुम अति चतुर सुजान ।
जे पहिले रंग रंगी स्याम रंग तिन्हैं न चढ़ै रंग आन ॥
द्वै लोचन जो बिरद किए स्रुति गावत एक समान ।
भेद चकोर कियो तिनहु में बिधु प्रीतम, रिपु भान ॥
बिरहिनि बिरह भजै पा लागो तुम हो पूरन-ज्ञान ।
दादुर जल बिनु जियै पवन भखि, मीन तजै हठि प्रान ॥
बारिज बदन नयन मेरे षटपद कब करिहैं मधुपान ?
सूरदास गोपीन प्रतिज्ञा, छुवत न जोग बिरान ॥११७॥

शब्दार्थ—बिरद किए—यश गाया । स्रुति—वेद । बारिज—कमल । बिरान—पराया ।

व्याख्या—गोपियाँ कहती हैं कि हे ऊधो, तुम तो अत्यन्त बुद्धिमान हो । तुम्हें तो यह समझ लेना चाहिए कि जो पहले से ही श्याम रंग में डूब चुकी हैं उनपर दूसरा रंग चढ़ना असम्भव है । हमारे वेदों में ईश्वर के दो नेत्र बताए गए हैं—सूर्य और चंद्रमा और जिनकी समान महत्ता का ही प्रतिपादन भी वहाँ मिलता है । किन्तु देखिए चकोर के लिए वे दोनों समान तो क्या एक दूसरे के विपरीत समझता है । वह चन्द्रमा को अपना प्रियतम और सूर्य को अपना शत्रु समझता है । भाव यह है कि चाहे निर्गुण और कृष्ण दोनों एक समान हों किन्तु गोपियाँ तो कृष्ण को ही भजेंगी । वे कहती हैं कि हे ऊधो, तुम तो पूर्ण ज्ञानी हो अतः भली-भाँति समझ सकते हो जो विरहिणी हैं वे तो निरन्तर अपने प्रियतम का ही ध्यान करेंगी । यह तो अपने-अपने मन की बात है । प्रेम-निर्वाह की सीमाएं होती हैं । मछली तथा मेढक दोनों को ही जल प्रिय है । किन्तु मछली तो उसके अभाव में अपने प्राण तक दे देती है और मेंढ़क वायु खाकर जीवित रहता है । हमें तुम मछली के समान समझो, मेढ्क के समान नहीं । हमारा तो श्याम से इतना गाढ़ा प्रेम है कि हम तो सदा यही सोचती रहती हैं कि हमारे ये नयन रूपी भौंरे श्याम के कमल बदन के मकरन्द का पान कब करेंगे ? सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हे ऊधो, हमारी तो यह प्रतिज्ञा है कि हम किसी दूसरे की वस्तु अर्थात् योग को नहीं छू सकतीं ।

विशेष—सातवीं पंक्ति में परम्परित रूपक की छटा दर्शनीय है ।

ऊधो ! कोकिल कूजत कानन ।
तुम हमको उपदेस करत हो भस्म लगावन आनन ॥
औरौ सब तजि, सिंगी लै लै टेरन, चढ़न पखानन ।
पै नित आनि पपीहा के मिस मदन हनत निज बानन ॥
हम तौ निपट अहीरी बावरी जोग दीजिये ज्ञानिन ।
कहा कथन मामी के आगे जानत नानी नानन ॥

सुंदर स्याम मनोहर मूरति भावति नीके गानन।
सूर मुकुति कैसे पूजति है वा मुरली की तानन ? ॥११८॥

शब्दार्थ—कूजत—बोलती है। सिंगी—सींग का बाजा। पखान—पत्थर। पूजति—बराबरी करना।

व्याख्या—बसन्त के आगमन पर भी उद्धव का योगोपदेश सुनकर गोपियाँ कहती हैं कि अरे उद्धव, तुम्हें कुछ पता भी है ? वह देखो, वन मे कोयल कूक-कूककर बसन्त के आगमन की सूचना दे रही है। ऐसे सुहावने समय में भी तुम हमे मुख पर भस्म लगाने की शिक्षा देते हो। इस मौसम में तो मुख पर अबीर और गुलाल लगाया करते हैं। इतना होते हुए भी हम तो तुम्हारा कहना मान जाती और सब कुछ त्याग कर पाषाण शिलाओं पर बैठकर अवश्य ही सिंगी बजाती किन्तु करें क्या, हमे तो नित्य कामदेव पपीहा के बहाने आकर अपने कुसुम बाणो से चोट करता है। हम तो नितात पगली अहीरिन हैं। यह अपना योग तो आप ज्ञानियो को जाकर दीजिए। यदि तुम यह कह कर कुछ रौब देना चाहते हो कि कृष्ण स्वय योगी हैं और उन्होने ही योग का सन्देश भेजा है तो हम तुम्हें यह बता देना चाहती हैं कि हम उनकी नस-नस जानती हैं। भला मामी के सम्मुख नाना-नानी की शेखी बघारने अर्थात् उनके विषय मे बनावटी बात कहने से क्या लाभ ? वह तो उनके विषय में अपने-आप सही बात खूब जानती है। अत. आप योग के गीत गाना बन्द करिये क्योकि हमें तो श्यामसुन्दर की मनोहर मूर्ति के ही गीत अच्छे लगते हैं। सूर की गोपियाँ कहती है कि तुम्हारी मुक्ति का आनन्द भला उस मुरली की तानो के आनन्द के सामने कहाँ ठहर सकता है ?

विशेष—चौथी पंक्ति मे कैतवापह्नुति तथा छठी पंक्ति मे लोकोक्ति अलंकार है।

ऊधो ! हम अजान मति भोरी।
जानति हैं ते जोग की बातें नागरि नवल किसोरी ॥
कंचन को मृग कौनें देख्यो, कौनें बाँध्यो डोरी ?
कहु धौं, मधुप ! बारि मथि माखन कौने भरी कमोरी ?
बिनही भीत चित्र किन काढ्यो किन नभ बाँध्यो झोरी।
कहो कौन पै कढ़त कनूकी जिन हठि भुसी पछोरी ॥
यह ब्यवहार तिहारो, बलि बलि ! हम अबला मति थोरी।
निरखहिं सूर स्याम मुख चंदहि अँखियाँ लगनि-चकोरी ॥११६॥

शब्दार्थ—कमोरी—दूध-दही रखने की मटकी। कनूकी—कण। काढ्यो—खींचा।

व्याख्या—तानानुसार योगोपदेश का आग्रह करती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि हे उद्धव, हम तो ज्ञानरहित है और हमारी बुद्धि भी परिष्कृत नही है। योग की बातो को तो नगर की रहने वाली नवयुवतियाँ ही समझ सकती हैं। भला कहीं कभी

किसी ने सोने को सुगंध देना है? गीता के उदाहरण को सामने रखकर यदि कोई यह दे कि हाँ देना है तो निश्चय के लिए वे यह कहती हैं कि क्या कभी किसी ने उसे र से बाँध कर पकड़ा भी है? अरे मधुकर, तुम्हीं बताओ, कभी कहीं किसी ने पानी मथ मक्खन निकाला है और अपनी मटकी भरी है? क्या कभी किसी ने बिना दीवार चित्र बनाया है? क्या कभी किसी ने आकाश को झोली में बाँधा है? यदि कभी कि ने हठपूर्वक भूसी को पटका हो तो क्या कभी उसमें से दाने निकले हैं? तुम्हारा यह व्यवहार इसी प्रकार का है। हम तुम्हारी बलिहारी जाती हैं। हम पर कृपा करो हम तो थोड़ी बुद्धि वाली अबलायें हैं। हमारी आँखों ने तो सूर के कृष्ण मुख-चन्द्र चकोरी जैसी तन्मयता से देखना सीखा है। भाव यह है कि हम तुम्हारे योगमार्ग को ग्रह नहीं कर सकतीं, कृष्ण के दर्शन करके चैन पायेंगी।

विशेष—निदर्शना, रूपक और उपमालंकार है।

ऊधो! कमल नयन बिनु रहिए।
इक हरि हमें अनाथ करि छाँडी, दूजे बिरह किमि सहिए?
ज्यों ऊजर खेरे की मूरति को पूजै, को मानै?
ऐसी हम गोपाल बिनु ऊधो! कठिन बिथा को जानै?
तन मलीन, मन कमलनयन सो मिलिबे की धरि आस।
सूरदास स्वामी बिन देखे लोचन मरत पियास ॥१२०॥

शब्दार्थ—खेरे—गाँव। ऊजर—उजड़े हुए।

व्याख्या—कृष्ण-वियोग की असह्य व्यथा प्रगट करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे उद्धव, कमलनयन कृष्ण के बिना हमारा जीवित रहना बहुत कठिन है। एक तो वे हमें अनाथ बनाकर छोड़ गए और दूसरे फिर योग की शिक्षा भेजकर विरह-व्यथा को और भी बढ़ा देना कितना असह्य है? जिस प्रकार उजड़े गाँव की मूर्ति को न तो कोई पूजता है और न कोई सम्मान करता है उसी प्रकार हे ऊधो, गोपाल द्वारा परित्यक्त होने पर हम भी अवहेलना और अपमान की पात्र बन गई हैं। हमारी इस घोर व्यथा को भला कौन जान सकता है? हमारा तन यद्यपि मलीन है किन्तु तो भी हम उनसे मिलने की आशा धारण किये हुए हैं। सूर के स्वामी कृष्ण को बिना देखे हमारे ये प्यासे नेत्र उनके दर्शनों की आशा की प्यास में मरे जा रहे हैं।

विशेष—भक्तराज तुलसीदास की निम्न पंक्तियाँ दर्शनीय हैं—

कृपासिंधु सुजान रघुवर, प्रनत आरति हरन।
दरस आस पियास तुलसीदास चाहत मरन॥

ऊधो! कौन आहि अधिकारी?
लै न जाहु यह जोग आपनो कत तुम होत दुखारी?
यह तो बेद उपनिषद मत है महापुरुष ब्रतधारी।
हम अहीरि अबला ब्रजबासिनी न[illegible] परत संभारी॥

को है सखा, कहु हो काको, कौन कथा अनुसारी ?
सूर स्याम-संग जात भयो मन अहि केंचुलि सी डारी ॥१२१॥

शब्दार्थ—आहि—है। अनुसारी—हेरी। अहि—सर्प।

व्याख्या—गोपियाँ योग को अपने लिए अनुपयुक्त बताती हुई उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव, तुमने इस बात पर विचार नहीं किया कि योग का अधिकारी कौन है ? इस अपने योग को तुम काशी में जाओ। तुम क्यों ये दुःखी क्यों होते हो ? वेद और उपनिषदों के कथनानुसार यह योग तो ज्ञानी मनुष्यों के लिए है। हम तो अहर्निश ब्रजवासिनी अबलायें हैं, हमसे भला यह योग साधन हो नहीं सकता। यहाँ भला इस योग को तुमने जाना ही कौन है ? भला यह उपदेश दे किसे रहे हो ? आपकी इस कथा को यहाँ समझने वाला है ही कौन ? सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हमारा मन तो श्याम के साथ चला गया है और केंचुल के सदृश निर्जीव पड़ी हुई हैं। जिस प्रकार साँप केंचुलि को छोड़कर चला जाता है और केंचुलि निर्जीव होकर पड़ी रह जाती है उसी प्रकार हमारा मन श्याम के साथ चला गया है और हम यहाँ निर्जीव अवस्था में पड़ी हुई हैं ; तो भला निर्जीव अवस्था में पड़ी हुई हम उद्धव जी के योग को क्या सुन सकती हैं और क्या समझ सकती हैं ?

विशेष—अन्तिम पंक्ति में उपमा अलंकार है।

ऊधो ! जो तुम हमहिं सुनायो।
सो हम निपट कठिनई करिकै या मन को समुझायो॥
जुगुति जतन करि हमहूँ ताहि गहि सुपथ पंथ लौं लायो।
भटकि फिर्यो बोहित के खग ज्यों, पुनि फिरि हरि पै आयो॥
हमको सबै अहित लागति है तुम अति हितहि बतायो।
सर-सरिता-जल होम किये तें कहा अगिनि सचु पायो ?
अब वैसो उपाय उपदेसो जिहि जिय जात जियायो।
एक बार जौ मिलहिं सूर प्रभु कीजै अपनो भायो॥१२२॥

शब्दार्थ—सुपथ—सन्मार्ग। सचु—सुख। बोहित—जहाज।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव जी से कहती हैं कि हे उद्धव, जो योग की बातें तुमने हमसे कही हैं उनको ग्रहण करने के लिए हमने अपने इस मन को अनेक उपायों द्वारा समझाने की बहुत चेष्टा की है। हमने उसे सन्मार्ग पर लाने के लिए अनेक प्रकार की युक्तियाँ और प्रयत्न किये और उसे उस सन्मार्ग तक लाईं किन्तु वह उस मार्ग को त्याग कर भटकता हुआ जहाज के पक्षी के सदृश फिर हरि के पास ही आ गया। तुम जो हमारे लिए अत्यधिक हित की बातें बताते हो, वह हमको अहित की प्रतीत होती हैं। तालाब और नदी के जल से हवन करने से क्या अग्नि को सुख प्राप्त हो सकता है ? वह कभी तृप्त नहीं हो सकती ; वह तो हवि के हवन से ही सन्तुष्ट हो सकती है। अतः अब हमें ऐसा उपदेश दो जिससे हमारे प्राणों में जान पड़े। बस एक बार तुम हमें सूर के प्रभु

कृष्ण से मिला दो, फिर जो चाहे सो करना।

विशेष—चौथी पंक्ति में उपमा और छठी पंक्ति में दृष्टान्त अलंकार है।

ऊधो ! जोग बिसरि जनि जाहु ।
बाँधहु गाँठि कहूँ जनि छूटै फिरि पाछे पछिताहु ॥
ऐसी वस्तु अनूपम मधुकर मरम न जानै और।
ब्रजबासिन के नाहिं काम की, तुम्हरे ही है ठौर ॥
जो हरि हित करि हमको पठयो सो हम तुमको दीन्हीं।
सूरदास नरियर ज्यौं विष को करै बंदना कीन्हीं ॥१२३॥

शब्दार्थ—ठौर—स्थान। पठयो—भेजा। नरियर—नारियल। करै—जोड़कर।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव को बनाती हुई कहती हैं कि हे उद्धव, देखो, तुम अपने इस योग को भूल मत जाना। इसे भली-भाँति गाँठ में बाँधकर रख लो, कहीं गाँठ खुल न जाय, कभी तुम्हारा यह योग कहीं गिर जाय और तुम हाथ मलते रह जाओ। तुम्हारा यह योग नामक पदार्थ अनुपम है। हे मधुकर, इसका रहस्य तुम्हारे अतिरिक्त और जान ही कौन सकता है ? यह ब्रजवासियों के काम का नहीं है। इसके लिए तो तुम्हारे यहाँ ही स्थान है। श्याम ने हमारी भलाई के लिए जो यह योग भेजा है, उसे हम तुम्हें ही वापिस कर रही हैं। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हमारे लिए तो यह विष से भरे हुए नारियल के समान है और हम इसे हाथ जोड़कर दूर से ही नमस्कार करती हैं।

विशेष—यहाँ जिस गाँठ को बाँधने की बात कही जा रही है, उद्धवशतक में यह गाँठ उद्धव के ब्रज में प्रवेश करते ही खुल जाती है—

ज्ञान गठरी की गाँठि छरकि न जान्यो कब,
हरैं हरैं पूंजी सब सरकि कछार मैं।
डार में तमालनि की कछु बिरमानी अरु,
कछु अरुझानी है करीरनि की झार मैं ॥

ऊधो ! प्रीति न मरन बिचारै।
प्रीति पतंग जरै पावक परि, जरत अंग नहिं टारै ॥
प्रीति परेवा उड़त गगन चढ़ि गिरत न आप सम्हारै।
प्रीति मधुप केतकी-कुसुम बसि कंटक आपु प्रहारै ॥
प्रीति जानु जैसे पय पानी जानि अपनपो जारै।
प्रीति कुरंग नादरस, लुब्धक तानि तानि सर मारै ॥
प्रीति जान जननी सुत-कारन को न अपनपो हारै ?
सूर स्याम सों प्रीति गोपिन की कहु कैसे निरुवारै ॥१२४॥

की नग्न दशा, तनिक कुछ सोचकर दोनों की संगति मिलाकर तो देखो। तुम्हें म
कसम है। बिल्कुल सच-सच बताना, हम अन्तिम बार तुमसे पूछती हैं कि जब सूर
श्याम ने तुम्हें यहाँ भेजा था तब क्या वे कुछ मुस्कराये तो नहीं थे? भाव यह है कि उन्हें
तुम्हारे साथ मजाक किया है अतः तुम कम से कम उनके इस व्यंग्य को समझ लो म
तब अपने योग-सन्देश के विषय में विचार करो।

विशेष—गोपियों को श्याम पर कितना विश्वास है कि वे इस बात की
संभावना कर लेती हैं कि शायद ऊधो मार्ग भूल गये हैं। श्याम तो ऐसा कर ही न
सकते। यदि उन्होंने ऐसा किया है तो अवश्य ही मजाक में किया है। मजाक भी गोपि
से नहीं, ऊधो से किया है!

ऊधो! स्याम सखा तुम साँचे।
कै करि लियो स्वाँग बीचहिं तें, वैसेहि लागत काँचे॥
जैसी कही हमहिं आवत ही औरनि कहि पछिताते।
अपनो पति तजि और बतावत महिमानी कछु खाते॥
तुरत गौन कीजै मधुवन को यहाँ कहाँ यह ल्याए?
सूर सुनत गोपिन की बानी उद्धव सीस नवाये॥१२६॥

शब्दार्थ—महिमानी—आतिथ्य। गौन—गमन। मधुवन—मथुरा।

व्याख्या—गोपियाँ कहती हैं कि हे ऊधो, तुम वास्तव में श्याम के सच्चे सखा हो। ऐसा प्रतीत होता है कि तुमने बीच में से ही मित्रता का यह स्वांग रच लिया है। कुछ भी हो तुम भी अपने विचारों में कच्चे प्रतीत होते हो। जैसी तुमने हमसे कही यदि ऐसी ही और कहीं किसी से कह देते तो तुम्हें इसका इतना दण्ड मिलता कि तुम हाथ मलते रह जाते। तुम जो अपने इष्टदेव को छोड़कर और को ग्रहण करने की प्रेरणा दे रहे हो, इसका दण्ड तुम्हें बड़ा कठोर मिलता। तुम्हारा वह आतिथ्य होता जो सदैव याद रखते। अब भलाई इसी में है कि तुम तुरन्त मथुरा चले जाओ। यह योग तुम यहाँ कहाँ लिए फिरते हो? सूर कहते हैं कि जब उद्धव ने गोपियों के ये वचन सुने तो उन्होंने अपना शीश नवा लिया। भाव यह है कि गोपियों के कथन से उनके नेत्र खुल गये और पश्चात्तापवश होकर उ॰ ' शरोधरा श्रद्धा से स्वतः ही नत हो गई।

विशेष—वक्रोक्ति अलंकार है।

ऊधो जू! देखे हौ ब्रज जात।
जाय कहियो स्याम सौं या बिरह को उत्पात॥
नयनन कछु नहिं सूझई, कछु श्रवन सुनत न बात।
स्याम बिन आँसुवन बूड़त दुसह धुनि भइ बात॥
आइए तो आइए, जिय बहुरि सरीर समात।
सूर के प्रभु बहुरि मिलिहौ पाछे हू पछितात॥१३०॥

शब्दार्थ—उत्पात—उपद्रव। सूझई—दीखना। बूड़त—डूबना। दुसह—असह्य।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से प्रार्थना करती हैं कि तुम तो ब्रज की दशा अब अपनी आँखो से देख रहे हो, वहाँ जाकर कृष्ण से विरह के उपद्रव को ठीक ढग से कह देना। तुम जाकर कहना कि आपके विरह में ब्रजवासियों को न तो अपने नेत्रों से कुछ दीखता है और न कानों से कुछ सुनाई देता है। श्याम के बिना यहाँ सब आँसुओं की बाढ़ में डूबे जा रहे हैं तथा साधारण-सी बात भी लोगो को दु सह ध्वनि के सदृश असह्य हो रही है। यदि उन्हें आना है तो कह देना कि वे शीघ्र ही आ जावें जिससे कि ब्रज-वासियों के शरीर में प्राणो का पुनः प्रवेश हो जाय। यदि समय निकल जाने के बाद वे मिले तो उन्हें पछताना पड़ेगा। हम उन्हे तब मिल ही नहीं सकते क्योंकि फिर उन्हे हम लोगों के प्राण जीवित नहीं मिल सकते।

विशेष—अत्युक्ति अलंकार है।

ऊधो! बेगि मधुबन जाहु।
जोग लेहु सँभारि अपनो बेचिए जहँ लाहु॥
हम बिरहिनी नारि हरि बिनु कौन करे निबाहु?
तहाँ दीजे मूर पूजे, नफा कछु तुम खाहु॥
जौ नहीं ब्रज में बिकानो नगर नारि बिसाहु।
सूर वै सब सुनत लैं हैं जिय कहा पछिताहु॥१२८॥

शब्दार्थ—लाहु—लाभ। मूर पूजै—मूलधन निकल आवे। बिसाहु—मोल ले लें।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि तुम शीघ्र ही मथुरा चले जाओ। अपना यह योग सभाल कर रख लो। जहाँ आपको लाभ हो वहीं ले जाकर इसे बेचना। हम तो हरि की विरहिणी अबलायें हैं, उनके बिना भला हमारा निर्वाह हो ही कहाँ सकता है? तुम्हें अपना व्यवसाय वहीं करना चाहिये जहाँ पर कम से कम तुम्हारी लगायी हुई पूँजी निकल आवे और कुछ विशेष लाभ भी हो। यदि आपका यह सौदा ब्रज मे नहीं बिका तो चिन्ता क्यों करते हो, इसे जाकर नागरी स्त्रियों को बेच दो। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि तुम अपने मन मे पश्चाताप मत करो। आशा रखो, नागरी स्त्रियाँ इस सौदे को सुनते ही मोल ले लेंगी।

विशेष—अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है।

ऊधो! कछु कछु समुझि परी।
तुम जो हमको जोग लाए भली करनि करी॥
एक विरह जरि रहीं हरि के, सुनत अतिहि जरी।
जाहु जनि अब लोन लावहु देखि तुमहि डरी॥

जोग-पाती दई तुम कर बड़े जान हरी।
आनि आस निरास कीन्हीं, सूर सुनि हहरी ॥१६६॥

शब्दार्थ—जान—सुजान, चतुर। समुझि परी—समझ में आने लगा। लोन—नमक। हहरी—दहल जाना।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि अब हमारी समझ में कुछ-कुछ आय है। आप जो हमारे लिए यह योग लाये हो यह आपने अच्छा ही किया। एक तो हम पहले से ही हरि के विरह में जल रही हैं अब आपके इस सन्देश को सुनकर हम और भी जली जा रही हैं। अब आप यहाँ से चलते बनो। जले पर नमक मत छिड़को। हमें तो तुमको देखकर डर लग रहा है। हरि ने तुमको अत्यन्त चतुर समझकर यह योग की पत्री तुम्हें दी थी किंतु तुमने उनकी आशा को निराशा में परिवर्तित कर दिया। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हम तो तुम्हारी बातें सुनकर दहल गई हैं।

विशेष—श्याम ने ऊधो को महान् ज्ञानी समझ कर उन्हें योग का संदेशा देकर भेजा था पर यहाँ गोपियों ने उनके पैर उखाड़ दिये और इस प्रकार कृष्ण की आशा निराशा में बदल गई।

ऊधो! सुनत तिहारे बोल।
ल्याए हरि-कुसलात धन्य तुम घर घर पारयो गोल ॥
कहन देहु कह करै हमारो बरि उड़ि जैहै झोल।
आवत ही याको पहिचान्यो निपटहि ओछो तोल ॥
जिनके सोचन रही कहिबे तें, ते बहु गुननि अमोल।
जानी जाति सूर हम इनकी बतचल चंचल लोल ॥१७०॥

शब्दार्थ—पारयो गोल—गोलमाल किया। झोल—भस्म। ओछो तोल—तोल में कम। बतचल—बकवादी।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव को बुरा-भला कहती हुई कहती हैं कि हे उद्धव, हमने तुम्हारी बातें सुन ली। धन्य हो तुम! कृष्ण की कुशलता क्या लाए, तुमने तो यहाँ घर-घर में गोलमाल अर्थात् गड़बड़ी कर दी। यह सुनकर एक गोपी दूसरी गोपी से कहने लगी कि अरे इसे बकने दो, यह हमारा क्या बिगाड़ लेगा? थोड़ी देर में ही इसका कथन भस्म के समान योंही उड़ जायगा अर्थात् प्रभावहीन हो जायगा। अरे, हमने तो इसे आते ही पहचान लिया था कि ये श्रीमान् जी खूब कम तोलने वाले हैं। जिन्हें हम कुछ भी कहने में संकोच कर रही थी, ये महाराज तो बहुत अमूल्य गुणी निकले अर्थात् पूरे कपटी निकले। सूर कहते हैं कि अंत में गोपी ने कहा कि हम इनकी जात पहचान गई हैं। ये तो बड़े बकवादी और गप्पी हैं।

विशेष—यहाँ गोपियाँ बौखला जाती हैं और उद्धव को बुरा-भला तक कहने में कोई संकोच नहीं करती।

ऐसी बात कहौ जनि ऊधो !
ज्यों त्रिदोष उपजे जक लागति, निकसत बचन न सूधो ।।
आपन तौ उपचार करौ कछु तब औरन सिख देहु ।
मेरे कहे बनाय न राखौ थिर कै कतहुँ गेहु ।।
जो तुम पद्मपराग छाँड़ि कै करहु ग्राम-बस बास।
तौ हम सूर यहौ करि देखें निमिष छाँड़ही पास ।।१३१।।

शब्दार्थ—त्रिदोष—सन्निपात। जक—बकवाद। थिर कै—स्थायी रूप से। बस बास—निवास।

व्याख्या—गोपियाँ फिर उद्धव से इसी प्रकार कहती हैं कि हे ऊधो, तुम ऐसी बात मत कहो। तुम तो कुछ इस प्रकार बके जा रहे हो जैसे सन्निपात में किसीको बकवास लग जाती है और वह अनर्गल प्रलाप करता रहता है। तुम्हारे मुख से सीधे वचन तो निकलते ही नहीं हैं। पहले जाकर अपनी चिकित्सा करो तब जाकर कहीं और को शिक्षा देना। यदि तुम हमारा कहना मानो तो कहीं स्थिर रूप से अपना घर बना लो और वहाँ रहो। इस प्रकार इधर-उधर भटकने से क्या लाभ? सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि यदि तुम पद्मपराग को त्याग कर कहीं ग्राम में निवास कर लो तो हम भी क्षण भर के लिए उनका सामीप्य छोड़कर तुम्हारे कथन का पालन कर लेंगी।

विशेष—'त्रिदोष' का अर्थ यहाँ सन्निपात से इसलिए लिया गया है कि इस रोग में रोगी के तीनों दोष अर्थात् वात, पित्त और कफ प्रबल रहते हैं और वह बेहोश होकर अनर्गल प्रलाप किया करता है।

ऊधो ! जानि परे सयान।
नारियन को जोग लाए, भले जान सुजान ।।
निगम हू नहिं पार पायो कहत जासो ज्ञान।
नयन त्रिकुटी जोरि संगम जेहि करत अनुमान ।।
पवन धरि रवि-तन निहारत, मनहिं राख्यो मारि।
सूर सो मन हाथ नाहीं गयो संग बिसारि ।।१३२।।

शब्दार्थ—सयान—चतुर। पवन धरि—प्राणायाम करके। बिसारि—विस्मृत करके।

व्याख्या—गोपियाँ योग का उपदेश सुनाने वाले ऊधो को बनाती हुई कहती हैं कि हे ऊधो, तुम बड़े चतुर मालूम पड़ते हो। आपकी बुद्धिमानी इसी से प्रगट हो रही है कि आप स्त्रियों के लिए योग का सन्देश लाये हो। ज्ञान तो एक ऐसी वस्तु है कि जिसका पार शास्त्रों ने भी नहीं पाया। योगी लोग नेत्रों के मध्य त्रिकुटी की सिद्धि करके जिस ज्योति का अनुमान करते हैं, क्या वह कोई सरल कार्य है। इस साधना में तो मन को एकाग्र रखकर प्राणायाम साथ कर सूर्य की ओर एकटक देखना पड़ता है और अपने मन को पूर्णतया मारकर रखना पड़ता है। हे ऊधो, हम आपके अनुरोध के कारण

उस आनन्द की प्राप्ति के लिए प्रयास करतीं थी, तो सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा, पर हम करें क्या, हमारा मन ही हमारे पास नहीं है। वह तो हमारा साथ छोड़कर हमें विस्मृत करके चला ही गया है।

विशेष—प्रथम पंक्ति में काकु-वक्रोक्ति तथा अन्तिम पंक्ति में काव्यलिंग अलंकार है।

> ऊधो ! मन नहिं हाथ हमारे।
> रथ चढ़ाय हरि संग गए लै मथुरा जबै सिधारे॥
> नातरु कहा जोग हम छाँड़हि अति रुचि कै तुम ल्याए।
> हम तो झकति स्याम की करनी, मन लै जोग पठाए॥
> अजहूँ मन अपनो हम पावैं तुमतें होय तो होय।
> सूर, सपथ हमैं कोटि तिहारी कही करैंगी सोय॥ १३३॥

शब्दार्थ—सिधारे—गये थे। झकति—झींकना। पठाए—भेजना। अजहूँ—आज।

व्याख्या—गोपियाँ अपनी असमर्थता प्रगट करती हुई ऊधो से कहती हैं कि हम आपके योग का निरादर नहीं करना चाहतीं। हम आपका आदेश अवश्य मानतीं। किन्तु हम करें क्या, हमारा मन तो हमारे अधिकार में है ही नहीं। जब कृष्ण रथ पर चढ़कर मथुरा गये थे तब हमारे मन को भी अपने साथ ले गये थे। यदि ऐसा न होता तो हम आपके इस योग को ठुकराने का साहस न करती जिसे आप इतने चाव से हमारे पास लाये हैं। हम तुम्हें कुछ भी कहना नहीं चाहतीं। हम तो कृष्ण की करतूत को झींक रही हैं कि वे हमारे मन को लेकर हमारे पास यह योग का सन्देश भेज रहे हैं। यदि ऐसा उन्हें करवाना था तो योग के साथ-साथ हमारा मन भी हमें वापिस कर देते। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हे उद्धव, तुम्हारी एक नहीं करोड़ों सौगन्ध खाकर हम तुमसे कहती हैं कि यदि आज भी हमारा मन हमें वापिस मिल जाय तो हम आपका कहना पूर्णतया मान लेंगी।

विशेष—न मन वापिस मिल सकेगा और न गोपियाँ ऊधो का योग अपना सकेंगी। न सौ मन तेल होगा और न राधा जी नाचेंगी !

> ऊधो ! जोग सुन्यो हम दुर्लभ।
> आपु कहत हम सुनत अचंभित जानत हो जिय सुल्लभ॥
> रेख न रूप बरन जाके नहिं ताकौं हमैं बतावत।
> अपनी कहो दरस वैसे को तुम कबहूँ हो पावत?
> मुरली अधर धरत है सो, पुनि गोधन बनबन चारत?
> नैन बिसाल भौंह बंकट करि देख्यो कबहूँ निहारत?
> तन त्रिभंग करि नटवर वपु धरि पीतांबर तेहि सोहत।
> सूर स्याम ज्यों देत हमैं सुख, त्यों तुमको सोउ मोहत॥ १३४॥

शब्दार्थ—सुल्लभ—सुलभ। अपनी कहो—अपनी दशा बताओ। बंकट—टेढ़ी। बरन—वर्ण।

व्याख्या—ऊधो के कथन पर आश्चर्य प्रगट करती हुई गोपियाँ कहती है कि हे उद्धव, हमने सुना है कि योग तो बड़ा कठिन है। आपके कथन को सुनकर तो हमे बड़ा आश्चर्य हो रहा है। आप तो अपने मन मे इसे सुलभ मान बैठे हो। जिस ब्रह्म की न कोई रेखा है, न कोई रूप है और न कोई वर्ण है, उसका उपदेश तुम हमें दे रहे हो। अच्छा उद्धव, तुम्ही बताओ कि क्या तुम कभी उस निराकार ब्रह्म का दर्शन कर पाते हो? क्या तुम्हारा निराकार ब्रह्म हमारे कृष्ण की भाँति कभी अपने अधरो पर मुरली रखकर बजाता है? क्या वह कभी श्याम की भाँति वन में गौओ को चराता है? क्या वह कभी विशाल नेत्रो और बाँकी भौंहों से देखता है? क्या वह कभी हमारे श्याम की भाँति नटवर वेश धारण करके त्रिभंगी मुद्रा मे पीताम्बर पहनकर सुशोभित होता है? सूर कहते हैं कि गोपियो ने उद्धव से पूछा कि सच कहना कि जिस प्रकार हमारे प्रियतम कृष्ण हमे सुख देते हैं क्या उसी प्रकार तुम्हारा निर्गुण ब्रह्म तुम्हें भी सुख देता है? भाव यह कि नही, उसमे श्याम जैसे गुण है ही नहीं।

विशेष—कहै रत्नाकर बदन बिनु कैसे चाखि।
माखन बजाइ बेनु गोधन गवाइहै॥
रावरो अनूप कोउ अलख अरूप ब्रह्म।
ऊधो कहौ कौन धौं हमारे काम आइहै॥

ऊधो! हम-लायक सिख दीजै।
यह उपदेश अगिनि तें तातो, कहो कौन विधि कीजै?
तुमहीं कहो यहाँ इतनिन में सीखनहारो को है?
जोगी जती रहित माया तें तिनको यह मत सोहै॥
जो कपूर चंदन तन लेपत तेहि बिभूति क्यों छाजै?
सूर कहौ सोभा क्यों पावै आँख आँधरी आँजै॥१.५॥

शब्दार्थ—अगिनि—अग्नि। तातो—गर्म। आँधरी—अंधी। आँजै—अजन लगाना।

व्याख्या—योग को अपने प्रतिकूल समझती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि हे ऊधो, हमे हमारे योग्य ही शिक्षा दीजिये। आपका यह उपदेश तो हमे अग्नि से भी अधिक सतापकारी प्रतीत हो रहा है। फिर आप ही बताइये कि हम इसका पालन किस प्रकार कर सकती है? आप ही कहो कि यहाँ इन इतनी गोपियों मे इस योग को सीखने वाली कौन है? आपका यह योग उन्हीं को शोभायमान हो सकता है जो विरक्त योगी और यती है, सांसारिक माया-मोह से जो रहित हैं। जो अपने शरीर पर कपूर और चंदन का लेप करते रहे है भला भभूत लगाना उन्हें कैसे प्रिय लगेगा? सूर कहते है

कि गोपियों ने उद्धव से कहा कि तुम स्वयं विचार कर देखो कि अंधी आँखों में काजल कैसे अच्छा लग सकेगा ?

विशेष—गोपियों का योगोपदेश ग्रहण न करने का यह तर्क कि पात्रानुरूप ही उपदेश देना चाहिये सर्वथा उचित है।

ऊधो ! कहा कथत बिपरीति ?
जुवतिन जोग सिखावन आए यह तो उलटी रीति ॥
जोतत धेनु, दुहत पय बृष को, करन लगे जो अनीति ।
चकवाक ससि को क्यों जानै ? रवि चकोर कहं प्रीति ?
पाहन तरै, काठ जो बूड़ै, तो हम मानें नीति ।
सूर स्याम-प्रति-अंग माधुरी रहीं गोपिका जीति ॥१३६॥

शब्दार्थ—बिपरीति—उल्टी । वृष—बैल । पय—दूध । पाहन—पत्थर ।

व्याख्या—योग के लिए अपने को प्रतिकूल बताती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे ऊधो, तुम उल्टी बातें क्यों कर रहे हो ? तुम जो युवतियों को योग की शिक्षा देने आये हो, यह आपकी रीति बिल्कुल उल्टी है। आपकी ये बातें इतनी अनीतिपूर्ण हैं जैसे कि गायों का हल में जोतना तथा बैलों से दूध निकालना। भाव यह कि जिस प्रकार गायों को जोतना तथा बैलों को दुहना असंभव है उसी प्रकार युवतियों से योग की आशा करना व्यर्थ है। चक्रवाक का चन्द्र से क्या प्रेम, वह तो सूर्य से प्रेम करता है। चकोर का सूर्य से क्या मतलब, वह तो चन्द्र पर जान देता है। यदि पत्थर जल में तैरने लगे और लकड़ी तैरने के स्थान पर डूबने लगे तो हम आपकी योगोपदेश की इन बातों को नीतिसंगत मान सकती हैं। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हमें तो कृष्ण के प्रत्येक अंग के सौन्दर्य ने जीत लिया है। अतः हमारे लिए योग से प्रीति करना असंभव है।

विशेष—इस पद में निदर्शनालंकार है।

ऊधो ! जुवतिन ओर निहारो ।
तब यह जोग-मोट हम आगे हिये समुझि बिस्तारो ॥
जे कच स्याम आपने कर करि नितहि सुगंध रचाए ।
तिनको तुम जो बिभूति घोरि कै जटा लगावन आए ॥
जेहि मुख मृगमद मलयज उबटति, छन छन धोवति माँजति ।
तेहि मुख कहत खेह लपटावन सो कैसे हम छाजति ?
लोचन आँजि स्याम-ससि दरसति तबहीं वे तृप्ताति ।
सूर तिन्हैं तुम रवि दरसावत यह सुनि सुनि करुआति ॥१३७॥

शब्दार्थ—मोट—गठरी । कर करि—हाथ द्वारा । मृगमद—कस्तूरी । मलयज—चंदन । उबटति—मलना । तृप्ताति—तृप्त होगी । करुआति—दुखती हैं।

व्याख्या—योग को युवतियों के लिए अग्राह्य समझती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि हे ऊधो, पहले खूब आँख खोलकर इन युवतियों की ओर देख लो और सोच-समझ लो, तब यह योग की पोटली हमारे सामने खोलना। तनिक सोचो तो सही जिन केशों को कृष्ण स्वयं अपने हाथों से अनेक प्रकार के सुगन्धित तैलादि से अलंकृत करते थे उन्हीं में तुम भभूत मलने का उपदेश देते हो और उन्हें जटाओं में परिवर्तित करने की बात कहते हो। जिन मुखों पर कस्तूरी और चंदन मला जाता रहा है तथा जिन्हें क्षण-क्षण में माँजा और धोया जाता रहा है, उन पर तुम जो राख लपेटने की बात कहते हो, भला यह कैसे रुचिकर हो सकता है ? सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हमारी आँखें तृप्त तभी होती हैं जब वे काजल लगाकर श्याम-रूपी शशी के दर्शन करती हैं। तुम उन्हें सूर्य दिखाने की चेष्टा में हो, यह सुनकर उन्हें बड़ा दुःख हो रहा है।

विशेष—'जोग-मोट' और 'स्याम-ससि' में सम अभेद रूपक अलंकार है।

ऊधो ! इन नयनन अंजन देहु।
आनहु क्यों न स्याम रँग काजर जासों जुरयो सनेहु॥
तपति रहति निसि-बासर, मधुकर, नहिं सुहात तन गेहु।
जैसे मीन मरत जल बिछुरत, कहा कहौं दुख एहु॥
सब विधि बाँधि ठानि कै राख्यो खरि कपूर को रेहु।
बारक मिलवहु स्यामसूर प्रभु, क्यों न सुजस जग लेहु ? ॥१६८॥

शब्दार्थ—आनहु—लगाना। सनेहु—स्नेह। गेहु—घर। एहु—इस।

व्याख्या—गोपियाँ कहती हैं कि हे ऊधो, तुम हमारे इन नेत्रों को अंजन प्रदान करो अर्थात् इन्हें श्री कृष्ण के दर्शन करा दो। तुम इनमें उस श्याम रंग का काजल क्यों नहीं लगाते जिनसे हमारा प्रेम जुड़ा हुआ है। हे मधुकर, हम तो दिन-रात उनके वियोग में तपती रहती हैं। न हमें अपना घर अच्छा लगता है और न यह शरीर। जैसे जल से अलग होकर मछलियाँ मर जाती हैं उसी प्रकार हम भी उनसे विमुख रहकर मरी जा रही हैं। अपने इस दुःख का वर्णन करना हमारे लिए असंभव हो रहा है। इतना होते हुए भी हमने अपने प्रेम को सुरक्षित रखने के लिए उसे दृढ़ सकल्प के साथ इस प्रकार बाँध दिया है जैसे कपूर को सुरक्षित रखने के निमित्त उसे खड़िया के साथ मिलाकर बाँध देते हैं। अतः हे उद्धव तुम हमें एक बार श्याम से मिला दो और संसार में यश की प्राप्ति करो।

विशेष—पहली पंक्ति में रूपकातिशयोक्ति तथा चौथी पंक्ति में उपमा अलंकार है।

ऊधो ! भली करी तुम आए।
ये बातें कहि कहि या दुख में ब्रज के लोग हँसाए॥
कौन काज वृन्दावन को सुख, दही-भात की छाक ?
अब वै कान्ह कूबरी राचे बने एक ही ताक॥

मोर मुकुट मुरली पीतांबर, पठवौ सौज हमारी।
अपनी जटाजूट अरु मुद्रा लीजै भस्म अधारी॥
वै तौ बड़े, सखा तुम उनके, तुमको सुगम अनीति।
सूर सबै मति भली स्याम की जमुना-जल सों प्रीति॥१३९॥

शब्दार्थ—छाक—कलेवा। ताक—तार, मेल। सौज—वस्तु। पठवौ—भेजा।

व्याख्या—गोपियाँ कहती है कि हे ऊधो, आपने यहां आकर बड़ा अच्छा किया। अपनी बेतुकी बातों को बार-बार कह कर आपने इन ब्रज के लोगों को दु:ख मे हँसा दिया। अब हमारा वृंदावन मे रहने का सुख निरर्थक है। इतना ही नही, वह दही और भात का कलेवा भी अब व्यर्थ है क्योकि कृष्ण तो उस कुब्जा पर आसक्त हैं। दोनों का मेल भी खूब मिला है। खैर, जो कुछ हुआ सो हुआ अब आप कृपया मयूरपंख का मुकुट, मुरली और पीताम्बर आदि जो भी हमारे ब्रज की वस्तुएं हैं उन्हे वहाँ से वापिस भिजवा दीजिये और अपनी जटा समूह, मुद्रा भस्म और अधारी उन्हे ले जाकर सौंप दो। कृष्ण तो ठहरे बड़े आदमी और फिर आप हैं उनके सखा ! तो फिर आप लोगो के लिए अनीति करना बड़ा सुगम है। वस्तुत ठीक भी है 'समर्थ को नहि दोष गुसाईं'। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि कृष्ण के क्या कहने हैं, उनके तो सभी कार्य अच्छे ही हैं ! सारा संसार तो पतितपावन गंगाजल से प्रेम करता है और वे हजरत, यम की बहन कालिन्दी के जल से प्रीति करते हैं ! (व्यग्य)

विशेष—प्रस्तुत पद में परिवृत्ति अलंकार है।

ऊधो ! बूझति गुपुत तिहारी।
सब काहू के मन की जानत थांधे मूरि फिरत ठगवारी॥
पीत ध्वजा उनके पीताम्बर, लाल ध्वजा कुबिजा व्यभिचारी।
सेत ध्वजा, ऐसेति ब्रज ऊपर अजस हेतु ऊधो ! सो न्यारी॥
उनके प्रेम-प्रीति मनरंजन, पै ह्यां सकल सीलव्रतधारी।
सूर बचन मिथ्या, लगराई ये दोऊ ऊधो की न्यारी॥१४०॥

शब्दार्थ—मूरि—जड़ी जिसे खिलाकर बेहोश किया जाता है। गुपुत—गुप्त, रहस्य। लगराई—लबारपन।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे ऊधो, हम तुमसे एक रहस्य पूछती हैं। तुम तो सब के मन की जानते हो और सबको ठगने की जड़ी साथ लिए ठगते फिर रहे हो। देखो, कृष्ण का पीताम्बर पीत ध्वजा है जिससे कृष्ण के हृदय का राग प्रगट होता है और कुब्जा की लाल ध्वजा है जिससे व्यभिचार प्रगट हो रहा है; किन्तु कृष्ण को वह सब भी प्यारी लगती है। उन्हें यह ज्ञात नहीं है कि उनका प्रेम केवल मनोरंजन का विषय है और यहां इधर सब शीलवान हैं और प्रेम का अटल व्रत धारण करने वाले हैं। इतना सब होते हुए भी हे ऊधो, तुम हमारे प्रेम को स्वांग बनाते हो। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि उद्धव झूठी बातें बनाने में और लबारपन में

अपनी समता नहीं रखते। यदि ऐसा न होता तो वे इस प्रकार निर्दोष को त्याज्य और सदोष को ग्राह्य न बताते।

विशेष—प्रतिवस्तूपमा अलंकार है।

1966

ऊधो ! मन माने की बात।
जरत पतंग दीप में जैसे, औ फिरि फिरि लपटात॥
रहत चकोर पुहुमि पर, मधुकर ! ससि अकास भरमात।
ऐसो ध्यान धरो हरिजू पै छन इत उत नहिं जात॥
दादुर रहत सदा जल-भीतर कमलहिं नहिं नियरात।
काठ फोरि घर कियो मधुप तें बँधे अंबुज के पात॥
बरषा बरसत निसिदिन, ऊधो ! पुहुमि पूरि अघात।
स्वाति-बूँद के काज पपीहा छन छन रटत रहात॥
सेहि न खात अमृतफल भोजन तोमरि को ललचात।
सूरज कुस्न कुबरी रीझे गोपिन देखि लजात॥१४१॥

शब्दार्थ—पुहुमि—पृथ्वी। भरमात—घूमता है। अघात—तृप्त होता है। अमृतफल—मीठे फल। सेहि—साही पशु। तोमरि—तोमड़ी, लौकी।

व्याख्या—कुब्जा-कृष्ण प्रेम पर व्यंग्य करती हुई गोपियां उद्धव से कहती हैं कि यह तो अपने-अपने मन की बात है, किसी को कुछ अच्छा लगता है और किसी को कुछ। पतंगा दीपक में जल जाता है और वह यह जानकर भी उसी से लिपटता रहता है। हे मधुकर, चकोर पृथ्वी पर रहता है और उसका प्रियतम चन्द्र आकाश में विचरण करता है किन्तु तब भी वह अपलक नेत्रों से उसी के ध्यान में लगा रहता है। इसी प्रकार हमारा ध्यान कृष्ण की ओर रहता है, इधर-उधर नहीं जाता। देखो, मेंढक सदा पानी में रहता है पर वह कमल के पास तक कभी नहीं जाता। उधर भौंरे को देखिए, वह कमल का कितना प्रेमी होता है। वह अपने पैने दाँतों से लकड़ी तक को काट डालता है किन्तु कमल की कोमल पखुड़ियाँ उससे नहीं कटती और वह उनमें बंध जाता है। हे ऊधो, रात-दिन वर्षा होती है और उससे सारी पृथ्वी तृप्त हो जाती है पर पपीहा केवल स्वाति-नक्षत्र में बरसे हुए जल का ही प्रेमी होता है, वह उसी की रट लगाये रहता है। सेही नामक पशु मीठे फलों को छोड़कर कड़ुवी लौकी को पसन्द करता है। इसी प्रकार कृष्ण का कुब्जा से प्रेम है; वे गोपियों को देखकर लजाते हैं। अत: यह तो अपनी-अपनी रुचि की ही बात है।

विशेष—अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

ऊधो ! खरिऐ जरी हरि के सूलन की।
कुंज कलोल करे बन ही बन सुधि बिसरी या भूलन की॥
ब्रज हम दौरि अंक भरि लीन्हो देखि छाँह नव मूलन की।
अब वह प्रीति कहाँ लौं बरनौं या जमुना के कूलन की॥

वह छवि छाकि रहे दोउ लोचन बहियाँ गहि बन झूलन की।
खटकति है वह सूर हिये मों माल दई मोहि फूलन की ॥१४२॥

शब्दार्थ—छाकि रहे—मग्न। दोंक—अंक, गोद। खटकति है—कसकती है।

व्याख्या—राधा उद्धव से कहती है कि जब गोपाल ब्रज में थे तो उनसे जितना प्रेम करते थे कि उसकी सुध आते ही ये आज भी मन्दमन्द व्यथित हो उठती हैं। वे कहती है कि हे ऊधो, कृष्ण जी के प्रेम की व्यथा बहुत दारुण है। कहाँ तो वह प्रेम और कहाँ आज का यह रूखा सन्देसा! जब यमुना कूल के कुंजों में वे हमारे साथ रंगरेलियाँ किया करते थे क्या वह याद उन्हें अब न आती होगी। ब्रज में रहते हुए नये पेड़ों की छाँह में वे हमें अंक में भर लेते थे। यमुना के किनारे कृष्ण द्वारा प्रकट की गई प्रीति का वर्णन हम भला कैसे कर सकती है? वे हमारी बाँहें पकड़कर वन में झूलते थे। वह अद्भुत शोभा आज भी हमारे नयनों को तृप्त कर रही है। सूर कहते हैं कि राधा ने व्यथित होकर कहा कि उन्होंने जो अपने हाथों मेरे वक्षस्थल पर माला भेंट की थी उसकी याद तो हृदय में एक कसक उठा देती है।

विशेष—'सुधि बिसरी वा झूलन की' विचारणीय है। इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि उसे भूलने की वृत्ति ही भूल गई अर्थात् वह भूलता ही नहीं।

मधुकर! हम न होहिं वे बेली।
जिनको तुम तजि भजत प्रीति बिनु करत कुसुमरस-केली॥
बारे तें बलबीर बढ़ाई पोसी प्याई पानी।
बिन पिय-परस प्रात उठि फूलत होत सदा हित-हानी॥
ये बल्ली बिहरत बृंदावन अरुझी स्याम-तमालहिं।
प्रेमपुष्प-रस-बास हमारे बिलसत मधुप गोपालहिं॥
जोग-समीर धीर नहिं डोलत, रूपडार-ढिग लागी।
सूर पराग न तजत हिये तें कमल-नयन-अनुरागी॥१४३॥

शब्दार्थ—बारे तें—लड़कपन से। बलबीर—बलराम के भाई अर्थात् कृष्ण।

व्याख्या—अपने प्रेम की दृढ़ता का वर्णन करती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि हे मधुकर, हम वे बेल नहीं हैं जिन्हें तुम बिना प्रेम के ही अपनाते और त्यागते रहते हो। उनके कुसुमों के मधु को लेकर खिलवाड़ करते हो। हम तो वे बेल हैं जिन्हें कृष्ण ने बाल्यकाल से ही अपना स्नेह-जल देकर पाला-पोसा है। प्रातःकाल उठकर यदि प्रियतम का स्पर्श न मिला तो विकसित होते हुए भी अपनी हित-हानि समझने वाली हैं। ऐसी ये लताएं वन में विहार करती हुई कृष्ण से उलझ चुकी हैं। हमारे प्रेम-रूपी फूलों का रस तथा सुगंध तो केवल मधुप-रूपी गोपाल के ही उपयोग तथा प्रसन्नता के लिए है। हमारे पुष्प दूसरों के लिए नहीं हैं। कृष्ण के रूप-रूपी डाल के निकट लगी हुई अर्थात् उनका आधार पायी हुई ये बेलें इतनी दृढ़ हैं कि योग की हवा भी इन्हें हिला-डुला नहीं सकती। भाव यह है कि कृष्ण का प्रभाव गोपियों पर इतना अधिक है कि

योग का प्रभाव उन पर नहीं पड़ सकता। इसीलिए सूर कहते हैं कि गोपिकाओं ने कहा कि हमारे हृदय इतने दृढ़ हैं कि उनका पराग झड़ नहीं सकता और दूसरा कोई उसका उपभोग भी नहीं कर सकता। ये सतायें तो केवल पुण्डरीकाक्ष से ही प्रेम करेंगी, और किसी से नहीं।

विशेष—सागरूपक और अन्योक्ति अलकार है।

मधुकर ! स्याम हमारे ईस।
जिनको ध्यान धरे उर-अंतर आनहिं नए न उन बिन सीस॥
जोगिन जाय जोग उपदेसी जिनके मन दस बीस।
एकै मन, एकै वह मूरति, नित बितवत दिन तीस॥
काहे निर्गुन-ज्ञान आपुनो जित तित डारत खीस।
सूरज प्रभु नंदनंदन हैं उनतें को जगदीस? ॥१४४॥

शब्दार्थ—डारत खीस—नष्ट कर डालना। नए—भुके। उनतें—उनसे बढ़कर।

व्याख्या—गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि श्री कृष्ण हमारे भगवान् हैं जिनका ध्यान हम अपने हृदय के अन्दर करती हैं। उनके अतिरिक्त और किसी के सामने हमने कभी सिर नहीं भुकाया। तुम अपना यह योग योगियो को जाकर सुनाओ, उनके शायद दस-बीस मन होंगे। किसी एक मन में योग भी पड़ा रहेगा। यहाँ तो एक ही मन है और वह भी तीसों दिन अर्थात् सदैव उसी एक ही मूर्ति में लगा रहता है। अतः तुम अपने निर्गुण उपदेश को इधर-उधर बिखेर कर क्यों नष्ट करते फिरते हो? सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि प्रभुवर नन्दनन्दन से बढ़कर और कौन जगदीश्वर कहला सकता है? उस जगदीश्वर को हम प्राप्त कर चुकी हैं तो फिर हमें प्राप्त करने को शेष ही क्या रहा?

विशेष—योग को ग्रहण करने की गोपियों की असमर्थता तर्कसंगत है।

मधुकर ! तुम हौ स्याम-सखाई।
पा लागों यह दोष बकसियो संमुख करत ढिठाई॥
कौने रंक संपदा बिलसी सोवत सपने पाई?
किन सोने की उड़त चिरैया डोरी बाँधि खिलाई?
धाम धुआँ के कहौ कौन के, बैठो कहाँ अथाई?
किन अकास तें तोरि तरैयाँ आनि धरी घर, माई!
बौरन की माला गुहि कौने अपने करन बनाई?
बिन जल नाव चलत किन देखी, उतरि पार को जाई?
कौने कमलनयन ब्रत बीड़ो जोरि समाधि लगाई?
सूरदास तू फिरि फिरि आवत यामें कौन बड़ाई? ॥१४५॥

शब्दार्थ—अथाई—बैठक, चौपारा। बीड़ो जोरि—बीड़ा उठाकर, प्रतिज्ञा

करके । बकसियो—क्षमा करना । बौर—मंजरी ।

व्याख्या—योग की निरर्थकता बताती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि हे मधुकर, आप तो कृष्ण के सखा हैं । हमें आपका आदर श्यामवत् ही करना चाहिये । अतः आपके उपदेशों पर हम जो कुछ टीका-टिप्पणी कर रही हैं उसके लिए आप हमें क्षमा करें । यह हमारी ढिठाई है । कृपया आप हमें बतायें कि किस फकीर ने स्वप्न में प्राप्त हुई धन-सम्पत्ति को भोगा है ? क्या कभी कोई सोने की चिड़िया को अपनी डोरी से बाँध कर उससे खेल सका है ? आकाश में उड़ते हुए धुओं के घर में क्या कभी कोई अपनी बैठक बना सका है ? आकाश से तारे तोड़कर पृथ्वी पर ले आना क्या किसी के वश की बात है ? क्या बौर की माला कभी किसी ने अपने हाथ से गूँथी है ? क्या कभी किसी ने बिना पानी के नाव चलते देखी है और उस नाव पर बैठकर क्या कभी कोई पार गया है ? इसी प्रकार कृष्ण से दृढ़ प्रेम की प्रतिज्ञा करके फिर किसकी मजाल है जो समाधि लगा सके । सूर कहते हैं कि गोपियों ने उद्धव से कहा कि जब आप जानते हैं कि यह असम्भव है तो फिर बार-बार उसी उपदेश को सुनाना कौनसी बुद्धिमत्ता है । अतः तुम जाओ और अपना काम देखो ।

विशेष—निदर्शना अलंकार है ।

मधुकर ! मन तो एकै आहि ।
सो तो लै हरि संग सिधारे जोग सिखावत काहि ?
रे सठ, कुटिल-बचन, रसलंपट ! अबलन तन धौं चाहि ।
अब काहे को देत लोन हो बिरह अनल तन दाहि ॥
परमारथ उपचार करत हो, बिरह ब्यथा नहिं जाहि ।
जाको राजदोष कफ ब्यापै, दही खवावत ताहि ॥
सुन्दरस्याम-सलोनो-मूरति पूरि रही हिय माहि ।
सूर ताहि, तजि निर्गुन-सिंधुहि कौन सकै अवगाहि ? ॥४६॥

शब्दार्थ—चाहि—तू देख । तन—ओर । धौं—तो । परमारथ—परमार्थ-रूपी औषधि । राजदोष—प्रबल रोग यक्ष्मा ।

व्याख्या—योग की अनुपयुक्तता बताती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि अरे भौंरे, तनिक विचार तो करो, मन कोई दस-बीस थोड़े ही हैं, वह तो एक ही है और उसे भी कृष्ण अपने साथ ले गये हैं, फिर आप यह योग की शिक्षा किसे दे रहे हो ? अरे सठ, बेतुकी बातें करने वाले रस-लोभी, तनिक स्त्रियों की दशा देखकर बातें करो । विरह की अग्नि में शरीर को जलाकर बार-बार जले पर क्यों नमक छिड़कते हो ? अध्यात्मवाद का उपदेश देकर परमार्थ-सिद्धि का मार्ग बताने से हमारी विरह-व्यथा नहीं मिट सकती । जिसे कफ अधिक बढ़ गया हो, जिसे सन्निपात हो गया हो उसे दही खिलाने से वह मरेगा या बचेगा । सूर कहते हैं कि गोपियों ने उद्धव से कहा कि जब हृदय में सुन्दर सलौनी श्याम की मूर्ति व्याप्त हो तो उसे छोड़कर निर्गुण के अथाह

सागर का अवगाहन कौन कर सकता है ? भाव यह कि आपका यह निर्गुण का उपदेश हमारे लिए सर्वथा निरर्थक है।

विशेष—निदर्शना अलंकार है।

मधुकर ! छाँड़ु अटपटी बातें।
फिरि फिरि बार बार सोई सिखवत हम दुख पावति जातें॥
अनुदिन देति असीस प्रात उठि, अरु सुख सोवत न्हातें।
तुम निसिदिन उर अंतर सोचत ब्रजजुवतिन को घातें॥
पुनि पुनि तुम्हें कहत क्यों आवै, कछु जाने यहि नाते।
सूरदास जो रँगी स्यामरँग फिरि न चढ़त अब राते॥१४७॥

शब्दार्थ—नाते—इसी सम्बन्ध से। राते—लाल। अनुदिन—प्रतिदिन।

व्याख्या—अपनी बातें बन्द करने को कहती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती है कि अरे मधुकर, अपनी इन बेढंगी बातो को बन्द कर दो। तुम बार-बार हमे वही शिक्षा देते हो जिससे हमे दुःख मिलता है। हम तो प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर तथा प्रतिदिन स्नान करते, शयन करते सभी समय तुम्हें शुभ आशीर्वाद दिया करती हैं परन्तु तुम रात-दिन अपने मन में इन ब्रजललनाओं के लिए नये-नये दाव-पेंच सोचते रहते हो। तुम न जाने बार-बार उसी बात को कैसे कह देते हो। तुम इसी सम्बन्ध से ही कुछ जान लेते तो अच्छा था। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हम कृष्ण के श्याम रंग में रंगी हुई हैं, हम पर लाल रंग चढ़ना नितान्त असंभव है।

विशेष—अन्तिम पंक्ति मे रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

मधुप ! रावरी पहिचानि।
बास रस लै अनत बैठे पुहुप को तजि कानि॥
बाटिका बहु बिपिन जाके एक जौ कुम्हिलानि।
फूल फूले सघन कानन कौन तिनकी हानि ?
कामपावक जरति छाती लोन लाए आनि।
जोग-पाती हाथ दीन्ही विष चढ़ायो सानि॥
सीस तें मनि हरि जिनके कौन तिनमें बानि।
सूर के प्रभु निरखि हिरदय ब्रज तज्यो यह जानि॥१४८॥

शब्दार्थ—बानि—आभा। रावरी—आपकी। अनत—अन्यत्र। कानि—मर्यादा।

व्याख्या—गोपियाँ भौंरे पर अन्योक्ति करती हुई ऊधो से कहती हैं कि हे भौंरे, तुम्हारा प्रेम हमारे प्रेम से भिन्न है। तुम जो पुष्पों से प्रेम करते हो, उसमे पुष्पों की मर्यादा नही है। तुम एक पुष्प की गंध और उसके मधु का स्वाद चख कर फिर दूसरे पर जा बैठते हो और दूसरे से फिर तीसरे पर। तुम्हारे लिए यह बंधन नही है कि एक

के नीरस होने के पश्चात् तुम्हें वियोग सतावे क्योंकि तुम्हारे लिए उस जैसे न जाने कितने हैं। वन में अनेक सघन पुष्प विकसित रहते हैं, तुम किसी पर भी जाकर बैठ सकते हो। परन्तु इधर हमारा आधार एक ही है और वह भी हमें प्राप्त नहीं है। अतः हमारा हृदय कामानल से संतप्त कैसे न होगा ? तुमने यहां आकर सान्त्वना देने के स्थान पर और जले हुए हृदय पर नमक छिड़का है। इस योग का सन्देश हमारे हाथ में देकर तुमने हमारे शरीर में और भी विष चढ़ा दिया है। जिनके सिर से मणि छिन गई हो उनमें भला कान्ति कहा से आ सकती है ? संभवतः इसी कान्ति-हीनता को अपने हृदय मे विचार कर सूर के प्रभु नंदनंदन ब्रज को त्याग कर चले गये हैं।

विशेष—भौंरे की कपट से युक्त प्रीति का वर्णन महादेवी वर्मा ने भी अपने निम्न पद मे बहुत सुन्दर ढंग से किया है—

पथ में नित स्वर्ण पराग बिछा,
तुझे देख जो फूली समाती नहीं।
पलकों से दलों में घुला मकरंद,
पिलाती कभी अनखाती नहीं।
किरणों में गुंथी मुक्तावलियां,
पहनाती रही सकुचाती नहीं।
अब भूल गुलाब में पंकज की,
अलि कैसे तुझे सुधि आती नहीं॥

मधुकर ! स्याम हमारे चोर।
मन हरि लियो माधुरी मुरति चितै नयन की कोर॥
पकरयो तेहि हिरदय उर-अंतर प्रेम-प्रीति के जोर।
गए छँडाय छोरि सब बंधन दै गए हँसनि अँकोर॥
सोवत तें हम उचकि परी हैं दूत मिल्यो मोहि भोर।
सूर स्याम मुसकानि मेरो सर्वस लै गए नंदकिसोर॥१४९॥

शब्दार्थ—अंकोर—भेंट। दै गए—दिये हुए गये। कोर—कटाक्ष।

व्याख्या—कृष्ण के रूप माधुर्य का वर्णन करती हुई गोपियां उद्धव से कहती हैं कि हे मधुकर, श्याम हमारे चोर हैं। उन्होंने हमें अपनी मधुर मूर्ति की झलक दिखाकर और नयनों के कटाक्ष द्वारा हमारा मन हर लिया है। हमने उनको अपने हृदय में प्रेम और प्रीति के बंधनों से बांध कर रखा था परन्तु वे सब बन्धन छुड़ाकर अपने बदले और प्रत्युपहार स्वरूप अपना मन्दहास दे गये। रात भर उसी मधुर मुस्कान के चक्कर में फंसी रहीं और प्रातःकाल ये दूत महाशय मिल गये। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कृष्ण के दूत ऊधो से कहा कि देखो, नंदकिशोर मुस्कान द्वारा हमारा सर्वस्व हर ले गये हैं।

विशेष—कृष्ण की मधुर मुस्कान ने गोपियों का सर्वस्व हर लिया। कितनी शक्ति थी उस मधुर मुस्कान में !

मधुकर ! समुझि कहौ मुख बात ।
हौ मद पिए मत्त, नहिं सूझत, काहे को इतरात ?
बीच जो परै सत्य सो भाखै, बोलै सत्य स्वरूप ।
मुख देखत को न्याव न कीजै, कहा रंक कहं भूप ॥
कछु कहत कछुए मुख निकसत, परनिंदक व्यभिचारी ।
व्रजजुवतिन को जोग सिखावत कीरति ग्रानि पसारी ॥
हम जान्यो सो भँवर रस भोगी जोगी-जुगुति कहँ पाई ?
परम गुरु सिर मूँडि बापुरे करमुख छार लगाई ॥
यहै अनीति विधाता कीन्हीं तोऊ समुझत नाहीं ।
जो कोउ परहित कूप खनावै परै सो कूपहि माहीं ॥
सूर सो वे प्रभु अंतर्यामी कासों कहौं पुकारो ?
तब अक्रूर अबै इन ऊधो दुहूँ मिलि छाती जारी ॥१५०॥

शब्दार्थ—करमुख—काले मुख वाला । बापुरे—वेचारे । छार—धूल ।

व्याख्या—योग के उपदेश को अपने लिए अनुपयुक्त समझती हुई गोपिया उद्धव से कहती हैं कि हे मधुकर, तनिक सोच-समझकर मुख से बात निकाला करो । तुमने तो नशा पी रखा है और मतवाले हो रहे हो । इसलिए तुम्हे कुछ नही सूझ रहा है । तुम व्यर्थ मे क्यो इतराते हो ? तुम्हे यह ज्ञात होना चाहिये कि जो मध्यस्थ होता है, सत्य बोलना उसका कर्त्तव्य होता है । चाहे राजा हो अथवा रंक, मध्यस्थ को मुख देखकर न्याय नही करना चाहिये । परन्तु तुम्हारा हाल कुछ अजीब ही दिखाई पडता है । कहना चाहते हो कुछ और मुख से निकलता है कुछ । तुमने परनिन्दा की है अतः तुम दोषी ही हो । व्रज की युवतियों को योग की शिक्षा देकर तुमने अच्छी कीर्ति कमाई है । हम भौंरे को खूब जानती है । वह तो बडा रसिया है, उसे ये योग की नीरस युक्तिया कहा से मिल गई । उसके रसिक होने के कारण ही परम गुरु विधाता ने उसका सिर मुँडवाकर राख पोतकर मुख काला कर दिया है । विधाता ने तो इतना कर दिया किन्तु तब भी उसकी आँखें न खुली । वस्तुतः जो दूसरों के लिये कुआँ खोदता है वह स्वयं ही उसी मे गिर पड़ता है । दूसरे की बुराई करने वाले के हाथ स्वयं बुराई लगती है । सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हमारे कृष्ण तो अंतर्यामी हैं, वे हमारी व्यथा को जानते हैं । फिर भी ऐसे दूतों को भेजकर हमें जो दुःख दिया है उसे हम ही जानती हैं । अक्रूर ने कृष्ण को मथुरा ले जाकर और अब इन ऊधो ने योग का सन्देश देकर हमे जो पीड़ा दी है, इस प्रकार दोनो ने हमारे हृदय को बहुत जलाया है ।

विशेष—वस्तुतः जो दूसरो के लिए गढा खोदता है वह उसमे स्वय ही गिर पड़ता है । कहा भी है—

खाड़ खनै जो और को ताको कूप तैयार ।

मधुकर ! हम जो, कहौ, करें ।
पठयो है गोपाल कृपा कै आयसु तें न टरें ॥
रसना वारि फेरि नव खंड कै, दै निर्गुन के साथ।
इतनी तनक विलग जनि मानहु, अँखियाँ नाहीं हाथ ॥
सेवा कठिन, अपूरब दरसन कहत अबहुँ मैं फेरि।
कहियो जाय सूर के प्रभु सों केरा पास ज्यों बेरि ॥१२१॥

शब्दार्थ—केरा—केला । बेरि—बेर । आयसु—आदेश । वारि—बलिदान करके ।

व्याख्या—अपने नेत्रों की असमर्थता का प्रगटीकरण करती हुई कोई गोपी ऊधो से कहती है कि हे मधुकर, तुम जो कुछ कहो हम करने को तैयार हैं । गोपाल ने कृपा करके जब हमारे लिए यह निर्गुणोपासना भेजी है तो मैं भी उनकी आज्ञापालन करने को तैयार हूँ । मैं अपनी इस रसना के, जो दिन-रात श्याम-श्याम रटती रहती है, काट कर नौ टुकड़े करके निर्गुण के हाथ सौंप दूँगी । परन्तु देखो, तुम बुरा मत मानो, ये हमारे नेत्र हमारे काबू से बाहर हैं । तुम्हारी बताई हुई आराधना इनके लिए बहुत कठोर है। उसमें जिस ज्योति का तुम दर्शन बतलाते हो वह भी बड़ी अजीब है। अतः मैं तुमसे फिर कहती हूँ कि सूर के प्रभु श्याम से जाकर कह देना कि तुम्हारा योग हमारे लिए इतना दुःखदायी है जैसे केले को बेर की निकटता दुःखदायी होती है ।

विशेष—(i) लुप्तोपमा अलंकार है ।

(ii) कबीर ने भी केले और बेर का बैर निम्न प्रकार से प्रगट किया है—

(अ) कहै कबीर कैसे निभै केर बेर को संग।
वे डोलत रस आपने उनके फाटत अंग ॥

(ब) केरा तबहिं न चेतिया जब ढिग लागी बेर।
अबके चेते क्या भया कांटन लीन्हों घेर ॥

मधुकर ! तौ औरनि सिख देहु ।
जानौगे जब लागैगो, हो, खरो कठिन है नेहु ॥
मन जो तिहारो हरिचरनन-तर, तन धरि गोकुल आयो ।
कमलनयन के संग तें बिछुरे कहु कौने सचु पायो ?
ह्वाँई रहौ जाहु जनि मथुरा, झूठो माया-मोहु ।
गोपी सूर कहत ऊधो सों हमहीं से तुम होहु ॥१२२॥

शब्दार्थ—सिख—शिक्षा । तर—नीचे । सचु—सुख । नेहु—स्नेह ।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे मधुकर, तुम दूसरों को योग की शिक्षा देने से पूर्व प्रेम की गम्भीरता पर विचार कर लो । जब तुम्हारे लगेगी तभी तुम इसके मर्म को समझ सकोगे । तभी ज्ञात होगा कि स्नेह का घाव बड़ा कठिन होता है ।

तुम भी इस बात को समझते तो हो किन्तु समझते हुए भी नासमझी दिखा रहे हो। तुम्हारा मन अब भी श्री कृष्ण के चरणों में विद्यमान है। केवल शरीर मात्र से ही गोकुल में आये हो। सच-सच तुम्हीं बताओ कि कमलनयन श्री कृष्ण से बिछुड़कर किसने सुख पाया है ? यदि तुम भी उसी मार्ग पर आरूढ़ नहीं हो जिस पर हम हैं और तुम अपने कहने के अनुसार इस संसार के माया-मोह को वास्तव में मिथ्या समझते हो तो देखें भला कि तुम अब यहीं रहो, मथुरा कभी मत जाना और हमारी भांति तुम भी कृष्ण-वियोगी बन जाओ। यदि तुम ऐसा नहीं कर सकते तो फिर तुम्हारे लिए तो यही बात सही होगी कि 'खुद मियाँ फजीहत, दीगरे मियाँ नसीहत'।

विशेष—तुलसी ने भी एक स्थान पर इसी बात की पुष्टि की है—

पर उपदेश कुशल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे॥

मधुकर ! जानत नाहिंन बात।
फूँकि फूँकि हियरा सुलगावत उठि न यहाँ तें जात॥
जो उर बसत जसोदानंदन निर्गुन कहाँ समात ?
कत भटकत डोलत कुसुमन को तुम हौ पातन पात ?
जदपि सकल बल्ली बन बिहरत जाय बसत जलजात।
सूरदास ब्रज मिले बनि आवै ? दासी की कुसलात॥१५३॥

शब्दार्थ—हियरा—हृदय। समात—स्थान पाना। जलजात—कमल।

व्याख्या—गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि हे मधुकर, तुम वास्तविक बात तो जानते नहीं। बार-बार उल्टी-सीधी बातें करके हमारे हृदय को जला रहे हो। इससे तो अच्छा यह होता कि तुम अपना मार्ग नापो। तुम समझ सकते हो जिस हृदय में यशोदा-नन्दन कृष्ण का निवास है उसमें निर्गुण स्थान कहाँ पा सकता है ? तुम स्वय भी ऐसा नहीं कर सकते। यदि हमारा यह कथन गलत है तो फिर तुम ही वन-वन के फूल और पत्तियों में भटककर उन्हें परित्याग करके सब वल्लियों से विहार करके अन्त में कमल की पखुड़ियों में आश्रय क्यों लेते हो ? सूर कहते हैं कि गोपियों ने उद्धव से कहा कि तुम सब जानते हुए भी यह जो निर्गुण को ग्रहण करने का आग्रह कर रहे हो, इसका कारण हम समझ गई हैं। यदि कृष्ण हमारी व्यथा से द्रवित होकर ब्रज आ गये तो कुबरी महारानी की कुशलता कैसे बनी रह सकेगी ? उसी की कुशलता बनाये रखने के हेतु यह सब प्रपंच रचा जा रहा है।

विशेष—'खुद मियाँ फजीहत, दीगरे मियाँ नसीहत' वाली उक्ति उद्धव पर पूर्णतः लागू है।

तिहारी प्रीति किधौं तरवारि ?
दृष्टि धार करि मारि साँवरे घायल सब ब्रज नारि॥

रहीं सुखेत ठौर बृंदावन, रनहु न मानति हारि।
बिलपति रहीं सँभारत छन-छन बदन-सुधाकर-बारि॥
सुंदरस्याम-मनोहर-मूरति रहिहौं छबिहि निहारि।
रंचक सेष रहीं सूरज प्रभु अब जनि डारो मारि॥१५४॥

शब्दार्थ—सुखेत—रणक्षेत्र। ठौर—स्थान। तरवारि—तलवार। रंच—थोड़ी।

व्याख्या—विरह-व्यथा की असह्यता का वर्णन करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे कृष्ण, *तुम्हारा प्रेम प्रेम है या तलवार है! हे स्याम, तुम्हारी उस तलवार की कटाक्ष* रूपी तीव्र धार से सभी ब्रजांगनायें घायल हो रही हैं। यद्यपि वे वृन्दावन धर्मक्षेत्र में हार गई हैं किन्तु वे तब भी हार नहीं मानती हैं। वे क्षत-विक्षत होकर पुण्य रणक्षेत्र में रोती और चिल्लाती रहीं और तुम्हारे चन्द्रमुख के शोभा-जल को पी-पीकर अपने जीवन की रक्षा करती रहीं। सूर कहते हैं कि गोपियों ने अन्त में कहा कि हम इस अवस्था में भी *उस सुन्दर स्याम की मनोहारी मूर्ति की शोभा को देखकर सदैव जीती रहेंगी।* अब तो बहुत गई थोड़ी रही। अब तुम हमें इसी प्रकार जीवित रहने दो, बिल्कुल मार न डालो।

विशेष— यही हैं राज़े हकीकत से आशना 'नश्तर'
जो राहे-इश्क में हस्ती मिटाये जाते हैं।

मधुकर! कौन मनायो मानै?
अविनासी अति अगम अगोचर कहा प्रीति-रस जानै?
सिखवहु ताहि समाधि की बातें जैहैं लोग सयाने।
हम अपने ब्रज ऐसेहि बसिहैं बिरह-बाय-बौराने॥
सोवत जागत सपने सौंतुख रहिहैं सो पति माने।
बालकुमार किसोर को लीलासिंधु सो तामें साने॥
परयो जो पयनिधि बूँद अलप सो को जो अब पहिचाने?
जाके तन धन प्रान सूर हरिमुख-मुसुकानि बिकाने॥१५५॥

शब्दार्थ—सौंतुख—सामने। अलप—थोड़ा। बाय—वात, विकार। पयनिधि—समुद्र।

व्याख्या—उद्धव द्वारा निर्गुण का उपदेश सुनकर गोपियाँ कहती हैं कि हे मधुकर, तुम्हारे कथन को मनाने पर भी कौन मानने को तैयार हो सकता है? वह तुम्हारा अविनाशी, अत्यन्त अगम्य तथा अप्रत्यक्ष निर्गुण प्रेम-रस को कैसे पहचान सकता है? हमें तुम्हारी बातें बिल्कुल नहीं जँचती। तुम अपनी समाधि की बातें उन्हें सिखाओ जो ज्ञानी हैं। हमें तो तुम अपने ब्रज में कृष्ण-विरह में उन्मत्त जीवन ही व्यतीत ... । हम तो सोते-जागते स्वप्न में या प्रत्यक्ष में सभी दशाओं में कृष्ण को ही पति ... रही हैं और रहेंगी। हम तो बालक श्री कृष्ण के लीला-सागर में अभिन्न होकर

ऐसी सन रही हैं कि हमारी कोई पृथक् सत्ता ही नही है। समुद्र मे पड़ी हुई छोटी-सी बूंद को भला कैसे अलग किया जा सकता है ? ठीक इसी प्रकार हम भी उस लीलाधर की अभिन्न अग बन गई हैं, इससे पृथक् हमारी कोई सत्ता नही है। सूर कहते हैं कि गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हमारे तन-मन-धन सब हरि की मधुर-मुसकान के हाथ बिक गये हैं।

विशेष—(i) यो हो मन मेरो काम को न रह्यो माई,
स्याम रग ह्वै करि समान्यो स्याम रँग में। (देव)

(ii) हेरत हेरत हे सखी हेरत गया हेराय।
बूँद समानी समंद में सो कित हेरी जाय॥ (कबीर)

मधुकर ! ये मन बिगरि परे।
समुभत नाहिं ज्ञानगीता को हरि-मुसुकानि अरे॥
बालमुकुंद-रूप रसराचे तातें बक्र खरे।
होय न सूधो स्वान पूँछि ज्यों कोटिक जतन करे॥
हरि-पद-नलिन बिसारत नाहीं सीतल उर संचरे।
जोग गभीर है अंधकूप तेहि देखत दूरि डरे॥
हरि-अनुराग सुहागभाग भरे अमिय तें गरल गरे।
सूरदास बस ऐसेहि रहि हैं कान्ह बियोग-भरे॥१२६॥

शब्दार्थ—गभीर—गहरा। अरे—अड़ गये हैं। राचे—अनुरक्त। बक्र—टेढ़े।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे मधुकर, हमारे मन बड़े बिगड़े हुए हैं। गीता का कर्मयोग अथवा ज्ञानयोग इनकी समझ से बाहर है। ये तो कृष्ण की मुस्कान के लिए सदा मचलते रहते हैं। इन्हें पहले से ही कृष्ण की रूप-माधुरी मिलती रही है, इसीलिए ये नीरस निर्गुण की बात सुनकर अब टेढ़े खड़े हैं। अब इन्हें सुधारने का प्रयत्न व्यर्थ है। करोड़ों उपाय करने पर भी कुत्ते की पूँछ सीधी नहीं होती। इसी प्रकार अनेक प्रकार के हानि-लाभ दिखाने पर भी ये हरि के कमल-चरणों को नहीं भूलते। तुम्हारा योग तो इन्हें अन्धे कुएँ की भाँति डरावना लगता है। इसे देखकर तो ये दूर से ही भाग खड़े होते हैं। आज दिन तक ये हरि के प्रेम-सौभाग्य से भरे रहे। आज योग सुनकर उन्हें ऐसा प्रतीत हो रहा है कि जैसे कोई उन्हें अमृत से निकाल कर जहर में गलाने जा रहा हो। सूर कहते है कि गोपियों ने उद्धव से कहा कि हमें तुम कृष्ण के वियोग से व्यथित ऐसे ही रहने दो, निर्गुण की आराधना हमें बिल्कुल नहीं भाती।

विशेष—(i) जिन्दगानी जिसको कहते हैं जहाने इश्क में।
सर से लेकर पाँव तक वह दर्द बन जाने में है॥

(ii) निदर्शना, उत्प्रेक्षा और रूपक अलंकार है।

मधुकर ! जो तुम हित हमारे ।
तौ या भजन सुधानिधि में जनि डारौ जोग-जल खारे ॥
सुत सठ रीति, सुरभि पयदायक क्यों न लेत हल फारे ?
जो भयभीत होत रजु देखत क्यों बढ़वत अहि कारे ॥
निजकृत बूझि, बिना दसनन हति तजत धाम नहिं हारे ।
सो बल अछत निसा पंकज में दल-कपाट नहिं टारे ॥
रे अलि, चपल मोदरस-लंपट ! कतहिं बकत बिन काज ?
सूर स्याम-छबि क्यों बिसरत है नखसिख अंग बिराज ?॥१५७॥

शब्दार्थ—पयदायक—दूध देने वाली । हल फारे—हल और फाल । रजु—रस्सी । अछत—अच्छे रहते ।

व्याख्या—गोपियां उद्धव से कहती हैं कि हे मधुकर, यदि तुम वास्तव में हमा हितैषी हो, तो तुम हमारी सगुण-भक्ति के अमृत-सागर में योग का सारा जल म डालो । अरे धूर्त ! कभी दूध देने वाली गाय को हल में जोतना कोई अच्छी रीति कही ज सकती है ? जो केवल रस्सी को देखकर डरती है उसके सामने काला सर्प फेंकना क अच्छा है ? हे भौंरे, तू तनिक अपने कार्यों पर दृष्टि डाल । तू तो बिना काटे छत्तें को भी छोड़ कर नहीं जाता । किंतु जब तू रात्रि को कमल के संपुट में बन्द हो जाता है तब तेरा बल कहां चला जाता है ? तू उस दल से कमल को क्यों नहीं छेदता ? इसलिए हे भ्रमर, तू तो मोह-रस का लोभी है. तू व्यर्थ बकवास करता है। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि जिस श्याम-सुन्दर की कमनीय शोभा ने हमारे अंग-अंग में घर कर लिया है, क्या हम उसे भूल सकती हैं ?

विशेष—दारुभेद निपुणोऽपि षडङ्घ्रिर्निष्क्रियो भवति पङ्कज कोशनिबद्ध ।

मधुकर ! कौन गाँव की रीति ?
ब्रज जुवतिन को जोग-कथा तुम कहत सबै विपरीति ॥
जा सिर फूल फुलेल मेलि कै हरि-कर ग्रंथैं छोरी ।
ता सिर भसम, मसान की सेवन, जटा करत आघोरी ॥
रतन जटित ताटंक बिराजत अरु कमलन की जोति ।
तिन स्रवनन पहिरावत मुद्रा तोहिं दया नहिं होति ॥
बेसरि नाक, कंठमनिमाला, मुखनि सार घनसार ।
तिन मुख सिंगी कहौ बजावन, भोजन आक, धतूर ॥
जा तन को मृगमद घसि चंदन सूछम पट पहिराए ।
ता तन को रचि चीर पुरातन दै रज गात चढ़ाए ॥
वे अबिनासी अंत धरैंगो यहि बिधि जोग सिखाए ।
कहँ भोग भरपूर सूर तन, जोग करै अब पाए ॥१५८॥

शब्दार्थ—फुलेल—सुगन्धित तेल । ग्रंथैं—गांठ । आघोरी—[illegible] । ताटंक—

कान का गहना। सार—घनसार, कपूर। ग्रसवास—सुगन्धित सांस। ग्राक—ग्रर्क, मदार।

व्याख्या—निर्गुणोपासना और योगसाधना को अपने लिए प्रतिकूल समझती हुई गोपियां ऊधो से प्रश्न करती हैं कि हे मधुकर, यह कौन गाव की रीति है कि तुम यह बिल्कुल उल्टा ढंग कर रहे हो कि जो ब्रजयुवतियों के लिए योग का उपदेश दे रहे हो। तुम तनिक सोचो तो, जिस शरीर में तेल और फुलेल लगाकर श्री कृष्ण ने अपने हाथों से पटिया गूँथी है और छोरी हैं उसी सिर मे श्मशान मे रहकर भस्म लगाकर भारी-भारी जटायें बाधने के लिए तुम कहते हो। जिन कानों में हमने रत्नजटित कमल जैसे चमकने वाले कर्णफूल पहने हैं उन्हीं कानों में कनफटे योगियों की मुद्रायें पहनाने मे तुम्हे दया नही ग्राती। जिनकी नाक मे नथ, गले मे मणि की मालायें तथा मुखों मे कपूर का सौरभ सुशोभित होता था उन्ही के मुखो मे तुम सिंगी बजाने तथा मदार और ढाक के पत्तो का भोजन करने की बात कह रहे हो। जिस शरीर पर हमने कस्तूरी और चन्दन का लेप करके बारीक कपडे पहने हैं उसी शरीर के लिए श्री कृष्ण ने पुराने चियड़े भेजे हैं। हमारे श्री कृष्ण ग्रविनाशी हैं। यदि इस प्रकार वे हमे योग की शिक्षा दिलायेंगे तो उनके ज्ञान की महत्ता मिट जायेगी। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि इतने पर भी यदि ग्राप नही मानते हैं तो जाग्रो श्री कृष्ण से कह देना कि मथुरा में वे जब तक रहे तब तक भोग कर लें फिर ब्रज मे ग्राकर योग-साधना कर लेंगे। साराश यह कि हम भी उसी समय उनके साथ ही योगसाधना कर लेंगी।

विशेष—ज्ञान की महत्ता वस्तुतः इसी मे है कि ज्ञानोपदेशक पात्रापात्र को देख-कर ही ज्ञान की शिक्षा दे।

मधुकर! ये नयना पै हारे।
निरखि निरखि मग कमलनयन को प्रेममगन भए भारे॥
ता दिन तें नींदौ पुनि नासी, चौंकि परत ग्रधिकारे।
सपन तुरी जागत पुनि सोई जो हैं हृदय हमारे॥
यह निर्गुन लै ताहि बतावो जो जानै याके सारे।
सूरदास गोपाल छाँडि कै चूसैं टेटी खारे॥१५६॥

शब्दार्थ—तुरी—तुरीयावस्था। टेटी—करील का फल। ग्रधिकारे—ग्रधिक। सारे—तत्त्व। खारे—कड़वे।

व्याख्या—गोपियां उद्धव से कहती हैं कि हे मधुकर; [illegible] कमल-नयन श्री कृष्ण की राह देखते-देखते [illegible] ये [illegible] [illegible]हे हैं। जिस दिन से श्री कृष्ण [illegible] । भय और शंका से ये [illegible] [illegible] तीनों [illegible]

को गाना अच्छा नहीं लगता।

विशेष—जीव की चार अवस्थाओं—जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय—में से यहां कवि ने तृतीय अवस्था सुषुप्ति का कथन नहीं किया। जान पड़ता है कि इसमें उसने पहले आये हुए जागरण की पुष्टि की है। तुरीय का प्रयोग उसने यहां इसलिए किया है कि यहां सब सुध-बुध खोकर विदेहावस्था का भाव प्रगट किया गया है।

मधुकर ! यह कारे की जाति ?
ज्यों जलमीन, कमल पै अलि की, त्यों नहिं इनकी प्रीति ॥
कोकिल कुटिल कपट वायस छलि फिरि नहिं वहि बन जाति।
तैसेहि कान्ह केलि-रस अंचयो बैठि एक ही पाँति ॥
सुत-हित जोग जज्ञ व्रत कीजत बहु बिधि नीकी भाँति।
देखहु अहि मन मोहमया तजि ज्यों जननी जनि खाति ॥
तिनको क्यों मन बिसमौ कीजै औगुन लौं सुख-साँति।
तैसेइ सूर सुनौ जदुनंदन, बजी एकस्वर ताँति ॥१६०॥

शब्दार्थ—जनि—जनकर, उत्पन्न करके। वायस—कौआ। अँचयो—पिया। ताँति—बाजा।

व्याख्या—गोपियाँ कृष्ण की निष्ठुरता पर व्यंग्य करती हुई कहती हैं कि हे मधुकर, यह कालों की जाति ही ऐसी होती है। ये कभी किसी के सगे नहीं होते। जिस प्रकार का प्रेम मछली जल से और भौंरा कमल से करता है उस प्रकार का प्रेम ये नहीं करते। क्रूर कोयल छलपूर्ण व्यवहार द्वारा कौए को छलती है और अपना बना-कर चलती बनती है तथा फिर उस वन में भूलकर भी नही आती उसी प्रकार कृष्ण ने भी हमारे साथ पहले तो रंगरेलियां करके खूब आनन्द उड़ाया और फिर अब चलते बने तथा अब आने का नाम तक नही लेते। इन कालों की बात कहां तक कहें, ये तो होते ही बड़े क्रूर हैं। देखो, जिस पुत्र के लिए लोग अनेकों यज्ञ, योग और तप करते हैं उसी दुर्लभ पुत्र को नागिन उत्पन्न करते ही खा जाती है। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि इन सब बातों पर विचार करके कृष्ण के कार्यों पर विस्मय करना व्यर्थ है। उन्हें तो सुख का सांस ही तब आता है जब वे औगुन कर लेते हैं। वे भी काले हैं अतः वे भी इन सबके स्वर मे स्वर मिलाकर ही बोलते हैं। कालो की जाति से ये अलग कैसे निकल जाते !

विशेष—(i) उपमा और वृत्यानुप्रास अलंकार है।
(ii) काले रंग पर व्यंग्य सूर ने और भी कई पदों में किया है जैसे 'ऊधो कारे बहुत बुरे' तथा 'मधुकर यह कारे की रीति' आदि।

मधुकर ! ल्याए जोग-सँदेसो ।
भलो स्याम कुसलात सुनाई सुनतहिं भयो अँदेसो ॥
आस रही जिय कबहूँ मिलन की, तुम आवत ही नासी ।
जुबतिन कहत जटा सिर बाँधहु तौ मिलिहैं अविनासी ॥
तुमको जिन गोकुलहिं पठायो ते बसुदेव-कुमार ।
सूर स्याम मनमोहन बिहरत ब्रज में नंददुलार ॥१६१॥

शब्दार्थ—नासी—नष्ट कर दी । भयो—उत्पन्न हो गया । पठायो—भेजा ।

व्याख्या—गोपियाँ भ्रमर को सम्बोधन करती हुई ऊधो से कहती हैं कि हे मधुकर, अच्छा तो आप योग का सन्देश लाये हैं ! आपने अच्छी स्याम की कुशलता सुनाई । इसे सुनकर तो हमें आशंका होने लगी । पहले हमें कभी न कभी मिलने की आशा तो थी अब तो आपने आते ही उस आशा को भी नष्ट कर दिया । आप तो अब युवतियों से जटा बाँधकर योग-साधना द्वारा उस अविनाशी की प्राप्ति की बात कह रहे हैं । ठीक है, परन्तु आप एक बात न भूलो । आपको जिनने यहाँ गोकुल में भेजा है वे तो बसुदेव के पुत्र हैं । हम उनकी बातें नहीं मान सकतीं, वे राजा हैं तो होंगे अपने घर के । हमारे यहाँ तो मनोहारी स्याम शरीर नन्दकुमार विहार करते हैं और उन्हीं की बात हमारे यहाँ चलती है । भाव यह है कि यह योग नामक उनकी वस्तु जाकर आप उन्हीं को सौंप दो, हमें नहीं चाहिये ।

विशेष—ऊधो मथुरा के हरि और ।

एक नहीं तुम लाख बुझाओ समुझाओ सिर फोर ।
उनके नन्द जसुमत पितुमाता वे बसुदेव देवकी किशोर ।
ये अहीर वे यादव क्षत्री भूपति भवन निनोर ।
(प्रतापनारायण मिश्र)

स्याम बिनोदी रे मधुबनियाँ ।
अब हरि गोकुल काहे को आवहिं चाहत नवयौवनियाँ ॥
वे दिन माधव भूलि बिसरि गए गोद खिलाए कनियाँ ।
गुहि गुहि देते नंद जसोदा तनक काँच के मनियाँ ॥
दिना चारि तें पहिरन सीखे पट पीतांबर तनियाँ ।
सूरदास प्रभु तजी कामरी अब हरि भए चिकनियाँ ॥१६२॥

शब्दार्थ—मनियाँ—गुरियाँ । तनियाँ—धुरनी । चिकनियाँ—छैला । कनियाँ—गोद ।

व्याख्या—कृष्ण की निष्ठुरता पर व्यंग्य करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि आपके मथुरा-निवासी कृष्ण बड़े विनोदी रसिया हैं । भला अब वे गोकुल क्यों आवेंगे? उन्हें तो नवयुवतियाँ चाहिएँ । भला उन्हें अब उन दिनों की याद कहाँ आती है जब हम उन्हें अपनी गोदी में खिलाया करती थीं, जब बाबा नन्द और माता यशोदा उनके पैरों में

बाँस की मुरलिया मुँह दिया करती थीं। अब चार दिन से वे पीताम्बर और कुरता पहनना सीख गये तो पिछली बातें सब विस्मृत कर बैठे। सूर के प्रभु श्याम ने अब तो उस कमरिया को भी भुला दिया, और अब तो वे छैला हो गये छैला!

विशेष—महात्मा सूरदास जी श्री कृष्ण से सखाभाव की भक्ति करते थे, तभी तो वे गोपियों द्वारा उनके लिए ऐसी बातें कहलवा सके।

> ऊधो! हम ही हैं अति बौरी।
> सुभग कलेवर कुंकुम खौरी। गुंजमाल अरु पीत पिछौरी॥
> रूप निरखि दृग लागे डोरी। चित चुराय लयो मूरति गोरी!
> गहियत सो जा समय अकोरी! याही तें बुधि कहियत थोरी॥
> सूर स्याम लौं कहिए कठोरी! यह उपदेस सुने तें बौरी॥१६३॥

शब्दार्थ—डोरी—पीछे-पीछे लगना। अंकोरी—गोद। कलेवर—शरीर। खौरी—लेप। पिछौरी—दुपट्टा।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से अपनी भूल प्रगट करती हुई कहती हैं कि हे ऊधो, हमही पगली रहीं। उनके सुन्दर शरीर को केसर के तिलक, गुजाओं की माला तथा पीताम्बर की शोभा से युक्त देखकर हमारे ये नेत्र उनके पीछे-पीछे लग गये। परन्तु हाय! उस मूर्ति ने तो हमारा मन चुरा लिया। पहली भूल का ही फल हम अब तक भुगत रही हैं। इसीलिए चतुर लोग हमें पगली की संज्ञा देते हैं। यह वस्तुतः श्याम की बहुत कठोरता है कि उन्होंने हमारे लिए इस प्रकार के उपदेश भेजे हैं। इन्हें सुनकर तो हम और भी पगली हो गई हैं।

विशेष—गोपियाँ अपनी भूल पर पश्चात्ताप करती हैं किन्तु इससे भी उनका सच्चा प्रेम ही प्रतिबिंबित होता है।

> कहाँ लगि मानिए अपनी चूक?
> बिन गोपाल, ऊधो, मेरी छाती ह्वै न गई द्वै टूक॥
> तन, मन, जीवन बृथा जात है ज्यों भुवंग की फूँक।
> हृदय अगिन को दवा बरत हैं, कठिन बिरह की हूक॥
> जाकी मनि हरि लई सीस तें कहा करै अहि मूक?
> सूरदास ब्रजवास बसीं हम मनहुँ दाहिने सूक॥१६४॥

शब्दार्थ—हूक—ज्वाला, व्यथा, सूल। दाहिने सूक—दक्षिण शुक्र ग्रह होने पर। दवा—भीषण ज्वाला। भुवग—सर्प।

व्याख्या—कृष्ण-वियोग में जीवित रहने को भी एक अपराध समझती हुई राधा उद्धव से कहती है कि हे ऊधो, मैं अपनी भूल कहाँ तक मानूँ। उनके वियोग में मेरा हृदय दो टुकड़े क्यों न हो गया? अब सर्प की फूँक के सदृश यह मेरा तन और यौवन सब व्यर्थ व्यतीत हो रहा है। हृदय में विरह की भीषण ज्वाला जल रही है और कठोर

टूक उठती है। जिस सर्प की मणि हर ली गई हो वह भला मूक वेदना को मन मार-कर सहन करने के अतिरिक्त और कर ही क्या सकता है। इसी प्रकार उनके विरह की इस मूक वेदना को सहन करने के अतिरिक्त और मार्ग ही क्या है? सूर कहते हैं कि राधा ने कहा कि जिस समय हमने गोकुल में वास किया उस समय शुक्र दक्षिण की ओर था।

विशेष—(i) ज्योतिष शास्त्र के अनुसार शुक्र दक्षिण में होने पर अनिष्ट होता है।

(ii) इस पद में रूपक और अन्योक्ति अलंकार है।

ऊधो! जोग जानें कौन?
हम अबला कह जोग जानें जियत जावो रौन॥
जोग हम पै होय न आवै, धरि न आवै मौन।
बाँधिहैं क्यों मन-पखेरू साधिहैं क्यों पौन?
कहो अंबर पहिरि कै मृगछाला ओढ़ै कौन?
गुरु हमारे कूबरी-कर-मंत्र माला जौन॥
मदनमोहन बिन हमारे परे बात न कौन?
सूर प्रभु कब आय हैं वे स्याम दुख के दौन? ॥१६५॥

शब्दार्थ—रौन—पति। दौन—दमन करने वाले। अंबर—अच्छे वस्त्र।

व्याख्या—योग को अपने लिए सर्वथा अनुपयुक्त बताती हुई गोपियां ऊधो से कहती हैं कि हे उद्धव, यहाँ भला योग को कौन जानता है? हम अबला हैं, जब हमारे पति जीवित हैं तो फिर हम योग को क्या जानें? हम योग-साधन नहीं कर सकती, न हम मौन धारण कर सकती हैं। प्राणायाम करके हम अपने मन रूपी पक्षी को नहीं बांध सकतीं। तुम्हीं बताओ जो सदैव से महीन वस्त्र पहनती रही हैं वे मृगछाला किस प्रकार ओढ़ सकेंगी? हमारे गुरू वे ही हैं जो आजकल कुबरी के हाथ की माला बने हुए हैं। उसी के घुमाये दिन-रात घूमते हैं। किन्तु हम भी करें क्या? उस मदनमोहन के बिना तो हमारे मन में कोई बात जमती ही नहीं है। अत. उद्धव, तुम हमें तो बस यही बताओ कि सूर के प्रभु कृष्ण जो सब दुखों को दूर करने वाले हैं, वे कब आवेंगे?

विशेष—इस पद में रूपक अलंकार है।

फिर ब्रज बसहु गोकुलनाथ।
बहुरि न तुमहिं जगाय पठवौं गोधनन के साथ॥
बरजौं न माखन खात कबहूँ, देहौं देन लुटाय।
कबहूँ न देहौं उराहनो जसुमति के आगे जाय॥
दौरि दाम न देहुँगी, लकुटी न जसुमति-पानि।
चोरी न देहुँ उघारि, किए औगुन न कहिहौं आनि॥

करिहौं न तुमसों मान हठ, हठिहौं न माँगत दान।
कहिहौं न मृदु मुरली बजावन, करन तुमसों गान॥
कहिहौं न चरनन देन जावक, गुहन बेनी फूल।
कहिहौं न करन सिंगार बट-तर, बसन यमुना-कूल॥
भुज भूषननयुत कंध धरिकै रास नृत्य न कराउँ।
हौं संकेत-निकुंज बास कै दूति-मुख न बुलाउँ॥
एक बार जु दरस दिखवहु प्रीति-पंथ बसाय।
चँवर करौं, चढ़ाय आसन, नयन अँग-अँग लाय॥
देहु दरसन नंदनंदन मिलन ही की आस।
सूर प्रभु की कुँवर-छबि को मरत लोचन प्यास॥१६६॥

शब्दार्थ—दाम—रस्सी। पानि—हाथ। आनि—आकर। हठिहौं—न देने [illegible] हठ न करना। जावक—महावर। बट-तर—बरगद के नीचे। संकेत—सकेत-स्थल चढ़ाय—बैठाकर।

व्याख्या—विलाप करती हुई राधा कहती है कि हे गोकुलनाथ कृष्ण, तुम फिर आकर ब्रज में रहो। पहले जैसे मैं तुम्हें तंग किया करती थी अब नहीं करूँगी। अब तुम्हें जगाकर गायों के साथ नहीं भेजूँगी। मैं अब तुम्हें कभी भी माखन खाने से मन रोकूँगी। अब चाहे तुम खूब माखन लुटाना मैं कभी न रोकूँगी। मैं तुम्हारी शरारतों [illegible] शिकायत यशोदा के सम्मुख जाकर भी अब कभी नहीं करूँगी और तुम्हें पीटने के लि[illegible] उनके हाथ में कभी रस्सी और छड़ी भी नहीं दूँगी। तुम्हारी चोरी का भेद भी मैं अ[illegible] कभी नहीं खोलूँगी और तुम्हारे दूसरे अवगुणों के बारे में भी मैं अब कभी कुछ न कहूँगी मैं अब तुमसे कभी भी रूँठा भी नहीं करूँगी और कामकेलियों के लिये भी कभी [illegible] आनाकानी नहीं करूँगी। अपनी प्रसन्नता के लिए मुरली बजाने और गाने के लिये भी [illegible] अब तुमसे कभी न कहूँगी। अपने पैरों में महावर लगाने, वेणी गूँथने तथा वंशीवट के नी[illegible] बैठकर अथवा यमुना तट पर रहकर अपना शृंगार करने के लिये भी मैं तुमसे कभी [illegible] कहूँगी। आभूषणों के भार से बोझिल भुजाओं को तुम्हारे कन्धों पर रखकर कभी भी रा[illegible] मे नृत्य मैं तुमसे कभी नहीं कराऊँगी। पहले की भाँति संकेत स्थल पर बैठकर दूती द्वार तुम्हें बुलाने की उद्दण्डता भी मैं फिर कभी नहीं करूँगी। यदि एक बार भी तुम [illegible] प्रेम-पथ में मुझे बसाकर दर्शन दे दोगे तो बस मैं फिर तुम्हें सिंहासन पर बैठाकर स्व[illegible] तुम्हारे ऊपर चवर ढुलूँगी और इन नयनों से तुम्हारे अंग-प्रत्यंग का आलिंगन करूँगी अतः अब हे नंद के पुत्र, तुम मुझे अब दर्शन दे ही दो। तुम्हारे मिलने की मुझे अब भी पूरी आशा है। सूर के प्रभु कृष्ण की कुमार-छवि के लिये आज भी ये नेत्र तृषित हैं।

विशेष—(i) राधा कृष्ण को कुमार रूप में ही चाहती है, यही वे ब्रज में अपनी पत्नी कुब्जा की महिमा न पा जायें। [illegible] के प्रति [illegible] स्वभाव की कितनी सुन्दर व्यंजना है।

(ii) राधा के कथन में प्रकारान्तर से कृष्ण की बाल-लीला का वर्णन

होने के कारण मुद्रा अलंकार कहा जा सकता है तथा अंतिम पंक्ति में साभिप्राय विशेषण होने से परिकर अलकार है।

कबहुँ सुधि करत गोपाल हमारी ?
पूछत नंद पिता ऊधो सों अरु जसुमति महतारी।।
कबहुँ तो चूक परी अनजानत, कह अबके पछिताने ?
बासुदेव घर-भीतर आए हम अहीर नहिं जाने।।
पहिले गरग कह्यो हो हमसों, 'या देखे जनि भूलै'।
सूरदास स्वामी के बिछुरे राति-दिवस उर सूलै।।१६७।।

शब्दार्थ—जनि—मत। गरग—मुनि का नाम। महतारी—माता।

व्याख्या—नन्द और यशोदा उद्धव से पूछते हैं कि क्या गोपाल कभी हमें भी स्मरण करते हैं ? कभी न कभी अनजाने हमसे अवश्य भूल हो गई होगी अत वे यदि हमें याद भी न करते हों तो हमें पश्चाताप ही क्या है। जब वसुदेव कृष्ण को लेकर हमारे घर हमे सौंपने आये थे तो गर्ग मुनि ने इनके ग्रह देखकर पहले ही कह दिया था कि इस पुत्र को देखकर नन्द ! तुम किसी भुलावे मे मत पडो। यह तुम्हारा नहीं है और न तुम्हारे पास रहेगा। अतः तुम इससे मोह मत करना। परन्तु हम ठहरे गंवार अहीर ! हम उनके कथन की यथार्थता में विश्वास न कर सके और परिणामतः आज सूर के स्वामी कृष्ण के बिछुड़ने से दिन-रात हृदय व्यथित है।

विशेष—श्री कृष्ण के जन्म के पश्चात् कस के हाथों से उनकी रक्षा करने के हेतु उनके पिता वसुदेव उन्हें नद के यहां दे आये थे और उनकी तुरन्त उत्पन्न हुई कन्या को ले आये थे।

भली बात सुनियत है आज।
कोऊ कमलनयन पठयो है तन बनाय अपनों सो साज।।
बूझौ सखा कहौ कैसे कै, अब नाहीं कीबे कछु काज।
कंस मारि बसुदेव गृह आने, उग्रसेन को दीनो राज।।
राजा भए कहाँ है यह सुख, सुरभि-संग बन गोप-समाज ?
अब जो सूर करौ कोउ कोटिक नाहिंन कान्ह कहत ब्रज आज।।१६८।।

शब्दार्थ—पठ्यो—भेजा है। आने—लाये हैं। सुरभि—गाय। कोटिक—करोड़ों।

व्याख्या—गोपियाँ आपस मे कह रही है कि आज तो बड़ी सुखद सूचना सुनी जा रही है कि किसी को कमलनयन श्री कृष्ण ने अपना-सा रूप बनाकर भेजा है। चलो अब वहाँ चलें और उनसे पूछें कि हमारे प्रियवर कैसे हैं ? अब हमें आज और कुछ काम तो करना ही नहीं है। उद्धव के पास जाकर पूछने पर पता चला कि कृष्ण ने कंस को मार दिया है और अपने पिता को कारागार से मुक्त कराके घर ले आये हैं तथा उग्रसेन

को राज्य सौंप दिया है; पर वास्तविक राजा वे स्वयं ही गये हैं। सूर कहते हैं कि गोपियों ने यह जानकर परस्पर कहा कि अब तो वे राजा हो गये। उन्हें अब वह सुख गौओं के साथ ग्वालों में रहकर कैसे मिल सकता है। अब चाहे करोड़ों उपाय क्यों न कर लो, कृष्ण ब्रज में नहीं आवेंगे।

विशेष—कंस-वध कथा का प्रकारान्तर से इस पद में संकेतात्मक वर्णन

ऊधो ! हम आजु भईं बड़भागी।
जैसे सुमन-गंध लै आवतु पवन मधुप अनुरागी ॥
अति आनंद बढ़यो अँग-अँग मैं, परै न यह सुख त्यागी।
बिसरे सब दुख देखत तुमको स्यामसुँदर हम लागीं ॥
ज्यों दर्पन मधि दृग निरखत जहँ हाथ तहाँ नहि जाई।
त्यों ही सूर हम मिलीं साँवरे बिरह-बिथा बिसराई ॥१६६॥

शब्दार्थ—लागीं—मिलीं। बड़भागी—भाग्यशालिनी। मधि—मध्य।

व्याख्या—उद्धव के आगमन पर उनमें श्याम की प्रतिकृति देखकर गोपियाँ से अपना हर्ष प्रकट करती हुई कहती हैं कि हे ऊधो, आज हम अत्यन्त भाग्यशा हैं। जिस प्रकार पवन फूलों की सुगन्ध लाकर भौरों को अनुरक्त बना देता है, प्रकार आपने हमारे प्रियतम की सूचना लाकर हमें इतना अनुरक्त बना दिया है हमारा अंग-प्रत्यंग आनन्द से फूला नहीं समा रहा है। आज इस प्रकार जो हमे प्राप्त हो रहा है उसे हमसे त्यागा नहीं जाता। आज तुमको देखकर हम अपना सब भूल गई हैं। ऐसा लग रहा है जैसे मानो हम अपने प्रियतम से ही मिल रही हैं। प्रकार शीशे में आँखों से दिखाई देने वाला प्रतिबिंब हाथों द्वारा नहीं पकड़ा जा सक किन्तु तब भी आनन्ददायक होता है उसी प्रकार सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा है हे उद्धव, तुम्हारे रूप में कृष्ण की प्रतिकृति देखकर हमें ऐसा लग रहा है कि जैसे श्याम से ही मिलकर अपनी विरह-व्यथा मिटा रही हैं।

विशेष—इस पद में दृष्टान्त और गम्योत्प्रेक्षा अलंकार है।

पाति सखि ! मधुबन तें आई।
ऊधो-हाथ स्याम लिखि पठई, आय सुनो, री माई !
अपने-अपने गृह तें दौरीं लै पाती उर लाई।
नयनन नीर निरखि नहि खंडित, प्रेम न बिथा बुझाई ॥
कहा करौं सूनो यह गोकुल हरि बिनु कछु न सुहाई।
सूरदास प्रभु कौन चूक तें स्याम सुरति बिसराई ? ॥१७०॥

शब्दार्थ—निरखि—देखकर। पाती—पत्र। मधुबन—मथुरा।

व्याख्या—उद्धव के आगमन पर गोपियाँ आपस में कह रही हैं कि हे सखी, मथुरा से पत्र आया है। हमारे प्रियतम श्याम ने उद्धव के हाथों पत्र लिख कर भेजा है।

यह सुनकर सब अपने-अपने घर से दौड़ी और चिट्ठी लेकर हृदय से लगा ली। उसे देखकर उनके नेत्रों से अविराम अश्रुधारा बहने लगी। उसकी प्राप्ति से उनके हृदय में जो प्रेम की व्याकुलता का जागरण हुआ वह उन अविराम आंसुओं से भी न शान्त हो सकी। सूर कहते हैं कि गोपियों ने आंसू बहाकर और प्रेम से विह्वल होकर कहा कि क्या करें, कृष्ण के बिना यह गोकुल सूना है। उनके बिना हमें यहां कुछ भी अच्छा नहीं लगता। हाय ! पता नहीं हमसे ऐसा क्या अपराध हो गया जो श्याम ने हमें भुला दिया।

विशेष—(i) भेजे मनभावन के ऊधव के आवन की,
सुधि व्रज-गाँवनि मैं पावन जबै लगीं।
कहै रत्नाकर गुवालिनि की झौरि-झौरि,
दौरि दौरि नन्द पौरि आवन तबै लगीं।
उझकि उझकि पद कंजनि के पंजनि पै,
पेखि-पेखि पाती छाती छोहनि छबै लगीं।
हमकौं लिख्यो है कहा, हमकौं लिख्यो है कहा,
हमकौं लिख्यो है कहा, कहन सबै लगीं।
(रत्नाकर)

(ii) आंसुओं के बहते रहने पर भी व्यथा का शान्त न होना अर्थात् कारण सामग्री के होते हुए भी कार्य की अनुत्पत्ति होने के कारण इस पद में विशेषोक्ति अलंकार माना जायगा।

मधुकर ! भलो सुमति मति खोई।
हाँसी होन लगी या ब्रज में जोगं राखो गोई॥
आतमराम लखावत डोलत घटघट व्यापक जोई।
चापे काँख फिरत निर्गुन को, ह्याँ गाहक नहिं कोई॥
प्रेम-विथा सोई पै जानें जापै बीती होई।
तू नीरस रती कह जानें ? बूझि देखिये खोई॥
बड़ो दूत तू, बड़े ठौर को, कहिये बुद्धि बड़ोई।
सूरदास पूरीषहि षटपद ! कहत फिरत है सोई॥१७१॥

शब्दार्थ—गोई—छिपाना। पुरीष—मल। सुमति मति—अच्छी बुद्धि। पै—निश्चय।

व्याख्या—गोपियाँ भ्रमर को सम्बोधित करती हुई ऊधो से कहती हैं कि हे मधुकर, क्यों आप अपनी सुमति को नष्ट कर रहे हो ? आपकी बेढंगी बातें सुनकर इस ब्रज में आपकी हँसी उड़ने लगी है। अतः उत्तम यही होगा कि आप अपने योग को छिपाये रखें। तुम योग के द्वारा अन्तर्यामी आत्मा के दर्शन करते फिरते हो और अपनी निर्गुण की पोटली काँख में दबाये फिर रहे हो। किन्तु हम आपको बता दें कि यहाँ इसका कोई ग्राहक नहीं है। भुक्त-भोगी ही प्रेम की पीर के मर्म को जान सकता है।

तू तो नीरस है, तू प्रेम को क्या जाने ? तुम अपने आका श्री कृष्ण से ही पूछ देखना तुम महान् दूत हो और बड़े ही स्थान से आये हो अतः तुम्हारा ज्ञान बड़ा ही कह जायगा। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि चाहे कुछ हो पर जाति का प्रभाव कैसे जा सकता है ? तुम तो षट्पद हो अत मल के स्वाद की प्रशंसा चारों ओर करते फिरते हो।

विशेष—इस पद में अन्योक्ति अलंकार है।

सुनियत ज्ञान कथा अलिगात।
जिहि मुख सुधा बेनुरवपूरित हरि अनि छनहिं सुनात॥
जहँ लीलारस सखी समाजहिं कहत कहत दिन जात।
बिधिना फेरि दियो सब देखत, तहँ षटपद समुझात॥
विद्यमान रस रास लड़ैते कत मन इत अरुझात ?
रूपरहित कछु बकत बदन ते मति कोउ ठग भुरवात॥
साधुवाद श्रुतिसार जानि कै उचित न मन बिसरात।
नंदनंदन कर-कमलन को छबि मुख उर पर परसात॥
एक एक तें सबै सयानी ब्रज सुंदरि न सकात।
सूर स्याम रससिंधु गामिनी नहिं वह दसा हिरात॥१७२॥

शब्दार्थ—समुझात—समझाता है। भुरवात—भुलाता है। सकात—ड है। गात—गाते हुए। सुनात—सुनाते थे। परसात—छाई है।

व्याख्या—अपने सुखदायक अतीत की दुःखदायक वर्तमान से तुलना करती गोपियाँ कहती हैं कि जिन्हे स्वयं गोपाल अपने मुख के पीयूष प्रवाह से प्लावित वेणु कलनाद प्रतिक्षण सुनाया करते थे उन्हीं को आज इन भ्रमर महाशय से ज्ञान-क श्रवण करनी पड़ रही है। जहाँ पहले सखी-समाज में गोपाल की सरस लीलाओं चर्चा करते हुए दिन बीतता था वहाँ अब भाग्य का कुछ ऐसा चक्कर पड़ा कि ये भ्र महाशय हमें शिक्षा दे रहे हैं। अतः हे ऊधो, आपको यह ज्ञात होना चाहिये कि जब त रास-रसिक कृष्ण विद्यमान हैं तब तक हमारा मन इधर निर्गुण की ओर कैसे फं सकता है ? पता नहीं आप न जाने किसी रूपरहित के विषय मे क्या बकवास कर रहे है ऐसा लगता है कि जैसे कोई ठग किसी का माल ठगने के लिए भुलावा दे रहा हो *आपके निर्गुण को श्रेष्ठ और श्रुतिसम्मत समझते हुए भी* हमें अपने मन से प्रियतम क भुलाना उचित नहीं है। हमारे प्रियतम कृष्ण के हस्त-कमलों की शोभा आज भी हमा मुख और हृदय पर छाई पड़ी है। सूर कहते हैं कि उद्धव ने देखा कि ब्रज-सुन्दरियाँ एक से एक बढ़कर चतुर हैं। वे उनकी उक्तियों का तुरन्त उत्तर देती हैं, तनिक भी भय नहीं *मानतीं। वे सब कृष्ण के प्रेम-समुद्र की ओर देख रही हैं* और किसी भी प्रकार उनकी वह दशा वे विस्मृत नहीं कर पाती।

विशेष—इस पद में रूपक अलंकार है।

ऊधो ! लहनौ अपनो पैए ।
जो कुछ बिधना रची सो भइए आन दोष न लगैए ॥
कहिए कहा जु कहत बनाई सोच हृदय पछितैए ।
कुब्जा बर पावै मोहन सो, हमहीं जोग पठैए ॥
आज्ञा होय सोई तुम कहियो, बिनती यहै सुनैए ।
सूरदास प्रभु-कृपा जानि जो दरसन-सुधा पिवैए ॥१७५॥

शब्दार्थ—लहनौ—प्राप्य । बर—पति । पैए—प्राप्त करना ।

व्याख्या—अपनी दीनता का निवेदन करती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती हैं हे उद्धव, हम किसे दोष दें, हमें तो जो प्राप्त होना था वही प्राप्त हो रहा है। जो हमारे भाग्य में लिखा था सो हम भोग रही हैं। इसमें किसी दूसरे को दोष देने से लाभ ? भाग्य की बात देखो कि कुब्जा को तो मोहन-सा सुन्दर पति मिला और बताया जा रहा है यह योग का उपदेश। आप जो कुछ कहें वही हमारा सन्देश सा लेना किन्तु उन्हें हमारी यह प्रार्थना अवश्य सुना देना कि हे महाराज आपकी उन बड़ी कृपा होगी यदि आप उन्हें दर्शनामृत का पान करा दें।

विशेष—कसम ले लो जो शिकवा हो तुम्हारी बेवफाई का।
किये को अपने रोता हूँ, मुझे जी भर के रोने दो ॥

ऊधो ! कहा करैं लै पाती ?
जौ लगि नाहिं गोपालहिं देखति विरह दहति मेरी छाती ॥
निमिष एक मोहिं बिसरत नाहिंन सरद-समय की राती ।
मन तौ तबही तें हरि लीन्हो जब भयो मदन बराती ॥
पीर पराई कह तुम जानौ तुम तौ स्याम-संघाती ।
सूरदास स्वामी सों तुम पुनि कहियो ठकुरसुहाती ॥१७६॥

शब्दार्थ—पाती—पत्र । दहति—जलना । निमिष—क्षण । संघाती—साथी । ठकुरसुहाती—खुशामद ।

व्याख्या—गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि हे ऊधो, हम इस पत्र को लेकर क्या करेंगी ? जब तक हमें गोपाल का दर्शन नहीं होता तब तक हमारी छाती विरह में जलती ही रहेगी। हम तो एक क्षण के लिए भी जाड़े की उन रातों को नहीं भूल पातीं जबकि हम उनके साथ रास रचाया करती थीं। जब से युवावस्था के साथ मदन का आगमन हुआ है तभी से हमारा मन कृष्ण ने छीन लिया है। किन्तु तुम हमारी पीर को क्या समझ सकते हो, तुम ठहरे श्याम के सखा। और कुछ भी हो अब कृपा करके तुम इस सूर के स्वामी कृष्ण से हमारी ओर से खुशामद ही कर देना जिससे वे हमें दर्शन दे दें।

विशेष—गोपियाँ कृष्ण की निष्ठुरता पर क्षुब्ध होती हुई भी ऊधो से उनकी खुशामद करने को ही कहती हैं। क्योंकि वे उन्हें अप्रसन्न करना नहीं चाहतीं। और वे

अप्रसन्न हो गये तो फिर वे दर्शन ही नहीं देंगे ।

ऊधो ! बिरहौ प्रेम करै ।
ज्यौं बिनु पुट पट गहै न रंगहि पुट गहे रसहि परै ।।
जौ आँवें घट दहत अनल तनु तौ पुनि अमिय भरै ।
जौ धरि बीज देह अंकुर चिरि तौ सत फरनि फरै ।।
जौ सर सहत सुभट संमुख रन तौ रबिरथहि सरै ।
सूर गोपाल प्रेम पथ-जल तें कोउ न दुखहि डरै ।।१७७।।

शब्दार्थ—करै—उत्पन्न होता है। आँवें—आँवाँ जिसमे मिट्टी के बर्तन पकते हैं। सत—सैंकड़ों। सरै—प्राप्त करता है।

व्याख्या—विरह की महत्ता बताती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे ऊधो, विरह से तो प्रेम और उत्पन्न होता है। जैसे बिना गर्म किये कपड़े पर अच्छा रंग नहीं चढ़ सकता उसी प्रकार विरह राग को सरस बनाता है। जिस प्रकार आँवाँ की अग्नि में दग्ध होकर घड़ा शीतल जल का कारण बनता है; जिस प्रकार बड़ा आकार ग्रहण करने तथा सहस्रों फलों को देने के लिए पहले वृक्ष के अंकुर को फट कर दो हो जाना आवश्यक है और जिस प्रकार सूर्य से भी ऊपर स्वर्ग में रथ द्वारा जाने के लिए योद्धा को रणभूमि में सामने से बाणों के प्रहार सहकर मरना होता है उसी प्रकार विरह के दारुण दुःख से सन्तप्त हो जाने पर ही प्रेम को सफलता प्राप्त होती है। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि गोपाल के प्रेम-जल की अगाधता ही हमारा इष्ट है और वह अगाधता विरह द्वारा ही संभव है। अतः हम जल की अगाधता और विरह किसी से भी नहीं डरतीं।

विशेष—(i) उदाहरण माला एवं रूपक अलंकार है।

(ii) गल जाता लघु बीज असंख्यक नश्वर बीज बनाने को।
तजता पल्लव वृन्त पतन के हेतु नये विकसाने को।।
(महादेवी वर्मा)

ऊधो ! इतनी जाय कहौ।
सब बल्लभी कहति हरि सौं ये दिन मधुपुरी रहौ।।
आज काल तुमहूँ देखत हौ तपत तरनि सम चंद।
सुंदरस्याम परम कोमल तनु क्यौं सहिहैं नँद नंद।।
मधुर मोर पिक परुष प्रबल अति बन उपवन चढ़ि बोलत।
सिंह, बृकन सम गाय बच्छ ब्रज बीथिन बीथिन डोलत।।
आसन असन, बसन बिष अहि सम भूषन भवन भँडार।
जित तित फिरत दुसह द्रुम द्रुम प्रति धनुष लए सत मार।।
तुम तौ परम साधु कोमलमन जानत हौ सब रीति।
सूर स्याम को क्यों बोलें ब्रज बिन टारे यह ईति।।१७८।।

शब्दार्थ—तरनि—सूर्य। परुष—कठोर। मार—कामदेव। बोलै—बुलावें। ईति—बाधा। वल्लभी—प्रेमिका। वृक—भेड़िया। वच्छ—बछड़े। ग्रसन—भोजन। बसन—वस्त्र। सत—सैकड़ों।

व्याख्या—व्यंग्य द्वारा विरहानल के असह्य सन्ताप का वर्णन करती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि हे ऊधो, तुम उनसे जाकर इतना निवेदन कर देना कि तुम्हारी सब प्रियतमायें कहती हैं कि हमारे हरि का इन दिनों मथुरा में ही रहना ठीक है क्योंकि यहाँ आजकल चन्द्रमा भी सूर्य के समान सन्तापदायक बन रहा है और श्यामसुन्दर अत्यन्त कोमल कलेवर वाले हैं, वे इस सन्ताप को कैसे सहन कर सकेंगे। जो पिक और मयूर पहले बहुत मधुर बोलते थे, अब वे वन और उपवनों में वृक्षों पर चढ़कर बड़े कठोर रूप में बोल रहे हैं। ब्रज की गलियों में गाय और बछड़े शेर और भेड़ियों के सदृश उग्र बनकर घूम रहे हैं। निवास-स्थान, आसन, भोजनादि उपकरण विष सदृश प्रतीत हो रहे हैं तथा आभूषण, भण्डार और भवन सभी सर्प के समान दुःखदायक बन गये हैं। जिधर भी दृष्टि डालो उधर ही सैकड़ों कामदेव पेड़ों पर बैठे धनुष-प्रहार कर रहे हैं। उद्धव, तुम तो बहुत सज्जन हो और तुम्हारा मन बहुत कोमल है तथा तुम सब रीतियों को जानते-पहचानते हो। तुम्हीं बताओ, ब्रज से बिना इन उपद्रवों को दूर किये सूर के प्रभु श्याम को किस प्रकार बुलाया जाय?

विशेष—(i) ईति के छः प्रकार हैं—काल, अवर्षण, टलमा, ओला, मूषक, अतिवृष्टि।

(ii) गोपियाँ मना करती हुई भी एक प्रकार से कृष्ण को बुलाने का उपक्रम कर रही है। यहाँ अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यध्वनि के चमत्कार द्वारा विपरीत अर्थ निकल रहा है।

जो पै ऊधो! हिरदय माँझ हरी।
तो पै इती अवज्ञा उनपै कैसे सही परी?
तबहि दवा द्रुम दहन न पाये, अब क्यों देह जरी?
सुन्दर स्याम निकसि उर तें हम सीतल क्यों न करी?
इंद्र रिसाय बरस नयनन मग, घटत न एक घरी।
भीजत सीत भीत तन काँपत रहे, गिरि क्यों न धरी?
कर कंकन दर्पन लै दोऊ अब यहि अनल मरी।
एतो मान सूर सुनि योग जु बिरहिनि बिरह भरी॥१०१॥

शब्दार्थ—बरस—वर्षा करता है। कर—हाथ। एतो मान—इतना अधिक कष्ट सहन करने पर भी। दवा—दावानल। अनल—कुढ़न, क्रोध।

व्याख्या—उद्धव को उपालम्भ देती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे उद्धव, यदि तुम्हारे कथनानुसार कृष्ण सचमुच ही हमारे हृदय में हैं तो फिर वे हमारी इतनी अवहेलना कैसे कर रहे हैं? जब वे ब्रज में थे तब तो यह दावानल यहाँ के वृक्षों को

भी न जला सका था और अब तो यह शरीर को भी जलाये डालता है। सुन्दर श्याम हमारे हृदय से बाहर निकल कर हमें शीतलता प्रदान क्यों नहीं करते ? आज उनके विरह में इन्द्र हम पर क्रोधित होकर हमारे नेत्रों के मार्ग से वर्षा करता हुआ एक क्षण के लिए भी नही रुकता और हम शीत में भीगी जा रही हैं और भय से शरीर काँप रहा है, तब भी वे हृदय से बाहर आकर पहले की भाँति गिरि को धारण क्यों नहीं करते ? विरह के दारुण दुःख से जो हमारी दशा बन गई है वह जब हमें हाथ में कंगन और दर्पण लेने पर दिखाई देती है तब हम कुढ़न से और भी दुःखी बन जाती हैं। सूर कहते हैं कि गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि यह सब होते हुए भी विरहिनियाँ योग के सम्मुख विरह को ही रखना पसन्द करेंगी।

विशेष—इस पद में सूक्ष्म अलंकार है।

ऊधो ! इतै हितूकर रहियो।
या ब्रज के ब्योहार जिते हैं सब हरि सों कहियो॥
देखि जात अपनी इन आँखिन दावानल दहियो।
कहँ लौं कहौं विथा अति लाजति यह मन को सहियो॥
कितो प्रहार करत मकरध्वज हृदय फारि चहियो।
यह तन नहिं जरि जात सूर प्रभु नयनन को बहियो॥१८०॥

शब्दार्थ—हितूकर—कृपालु। सहियो—सहना। मकरध्वज—कामदेव। बहियो—आँसुओं का प्रवाह।

व्याख्या—उद्धव से प्रार्थना करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे ऊधो, हम लोगों पर कृपाभाव रखना और जितने भी ब्रज के व्यवहार आपने देखे हैं, इन सबको हरि से जाकर कह देना। इस विषय में हम तुम्हें कुछ बतावें तो व्यर्थ होगा क्योंकि विरह-दावानल के भीषण दाह और उसके प्रभाव को तुम स्वयं अपने नेत्रों से देख रहे हो। इस विरह के दुःख को हम किस प्रकार सहन कर रही हैं बस हमीं जानती है, उसके कहने में हमें लज्जा आती है। कामदेव कितनी चोट करता है, हमारा तो हृदय फटा जाता है। सूर कहते हैं कि गोपियाँ कहती हैं कि इस भीषण दाह से हमारा शरीर जल कर भस्म अवश्य हो गया होता पर निरन्तर नेत्रों से आँसू प्रवाहित होने के कारण बचा हुआ है।

विशेष—यहाँ शरीर के बचे रहने का युक्तिपूर्वक उत्तर प्रस्तुत है अतः काव्यलिंग अलंकार है।

ऊधो ! यह ब्रज विरह बढ़्यो।
घर, बाहर, सरिता, बन, उपवन बल्ली, द्रुमन चढ़्यो।
बासर-रैन सधूम भयानक दिसि दिसि तिमिर मढ़्यो।
बूंद करत अति प्रबल होत पुर, पय सों अनल डढ़्यो॥

जरि किन होत भस्म छन महियाँ हा हरि, मंत्र पढ़्यो।
सूरदास प्रभु नँद नंदन बिनु नाहिन जात कढ़्यो ॥१८१॥

शब्दार्थ—पय—जल। अनल—अग्नि। रैन—रात। तिमिर—अंधेरा।

व्याख्या—विरह के व्यापक प्रभाव का वर्णन करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव, इस ब्रज मे विरहानल अधिक मात्रा में बढ़ रहा है। इससे केवल हमारा शरीर ही दग्ध नहीं हो रहा है अपितु बढ़ते-बढ़ते यह घर-बाहर, नदी-वन तथा उपवनों की लता और वृक्षों तक पहुँच गया है। दिन-रात चारों ओर धुआँ भरा रहता है जिससे सब तरफ अन्धेरा रहता है जो बड़ा भयानक मालूम होता है। इस दाह ने सारे नगर मे बड़ी प्रचण्डता धारण कर रखी है। जिधर भी दृष्टि डालो उधर ही उसका द्वन्द्व मच रहा है। इतने भीषण दाह से, जो कि जल से भी उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है, क्षण-भर में ही सब जल कर भस्म हो जाते किन्तु हुआ इसलिए नहीं है क्योंकि हम 'हरि-हरि' मन्त्र का जाप करती रहती हैं। इस मन्त्र के प्रभाव से यह सब जल कर भस्म होने से बच गया है। पर आखिर बकरे की माँ कब तक खैर मनायेगी? वास्तविकता तो यह है कि सूर के स्वामी नन्दनंदन के बिना इस भीषण दाह से उद्धार नहीं हो सकता।

विशेष—अतिशयोक्ति और काव्यलिंग अलंकार है।

ऊधो! तुम कहियो ऐसे गोकुल आवैं।
दिन दस रहे सो भली कीनी अब जनि गहरु लगावैं॥
तुम बिनु कछु न सुहाय प्रानपति कानन भवन न भावैं।
बाल बिलख, मुख गौ न चरत तृन, बछरनि छीर न प्यावैं॥
देखत अपनी आँखिन ऊधो, हम कहि कहा जनावैं।
सूर स्याम बिनु तपति रैन-दिनु हरिहि मिले सचु पावैं॥१८२॥

शब्दार्थ—गहरु—देर। जनि—मत। बिलख—रोना। छीर—दूध।

व्याख्या—विरह की भीषणता का वर्णन करती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि हे ऊधो, तुम हमारी विरहावस्था का वर्णन इस प्रकार से करना कि श्री कृष्ण गोकुल चले आवें। थोड़े दिन वहाँ भी रह लिये, अच्छा किया, पर देखो अब वे यहाँ आने में देर न लगावें। हे प्राणपति! तुम्हारे बिना हमें तो कुछ भी अच्छा नहीं लगता। न घर भाता है और न वन। हम तो हम, ये बच्चे भी बिलख रहे हैं। गौएं घास नहीं चरतीं और न अपने बछड़ों को दूध ही पिलाती हैं। ऊधो, यह सब तुम अपनी आँखों से देख रहे हो फिर हम तुमसे क्या कहें। सूर के श्याम के बिना तो दिन-रात दुःख ही दुःख है। इस दुःख को दूर करने का उपाय केवल हरि-मिलन ही है, और कुछ नहीं।

विशेष—इस पद में अतिशयोक्ति अलंकार है।

ऊधो ! अब जो कान्ह न ऐहैं।
जिय जानौ अरु हृदय बिचारौ हम न इतो दुख सैहैं ॥
बूझो जाय कौन के ढोटा, का उत्तर तब दैहैं ?
खायो खेल्यो संग हमारे, ताको कहा बनैहैं ॥
गोकुलमनि मथुरा के बासी कौ लौं झूठो कहैं।
अब हम लिखि पठवन चाहति हैं वहाँ पाँति नहिं पैहैं ।
इन गैयन चरिबो छांड्यो है जो नहिं लाल चरैहैं ।
एते पै नहिं मिलत सूर प्रभु फिरि पाछे पछितैहैं ॥१८३॥

शब्दार्थ—ऐहैं—आये। कहा बनैहैं—कौनसी बात गढ़ लेंगे। पाँति—पंक्ति।

व्याख्या—कृष्ण के लिए धमकी देती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती है कि हे ऊधो, यदि इतने पर भी श्री कृष्ण न आये तो तुम्हीं विचार करो और समझो कि हम इतना दुःख कैसे सहन कर सकेगी ? कह देना कि हम उनकी सारी पोल खोलकर रख देंगी। उनसे जाकर तनिक पूछना तो सही कि वे किसके पुत्र हैं ? फिर देखना वे क्या उत्तर देते हैं ? उन्होने हमारे साथ खेला है और खाया है, इस बात से भला वे कैसे इन्कार कर सकेंगे ? वे गोकुल के मणि कहलाकर अब अपने को मथुरावासी कैसे कहेंगे ? अब हम यह सब हाल लिखकर भेजना चाहती हैं। वहाँ क्या उन्हें हमारा पत्र नहीं मिलेगा ? देखो, इन गायों ने भी उनके चराने के अभाव में घास चरना ही छोड़ दिया है। यदि इतने पर भी सूर के प्रभु न मिलें तो फिर समझ लो उन्हें बाद में हाथ मलना ही पड़ेगा।

विशेष—इस पद मे अतिशयोक्ति अलंकार है।

ऊधो ! हमैं दोउ कठिन परी।
जो जीवें तो, सुन सठ ! ज्ञानी, तन तजै रूपहरी ॥
गुन गावैं तो सुक-सनकादिक, सग धावैं तो लीला करी।
आसा अवधि संतोष धरें तो धार्मिक ब्रज-सुंदरी ॥
स्यामा हैं सब सुखी सुजानी पै सब बिरह-भरी ॥
सोक-सिंधु तरिबे की नौका जिहि मुख मुरलि धरी ॥
निसिदिन फिरत निरंकुस अति बड़ मातो मदन-करी।
डाहैगो सब धाम सूर जो चितौ न यह केहरी ॥१८४॥

शब्दार्थ—रूपहरी—हरि का रूप। सुक—शुकदेव। स्यामा—युवती स्त्री। करी—हाथी।

व्याख्या—अपनी कठिनता का वर्णन करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे ऊधो, हमारे लिए तो दोनों ओर कठिनता है। यदि हम जीना चाहे तो आपके उपदेशानुसार ज्ञानी बन कर जीना पड़ेगा और यदि मौत का आलिंगन करें तो सदा के लिए कृष्ण से वियोग हो जायगा। यदि हम उनके गुणो का गान करती रहे तो शुकदेव तथा सनक-सनन्दन आदि महात्माओं के समान हो जायेंगी। यदि हम उनके संग दौड़ें तो यह एक

प्रकार की लीला बन जायगी। यदि हम सब आशा लगाये बैठी रहेंगी तो धार्मिक कहलायेंगी। हम सब सखियाँ कुलीन जाति की युवतियाँ हैं किन्तु सब विरह में जल रही हैं। जिन कृष्ण ने अपने मुख पर मुरली रखी थी, वही हमारे शोकसिन्धु के तरने के लिए नौका सदृश हैं। इस गोकुल में दिन-रात कामदेव रूपी हाथी मस्त होकर घूम रहा है। इस हाथी का दमन करने के लिए हरि रूपी सिंह ही समर्थ हो सकता है। यदि वह सिंह इधर नहीं आवेगा तो यह हाथी यहाँ सब कुछ नष्ट कर देगा।

विशेष—(i) शुकदेव व्यास जी के पुत्र थे। सनक सिद्ध ज्ञानियों में सर्वप्रथम मुनि थे।

(ii) अन्तिम पंक्तियों में परम्परित रूपक अलंकार है।

ऊधो! बहुत दिन गए चरनकमल-बिमुखहो।
दरसहीन, दुखित दीन, छन-छन विपदा सहो॥
रजनी अति प्रेमपीर, गृह वन मन धरै न धीर।
बासर मग जोवत, उर सरिता बही नयन नीर॥
आवन की अवधि-आस सोई गनि घटत स्वास।
इतो विरह बिरहिनि क्यों सहि सकै कह सूरदास?॥१८५॥

शब्दार्थ—रजनी—रात। बासर—दिन। जोवत—देखना।

व्याख्या—विरह की पीर का वर्णन करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव, उन चरण-कमलो से विमुख हुए अब बहुत दिन हो गये। उनके दर्शनों से रहित हम लोग बहुत दुःखी एवं दीन हैं और क्षण-प्रतिक्षण विपत्तियाँ सहन कर रही हैं। रात्रि में यह प्रेम-व्यथा बहुत बढ जाती है। न घर में और न वन में हमारे मन को कही भी धैर्य नहीं मिलता। दिन भर उनकी बाट देखा करती हैं। हृदय का प्रवाह उमड़ कर आँसुओं के रूप मे नयनों से प्रवाहित होता रहता है। दिन गिन-गिन कर आशा लगा-लगा कर अपने श्वास पूरे कर रही हैं। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि भला इतनी कठिन विरह की वेदना हम विरहिणियों से कैसे सहन की जायगी?

विशेष—इस पद मे रूपक अलंकार है।

ऊधो! कहत न कछू बनै।
अधरामृत-आस्वादिनी रसना कैसे जोग भनै?
जेहि लोचन अवलोके नखसिख-सुंदर मद तनै।
ते लोचन क्यों जायें और पथ लै पठए अपनै?
रागनि राग तरंग तान धन जे स्रुति मुरलि सुनै।
ते स्रुति जोग-संदेस कठिन यह कौकर मेलि हनै॥
सूरदास स्यामा मोहन के यह गुन विविध गुनै।
कनकलता तैं उपज न मुकता, षटपद! रंग चुनै॥१८६॥

शब्दार्थ—भने—कहा। रंग घुनै—प्रयत्न करने पर भी। स्रुति—कान।

व्याख्या—अपनी विरह-दशा का वर्णन करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे ऊधो, इस असाध्य दशा से छुटकारा पाने के लिए आप हमें योग की शिक्षा दे रहे हैं? आप तनिक सोचो तो सही कि प्रियतम के अधरामृत का स्वाद लेने वाली रसना योग की महिमा का गायन कैसे करेगी? जिन नेत्रों ने नखशिख-सुन्दर नन्दनन्दन श्री कृष्ण को देखा है वे अब और किसी मार्ग पर कैसे चल सकेंगे? आखिर उन्होंने ही इन्हें इस मार्ग पर चलने के लिए विवश किया था। जिन कानों ने मुरली की धुन में अनेक राग-रागिनियों का श्रवण किया है उन कानों को कठोर योग के सन्देश की कड़वाहियों से क्यों चोट पहुँचा रहे हो? सूर कहते हैं कि युवतियाँ कृष्ण के अनेक प्रकार के गुणों पर मुग्ध होकर तथा खूब विचार करके ऊधो से कहने लगी कि अरे भौंरे! खूब प्रयत्न करने पर भी स्वर्ण-लता से कभी मोती नहीं उपजता।

विशेष—आयत कीन्हें विहार अनेकन तापत कौ करी कंठ चुन्यो करे।
जा रसना सों करी बहुबातन ता रसना सों चरित्र गुन्यो करे।
आलम जौन से कुंजन में करि केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करे।
नैनन में जे सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करे।

ऊधो! हम नयनन नेम लियो।
नंदनंदन सों पतिव्रत बाँध्यो, हरगत माहिं लियो॥
इंदु चकोर, मेघ प्रति चातक जैसे धरन कियो।
तैसे ये लोचन गोपालै इकटक प्रेम पियो॥
ज्ञानकुसुम लै आए ऊधो! चपल न उचित कियो।
हरिमुख-कमल अमियरस सूरज चाहत बहै लियो॥१८७॥

शब्दार्थ—नेम—प्रतिज्ञा। बियो—दूसरा। इंदु—चन्द्रमा। अमिय—अमृत।

व्याख्या—अपने प्रेम की दृढ़ता का वर्णन करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव, इन नेत्रों ने प्रतिज्ञा कर ली है। हमारे इन नेत्रों ने नन्दनन्दन से पतिव्रत धर्म बाँध लिया है अब इन्हें अब कोई दूसरा नहीं दिखाई देता। जिस प्रकार चन्द्रमा के प्रति चकोर और बादल के प्रति चातक दृढ़ प्रेम का निर्वाह करता है ठीक उसी प्रकार हमारे इन नेत्रों ने भी गोपाल से दृढ़ और ऐकान्तिक प्रेम कर लिया है। हे उद्धव, तुम अब इनके लिए ले आए हो ज्ञान का पुष्प। हे चपल, तुमने यह अच्छा नहीं किया। सूर कहते हैं कि गोपियों ने ऊधो से आग्रह सहित कहा कि हमारे नेत्र तो हरिमुख रूपी कमल के अमृत रस को लेना चाहते हैं तो इन्हें और कोई वस्तु अच्छी नहीं लगती।

विशेष—नहीं प्रीति प्रतीत दृढ़ ज्यों रटत चातक नेहु।
कमो चार चकोर दिन दृढ़चार छवि रस लेहु॥

(मुक्तावलिका)

ऊधो ! ब्रजरिपु बहुरि जिए ।
जे हमरे कारन नंदनंदन हति हति दूरि किए ॥
निसि के बेप बकी है प्रावति प्रति डर करति सकंप हिए ।
तिन पय सें तन प्रान हमारे रवि हो छिनक छिनाय लिए ॥
बन बकरूप, प्रघासुर समगृह, कितहू तौ न बिते सकिए ।
कोटिक कालीसम कालिंदी, बोयन सलिल न जात पिए ॥
प्ररु ऊँचे उच्छ्वास तृनाव्रत तिहि सुख सकल उड़ाय दिए ।
केसी सकल कर्म केसव बिन, सूर सरन काकी तकिए ? ॥१८८॥

शब्दार्थ—बकी—पूतना । केसी—केशी नामक दैत्य । तृनाव्रत—तृणावर्त ।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे ऊधो, व्रज के शत्रु अब फिर से जीवित हो उठे हैं । जिन शत्रुओं को नन्दनन्दन ने हमारी रक्षा के लिए मार कर दूर कर दिया था वे ही व्रज के शत्रु मानो आज फिर से जीवित होकर व्रज को नष्ट किये दे रहे हैं । रात्रि के वेप में पूतना राक्षसी आती है जिसके भारी भय से हमारे हृदय काँप उठते हैं । उनके स्तन्य से नष्ट होते हुए हमारे प्राणों को मानो सूर्य ही क्षण भर के लिए छुड़ा लेता है । वन हमारे लिए बकासुर के और घर अघासुर के समान हैं अतः कहीं भी हमारे लिए ठिकाना नहीं है । स्वयं कालिन्दी करोड़ों कालिनाग के समान है । इन नागों के विष के कारण उसका जल भी अपेय हो गया है । हमारे ऊर्ध्वस्वास तृणावर्त राक्षस के सदृश हो गये हैं जिससे हमारे सारे सुख समाप्त हो गये हैं । केशव के बिना सारे कार्य केशी राक्षस बन रहे हैं । सूर कहते हैं कि गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि तुम्हीं बताओ, किसकी शरण खोजें ?

विशेष—(i) (क) बकासुर—पूतना राक्षसी का भाई था । बगुले का रूप धारण करके कृष्ण को मारने गया था । कृष्ण ने इसकी चोंच फाड़ डाली थी ।

(ख) अघासुर—बकासुर का भाई था । यह अजगर का रूप धारण करके व्रज में गया था । कृष्ण ने इसे इसकी श्वाँस रोक कर मार डाला ।

(ग) तृनावर्त—यह भी एक राक्षस था जो एक बड़े बवंडर में कृष्ण को ऊपर आकाश में उठा ले गया था । कृष्ण ने ऊपर ही इसका गला घोंटकर मार दिया था ।

(घ) केशी—यह घोड़े के रूप का राक्षस था । कृष्ण ने अपनी भुजा इसके मुख में डालकर इसे मार डाला था ।

(ii) वैसे इस पद में मुख्य रूप से उपमा और रूपक अलंकार है किन्तु प्रकारान्तर से कृष्ण की बाल-लीला का वर्णन होने के कारण मुद्रालंकार भी हो सकता है ।

ऊधो ! कहिए काहि सुनाए ?
हरि बिछुरत जेती सहियत है इते बिरह के घाए ॥
बर माधव मधुबन ही रहते, कत जसुदा के आए ?
कत प्रभु गोप-बेष व्रज धारयो, कत ये सुख उपजाए ?

चोलियाँ काँटों के समान दुःखदायी हैं तथा माथे पर लगा हुआ तिलक सूर्य के समान दाहक हो रहा है। शय्या सिंह भी भयावह, गृह अन्धी गुफा के समान तथा पुष्पों की माला और रत्नहार सर्पों के समान दुःखदायक बन गये हैं। इन सब कष्टों का सहन करना हमारे लिए तो न्यायसंगत है क्योंकि हम हैं वन के रहने वाले ग्वाले। परन्तु सूर के स्वामी श्री कृष्ण जो सुख के सागर हैं वे इतने कष्टों को क्यों सहन करेंगे? वे तो विलासी भ्रमर के समान सुख और समृद्धि पर मंडराने वाले राजा ठहरे!

विशेष—प्रस्तुत पद में अतिशयोक्ति अलंकार है।

अपने मन सुरति करत रहियो।
ऊधो! इतनी बात स्याम सों समय पाय कहियो॥
चोय बसत की चूक हमारी कछू न जिय गहियो।
परम दीन जदुनाथ जानि कै गुन बिचारि सहियो॥
एकहि बार दयाल दरस दै बिरह-रासि बहियो।
सूरदास प्रभु बहुत कहा कहौं बचन-लाज बहियो॥१५१॥

शब्दार्थ—बहियो—निर्वाह करना। रहियो—रहें। कहियो—कह देना।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि आप कृपा करके अवसर पाकर कृष्ण से कह देना कि वे मन से हमारी याद कर लिया करें और उनके ब्रज निवास के समय जो कुछ हमारी भूलें हुई हैं, उन्हें अपने हृदय में न रखें। श्री कृष्ण जो हमें दीन जानकर हमारी यदि कोई अच्छाइयाँ हों तो उनके साथ उन भूलों को भी सहन कर लें। अब विरह की राशि में जलते हुए हमें वे दयालु एक बार दर्शन अवश्य दे दें। सूर के प्रभु श्याम के लिए और तो हम और क्या कहें कम से कम इतना तो कह ही देना कि कम से कम अपने वचनों का निर्वाह तो करें।

विशेष— मंद के करडर से अब जा कहो यों 'हरिविलास'।
अब तो वे बातें निबाहो कौन थी इकरार की॥

ऊधो! नँदनंदन सों इतनी कहियो।
जदपि ब्रज अनाथ करि छाँड़्यो तदपि काल इक दिन चहि रहियो॥
तिनका-तोर करो जनि हमसों एक बास की लज्जा गहियो।
गुन-औगुन दोष नहिं कीजन दासनिदासि की इतनी सहियो॥
तुम बिन स्याम कहा हम करिहैं यह अवलम्ब न आने चहियो।
सूरदास प्रभु यह कहि पठई कहाँ लोग कहूँ जीवन रहियो॥१५२॥

शब्दार्थ—तिनका-तोर—सम्बन्ध त्याग। दासनिदासि—दासों की दासी।

व्याख्या—प्रेम-निर्वाह की भिक्षा माँगती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि हे उद्धव, नन्दनन्दन से जाकर इतना कह देना कि यद्यपि आपने ब्रज को त्याग कर

अनाथ कर दिया किन्तु तब भी अपने चित्त में हमारे लिए दया अवश्य रखना। हमसे अपना सम्बन्ध उन्हें बिल्कुल समाप्त न कर देना चाहिये, कम से कम एक स्थान पर एक साथ रहने की तो कुछ शर्म करें। हमारे गुण अथवा अवगुणों पर उन्हें इतना क्रोध नहीं करना चाहिये, अपने दासों की भी दासियों के दोषों को कम से कम इतना तो सहन कर ही लेना चाहिये। हे श्याम, तनिक सोचो तो ! तुम्हारे बिना हम क्या करेंगी ? कैसे रहेंगी ? हमें तो स्वप्न में भी कोई आश्रय नहीं मिल सकता। हमारा आश्रय तो आपका प्रेम ही है। किन्तु हे सूर के प्रभु श्याम, आपने यह क्या किया ? आपने हमारे लिए योग भेजा है। तनिक सोचते तो सही, कहाँ तो योग और कहाँ विरह-व्यथा की यह दाह ! दोनों में पृथ्वी और आकाश का अन्तर है।

विशेष—वह देखते हैं बेरुखी से देखते तो हैं।
मैं शाद हूँ कि हूँ तो किसी की निगाह में॥

ऊधो ! हरि करि पठवत जेती।
जो मन हाथ हमारे होतो तो कत सहत एती ?
हृदय कठोर कुलिस हू तें अति तामें चेत अचेती।
तब उर बिच अंचल नहिं सहतो, अब जमुना की रेती॥
सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन को, सरन देहु अब सेंती।
बिन देखे मोहिं कल न परति है जाको स्रुति गावत है नेति॥१६३॥

शब्दार्थ—अब सेंती—अब से। अचेत—बेसुध अवस्था। रेती—बालू का मैदान।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि जितना कष्ट उठाकर हरि हमारे लिए यह सब कर रहे हैं, यदि मन हमारे वश में होता तो उनको इतना कष्ट क्यों होने देतीं ? हमारे वज्र से भी अधिक कठोर हृदय की कुछ ऐसी बेसुध अवस्था रहती है कि न हम कुछ जान सकती हैं और न कुछ सोच सकती हैं। एक दिन तो वह था कि जब वे यहाँ थे तो उनके साथ आलिंगन करते समय अंचल का व्यवधान भी हमे सहन नहीं था और एक दिन आज है कि हमारे और उनके बीच मीलों तक फैली हुई यमुना की रेती है। सूर के प्रभु श्याम से मिलने के लिए अब हम उन्हीं की शरण में जाती हैं। उन्हें छोड़कर और कोई यह मिलाप करा नहीं सकता। गोपी कहती है कि उन भगवान् कृष्ण को, जिनकी महिमा का गान वेद भी नहीं कर सके, बिना देखे अब मुझे चैन नहीं पड़ रहा है।

विशेष—हारो नारोपितः कण्ठे मया विश्लेषभीरुणा।
इदानीमन्तरे जाता पर्वताः सरितो द्रुमाः॥

ऊधो ! यह हरि कहा करयो ?
राजकाज चित दियो साँवरे, गोकुल क्यों बिसरयो ?

जो लौं घोष रहे तो लौं हम सतत सेवा कीनी।
बारक कबहूँ उलूखल परसे, सोई मानि जिय लीनी ॥
जो तुम कोटि करौ ब्रजनायक बहुतै राजकुमारि।
तौ ये नंद पिता कहँ मिलिहैं अरु जसुमति महतारि ?
कहँ गोधन, कहँ गोप-वृंद सब, कहँ गोरस को सैबो ?
सूरदास अब सोई करौ जिहि होय कान्ह को ऐबो ॥१६४॥

शब्दार्थ—चित दियो—मन लगाया। सतत—निरन्तर। ऐबो—आगमन।

व्याख्या—कृष्ण की निठुरता पर प्रकाश डालती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि हे ऊधो, हरि ने यह क्या किया ? मथुरा जाकर राज्य-कार्य संभाल लिया, यह तो खैर चलो ठीक किया किन्तु गोकुल को क्यों भुला दिया ? वहाँ राज्य भी करते रहते और यहाँ की भी सुध रखते तो इसमें हानि क्या थी ? जब तक वे यहाँ रहे, हमने तो सदैव उनकी सेवा ही की थी। हाँ एक बार उन्हें उखली से अवश्य बाँध दिया था, कहीं उन्होंने यही गाँठ अपने मन में न बना ली हो। खैर, वे जो कुछ कर रहे हैं ठीक है किन्तु इतना हम अवश्य कहे देती हैं तुम जाकर उनसे कह देना कि उन्हें राजदुलारियाँ तो बहुत मिल जायँगी किन्तु नंद जैसा पिता और यशोदा जैसी माता भला कहाँ मिल सकेगी ? इतना ही नहीं ये गायें, यह ग्वालों की टोली और यह दूध-दही की छाक और कहाँ रखी है ? कुछ भी सही, गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि अब आप कृपा करके वही कार्य करो जिससे कृष्ण ब्रज में आ जावें।

विशेष—नंद जैसा पिता और यशोदा जैसी माता, ब्रज जैसी गायें, ग्वालों की टोली तथा दूध-दही कृष्ण को मथुरा में नहीं मिल सकते—यह कहकर गोपियों ने बड़ा मीठा उलाहना दिया है।

ऊधो ! ऐसो काम न कीजै।
एक रस काहे तुम बोऊ घोष भेत क्यों कीजै ?
फेरि फेरि के कुल अकनाहिं हम सब करो अचेत।
कत पटतर गोला मारत हो गिरे मूँड के खेत ॥
सटपट कोट कोटहुम अनमे, कहा भलाई जानै ?
खोरत बाँस-गाँठि बीनन को बार बार लपटावै ॥
छाँड़ि कमल को हेतु आपनो तू कत अपनाहिं जाय ?
झंपट, छोड़, बहुत अपराधी कैसे मन पतियाय ?
यहै जु बात कहूँ? हौं तुमको फिरि मनि कबहुँ आवहु।
एक बार समुझावहु सूरज आपनो ज्ञान सिखावहु ॥१६५॥

शब्दार्थ—अकनाहिं—[illegible] । पटतर—[illegible] । मूँड—मूँड़ । [illegible]— । कोट—बाँस की चोटी।

व्याख्या—प्रकारान्तर से कृष्ण के लिए ब्रजागमन के लिए कहती हुई गोपियाँ

ऊधो से कहती हैं कि हे उद्धव, तुम्हें ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये। तुम तो दोनों ही काले हो, धोकर श्वेत कैसे किये जा सकते हो? तुम्हारी अटपटी बातों को बार-बार सुनकर हम सब दुःख में इतनी निमग्न हो गई हैं कि अब तो अचेत भी हो गई हैं। हम नहीं जानतीं कि आप इस भूर के खेत में क्यों गोता लगा रहे हैं? वास्तव में बाँसों के कोठे के अन्दर कीड़ों के कुल में जन्म लेने वाले भौंरे लोग भलाई को क्या जाने? हे भौंरे, तू ही देख कि तू स्वयं ललचाकर अपने दाँतों से बार-बार बाँसों की गाँठ फोड़ता है, पर कमल में बन्द होकर उसके प्रेम के कारण उसे काट कर बन्धन से मुक्त होकर तू ही भला और यहीं क्यों नहीं चला जाता? तू इतना लम्पट, उद्दण्ड और दोषी है कि हमारा मन तुझ पर विश्वास कर ही नहीं सकता। इसीलिए हम आपसे कई बार कह चुकीं कि आप इस कार्य के लिए कभी न आवें। सूर के श्याम से जाकर कह दो कि यदि उन्हें योग सिखाना ही है तो वे स्वयं अपने ज्ञान के पाठ को यहाँ आकर पढ़ा जावें।

विशेष—अन्योक्ति अलंकार की छटा दृष्टव्य है।

ऊधो! और कथा कहौ।
तजि जल, ज्ञान सुने तावत तनु, बरु नहिं मौन रहौ॥
जाके बिच राजत मन-परबत स्याम सुल-अनुरागी।
तापै रतिद्रुम रीति नयनजल सींचत निसदिन जागी॥
ग्रीषम अलि आए प्रगट्यो ब्रज, कठिन जोग-रवि हेरे।
सो मुरझात सूर को राखै मेह-नेह बिन तेरे?॥१६६॥

शब्दार्थ—तावत—तपाता है। रीति—खाली। औरे—और।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव, तुम अब हमसे कुछ और बातें करो। कीर्ति को खाने वाले ज्ञान के उपदेश को बार-बार देकर तो तुम हमारे शरीर को जलाये दे रहे हो। इससे तो अच्छा यही होगा कि तुम किसी भी प्रकार की बातें ही हमसे न करो, मौन धारण कर लो। जिन ब्रजवासियों का मन श्याम के प्रति प्रेम की पीर का अनुराग लेकर पहाड़ के समान अचल है तथा उस पर स्थित रति के वृक्ष के लिए जिसे अपने नयनाश्रुओं से सींचकर दिन-रात जाग कर हरा-भरा रखते हैं आज भौंरे का रूप लिए ग्रीष्म के रूप में यह ब्रज में प्रकट हुआ है और इस ग्रीष्म में इस योग रूपी सूर्य को देखकर तो यह वृक्ष और भी अधिक सूख गया है। सूर कहते हैं कि गोपियाँ व्यथित होकर कहती हैं कि उस मुरझाते हुए रति-वृक्ष को श्री कृष्ण के स्नेह के मेह के बिना और कौन बचा सकता है?

विशेष—सागरूपक अलंकार दर्शनीय है।

ऊधो! साँच कहौ हम आगे।
घर में कहा बचै कछु ताके प्रकट आगि के लागे॥

जा दिन तें गोपाल सिधारे स्वास अनल तन जारयो।
ऋधि-हिरदय मुखचंद मुग्ध भयो काढ़ि ताहि दै डारयो ॥
एते पै तोंहि सूझत नाहिन, जोग सिखावन आयो।
फिरि लै जाहु सूर के प्रभु पै जिहि है यहाँ पठायो ॥१९७॥

शब्दार्थ—आगे—सामने। जारयो—जला दिया। ऋधि—सीधा-सादा।

व्याख्या—योग का अनौचित्य बताती हुई गोपियाँ उद्धव से प्रश्न करती कि देखो तुम हमारे सम्मुख सच-सच बताना कि यदि घर में आग लग जावे तो क बचा जा सकता है? जिस दिन से कृष्ण ब्रज से सिधारे हैं हमारे सांसों का अनल हमा शरीरों को भस्म किये डालता है। हमारा सीधा-सादा हृदय जिस समय उनके मुख चन्द्र पर मुग्ध हुआ था तो उसी दिन हमने अपने हृदय को निकाल कर उन्हें दे दिय था। अब उसकी अनुपस्थिति में तुम विवेक से काम न लेकर हमें योग सिखाने के लिए आ गये। जिसके पास हृदय ही नहीं वह आपके योग को कहाँ रखेगा? अप हमारी आपसे यही प्रार्थना है कि इस योग को आप कृपा करके उन्हीं सूर के प्रभु गोपाल के पास ले जावें जिन्होंने इसे हमारे लिए भेजा है।

विशेष—स्वास-अनल और मुखचंद में निरंग रूपक अलंकार है।

ऊधो! सब स्वारथ के लोग।
आपुन केलि करत कुब्जा-संग, हमहिं सिखावत जोग ॥
भ्रमि बन जात साँवरी मूरति नित देखहिं वह रूप।
अब रस-रास पुलिन जमुना के करत लाज, भए भूप ॥
अनुदिन नयन निमेष न लागत, भयो बिरह अति रोग।
पिठवहु कान्ह कुमार अस्विनी मिटैं सूर सब रोग ॥१९८॥

शब्दार्थ—पुलिन—तट। कुमार अस्विनी—देवताओं के वैद्य। निमेष—पलक।

व्याख्या—योगोपदेश पर व्यंग्य करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे ऊधो, सभी लोग अपनी-अपनी स्वार्थसिद्धि में लगे हुए हैं। देखो तो सही! वे महाराज स्वयं तो कुब्जा के साथ रंगरेलियों में लगे हुए हैं और हमें योग की शिक्षा दे रहे हैं। पर हमारी दशा भी बड़ी विचित्र है। कभी-कभी भ्रमण करते हुए जब हम वन में निकल जाती हैं तो उसी श्यामल मूर्ति का रूप दिखाई देता है। किन्तु उन्हें तो अब इस यमुना की रेती में रास रचाने में शर्म लगती है। हो भी क्यों न, अब तो वे राजा बन गये हैं न! हम तो प्रतिदिन उनकी राह देखती रहती हैं, नयनों के पलक कभी बन्द ही नहीं होते। विरह का रोग असाध्य बन चुका है। अतः सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा, इस असाध्य रोग के इलाज के लिए तुम [illegible] जो अश्विनीकुमार (१०) को यहाँ भेज दो जिससे हमारे सारे रोग समाप्त हो जायें।

विशेष—गोपियों की पीर मीराबाई जैसी पीर ही है—
'मीरा के प्रभु पीर मिटै जब वैद सांवलिया होय।'

ऊधो ! दीनो प्रीति-दिनाई।
बातनि सुहृद, करम कपटी के, चले चोर की हाई ॥
बिरह-बीज बघवार सलिल मानो अधर-माधुरी प्याई।
सो है जाय खगी अंतर्गत, औषधि बल न बसाई ॥
गरल-दान दीनो है नीको, याको नहीं उपाय।
कै मारै, कै काज सरै, यह दुख देख्यो नहिं जाय ॥
कहि मारै सो सूर कहावै, मित्रद्रोह न भलाई।
सूरदास ऐसे, प्रलि, जग में तिनकी गति नहिं काई ॥१६६॥

शब्दार्थ—दिनाई—विष-प्रयोग की वस्तु। हाई—घात। बघवार—बाघ की मूंछ के बाल जो विष माने जाते हैं। खगी—चुभी। काई—कभी। बिरह-बीज—विरह-मय। सरै—हो।

व्याख्या—कृष्ण की निष्ठुरता पर व्यंग्य करती हुई गोपियाँ उद्धव के सम्मुख अपनी विरह-वेदना प्रगट करती हुई कहती हैं कि हे ऊधो, श्री कृष्ण जी ने हमारे साथ बहुत बुरा व्यवहार किया है। उन्होंने हमें प्रेम-प्याले के स्थान पर विष का प्याला पिलाया है। हमें तो पहले से ज्ञात नहीं था कि ये मधुर वचन बोलने वाले श्याम कर्म के कपटी हैं। हमें विष देकर हमारा सर्वस्व चुरा कर चोर के समान यहाँ से निकल गये। अधरामृत की मधुरता में विरह-व्यथा के बीज रूप बाघ की मूँछों के बाल शायद हमें घोलकर पिला दिये हैं। उसका प्रभाव भीतर तक पहुँच गया है और किसी दवा में वह शक्ति नहीं है जो उसे कुछ समाल सके। इस विष का प्रभाव भी कुछ अनोखा ही है, इससे न मरते हैं और न जीने योग्य रहते हैं। अब या तो हम मर जावें या हमारा मन चाहा हो जावे तब काम बने। यह दुख अब हमसे देखा नहीं जाता। सूर कहते हैं कि गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि देखो, जो चेतावनी देकर मारते हैं वे शूरवीर कहलाते हैं किन्तु जो मित्र बन द्रोह करते हैं उनका कभी भला नहीं हो सकता। श्री कृष्ण ने मित्रता करके हमें धोखा दिया है। यह शूरवीरता नहीं, यह तो एक भयंकर पाप है।

विशेष—(i) मित्रद्रोही कृतघ्नश्च यश्च विश्वासघातकः।
ते नए नरकं यान्ति यावच्चन्द्र दिवाकरौ ॥ (नीतिशास्त्र)

(ii) इस पद में रूपक अलंकार है।

ऊधो ! जो हरि आवैं तो प्रान रहैं।
आवत, जात, उलटि फिरि बैठत जीवन अवधि गहै ॥

अब है दाम उखल सो बाँधे अधर मधाय रहे।
पुनि जु रही नवनीत-चोर-छबि, क्यों भूलति सो ज्ञान गहे ?
तिनसों ऐसी क्यों कहि आवै जे कुल-पति को त्रास महे ?
सूर स्याम गुन-रसनिधि तजि कै को घटनीर बहे ? ॥२००॥

शब्दार्थ—महे—मथ डाला। हे—थे। दाम—रस्सी। पति—प्रतिष्ठा। रस-निधि—आनन्द के सागर।

व्याख्या—विरह-व्यथा को दूर करने का एकमात्र उपाय श्री कृष्ण-मिलन को बताती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि अब तो श्री कृष्ण के आने से ही हमारे प्राण बच सकते हैं अन्यथा नहीं बच सकते। उनकी विरह-व्यथा से व्याकुल ये प्राण बार-बार उछलते-डूबते रहते हैं। कभी निकलते हैं और कभी फिर घट में आ जाते हैं और जीवन-अवधि का आश्रय लेकर टिक जाते हैं। हा ! जब हमने उन्हें ऊखल से बाँधा था तो बेचारे कैसा मुँह लटकाये हुए खड़े थे। वह तथा उनकी माखन चुराने के समय की जो मुद्रा थी उसकी शोभा आज भी मन में चुभी हुई है। ये अद्भुत शोभाएं ज्ञान को अपनाकर कैसे विस्मृत की जा सकती हैं ? परन्तु हाय ! उन्होंने इस पर विचार न करके यह ज्ञान हमारे लिए भेज दिया। जिन श्री कृष्ण के लिए हमने अपने कुल की प्रतिष्ठा को त्याग दिया उन्होंने हमारे लिए ऐसी बातें क्यों कह दीं ? सूर कहते हैं कि गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि उद्धव, तनिक सोचो तो सही गुणों के रस-सागर स्याम को छोड़कर घड़े के जल को भला कौन पीना चाहेगा ?

विशेष—(i) इस पद में रूपक अलंकार है।

(ii) सूर के अनुसार श्री कृष्ण की भक्ति वह है जिसे उपनिषदों में भूमा कहा है—
यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखंभूमात्वेव विजिज्ञासितव्य इति
(छान्दोग्य उपनिषद्)

ऊधो ! यह निस्चय हम जानी।
खोयो गयो नेह-नग उनपै, प्रीति-कोठरी भई पुरानी ॥
पहिले अधर-सुधा करि सींचो, दियो पोष बहु लाड़-लड़ानी।
बहुरै खेल कियो केसव-सिसु-गृहरचना ज्यों चलत बुझानी ॥
ऐसे ही परतीति दिखाई पन्नग कँचुरि ज्यों लपटानी।
बहुरो सुरति लई नहिं जैसे भँवर लता त्यागत कुम्हिलानी ॥
बहुरंगी जहँ जाय तहाँ सुख, एक रंग दुख देह दहानी।
सूरदास पसु धनी चोर के लायो चाहत दाना पानी ॥२०१॥

शब्दार्थ—नेह-नग—प्रेम रूपी रत्न। बुझानी—समझ में आ गई। दहानी—जल गई। पन्नग—सर्प।

व्याख्या—अपने प्रेम की दृढ़ता तथा श्री कृष्ण के प्रेम की कृत्रिमता का वर्णन करती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि अब हमें यह निश्चय हो चुका है कि कृष्ण से

नेह का हीरा खो गया है और वह प्रीति की कोठरी जिसमें वे आज तक रहे थे, पुरानी हो गई थी। अत. वे नई प्रीति-कोठरी की खोज में थे जो उन्हें अब प्राप्त हो गई। यदि ऐसा न होता तो वे भला उस प्रेम को कैसे विस्मृत कर देते जिसे उन्होंने अधरामृत से सींचकर बड़े लाड़-प्यार के साथ पाला था। वस्तुतः श्री कृष्ण ने उस प्रेम-सृष्टि को बच्चों के खेल के घरौंदे के समान समझकर उसे मिटा दिया और एक नये मार्ग पर चल दिये। उनकी प्रीति तो साँप की केंचुली के समान रही। जिस प्रकार सर्प पहले तो केंचुली को अपने शरीर से लगाये रहता है किन्तु पुरानी होने पर उसे छोड़ देता है उसी प्रकार कृष्ण पहले तो प्रेम करते रहे किन्तु जब वह प्रेम पुराना हो चला तो छोड़ भागे! जिस प्रकार कुम्हलायी हुई लताओं को छोड़कर भौंरा भाग जाता है उसी प्रकार इस पुरातन प्रीति को कृष्ण छोड़कर चलते बने! वस्तुतः बात यह है कि बहुरंगी लोग तो जहाँ भी जाते हैं वहीं सुखी रहते हैं, दुःख तो एकरंगी अर्थात् ऐकान्तिक प्रेम करने वालों को होता है जिनका शरीर प्रेमी के विरह में जलता ही रहता है। सूर कहते हैं कि गोपियों ने उद्धव से कहा कि कृष्ण का यह व्यवहार पशुओं जैसा है क्योंकि पशु धनी चोर के यहाँ जाकर दाना-पानी खाकर सन्तोष का अनुभव करता रहता है।

विशेष—इस पद में रूपक, उपमा और अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

> ऊधो! हम हैं तुम्हारी दासी।
> काहे को कटु बचन कहत हो, करत आपनी हाँसी॥
> हमारे गुनहि गाँठ किन बाँध्यो, हम पै कहा बिचार?
> जैसी तुम कीनी सो सब ही जानतु है संसार॥
> जो कछु भली बुरी तुम कहिहो सो सब हम सहि लैहैं।
> अपनो कियो आप भुगतैंगी दोष न काहू दैहैं॥
> तुम तो बड़े, बड़े के पठए, अरु सबके सरदार।
> यह दुख भयो सूर के प्रभु सुनि कहत लगावन छार॥२०२॥

शब्दार्थ—हाँसी—हँसी। गाँठि बाँधना—ग्रहण कर लेना। छार—राख।

व्याख्या—योगोपदेश पर खेद प्रकट करती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि हे उद्धव, हम तो आपकी दासी हैं। हम को कटु वचन सुनाकर व्यर्थ में अपनी हँसी कराते हो। आपने हमारे गुणों को गाँठ में क्यों नहीं बाँधा अर्थात् हमारे गुणों पर विचार क्यों नहीं किया? आपने हमारे कथन को न मानकर जो कुछ किया है उसे आज यह समस्त संसार जान रहा है। किन्तु जो कुछ भी हो हम तो, आप जो कुछ भी भला-बुरा कहेंगे, सब सहन ही कर लेंगी। अपने कर्म का फल हम अपने-आप भुगतेंगी किसीको उसका दोष नहीं देंगी। आप स्वयं बड़े हैं और फिर उन बड़ों के भेजे हुए हैं जो सबके सरदार हैं तो फिर आप पर दोष लगाया भी कैसे जा सकता है? हाँ, इतनी बात अवश्य है कि सूर के प्रभु श्याम ने जो हमें राख पोतने को कहा है तो क्या हम

उनकी आँखों में अब इतनी गिर गई हैं। इससे हमें बहुत दुःख हुआ है।

विशेष—चोप करि चन्दन चढ़ायो जिन अंगनि पै।
तिन पै बजाइ तूरि धूरि धरिबो कहौ॥ (रत्नाकर)

ऊधो! तुम जो कहत हरि हृदय रहत हैं।
कैसे होय प्रतीति क्रूर सुनि ये बातें जु सहत हैं॥
बासर-रैनि कठिन बिरहानल अंतर प्रान दहत है।
प्रजरि प्रजरि पचि निकसि धूम अब नयनन नीर बहत है॥
अधिक अवज्ञा होत, देह दुख मर्यादा न गहत है।
कहि! क्यों मन मानै सूरज प्रभु इन बातनि जु कहत है॥२०३॥

शब्दार्थ—प्रजरि—सुलगकर। अवज्ञा—अनादर। धूम—धुआँ।

व्याख्या—कृष्ण के अन्तर्यामी होने पर व्यंग्य करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव, तुम जो कहते हो कि हरि हृदय में निवास करते हैं, हम उस पर कैसे विश्वास कर लें? क्या वे इतने क्रूर हैं कि हृदय में बैठे-बैठे इन बातों को सुन रहे हैं और तनिक भी नहीं पिघलते। दिन-रात कठोर विरहानल भीतर ही भीतर प्राणों को जलाये डाल रहा है और जब प्राण भीतर सुलगते हैं तो कष्टदायक धुआँ उठता है जिससे नेत्रों से आँसू निकल आते हैं। यदि वे हमारी ऐसी दशा को देखकर भी चुपचाप भीतर बैठे हैं तो फिर यह तो बड़ी भारी अवज्ञा है। इन बातों को देखकर हे ऊधो, हमारा मन यह विश्वास कैसे कर सकता है कि सूर के प्रभु कृष्ण अन्तर्यामी हैं!

विशेष—ठीक ऐसी ही बात सूर ने एक पद में और भी कही है—
जो पै ऊधो! हिरदय माँझ हरी
तो पै इती अवज्ञा उन पै कैसे सही परी?

ऊधो! तुमहीं हो सब जान।
हमको सोई सिखावन दीजै नंदसुवन की आन॥
आमिष भोजन हित है जाके सो क्यों साग प्रमान।
ता मुख सेमि-पात क्यों भावत जा मुख खाए पान?
किगिरी-सुर कैसे सचु मानत सुनि मुरली को गान?
ता भीतर क्यों निर्गुण आवत जा उर स्याम सुजान?
हम बिन स्याम वियोगिनि रहि हैं जब लग महि घट प्रान।
सुख ता दिन तें होय सूर प्रभु ब्रज आवें ब्रजभान॥२०४॥

शब्दार्थ—जान—सुजान, चतुर। आन—शपथ। आमिष—माँस। हित—प्रिय। किगिरी—छोटी सारंगी। सुर—ध्वनि। लग—तक। ब्रजभान—कृष्ण।

व्याख्या—ऊधो जी को मनाती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे ऊधो, तुम तो सब जानते हो! तुम्हें नन्दनन्दन की शपथ है। तुम हमें वही शिक्षा दो जो हमारे लिए

उचित एवं हितकारी हो। तुम्हीं सोचो जिसे माँस-भोजन प्रिय लगता है वह शाक को खाना कहाँ तक पसन्द करेगा ? जिस मुख ने पान चबाये हों, भला उसे रेम के पत्ते कैसे अच्छे लग सकते हैं ? मुरली के मधुर गीतों को सुनने वालों को सारंगी सुनकर सन्तोष कैसे हो सकता है ? जिस हृदय मे चतुर स्याम निवास करते हैं उसमें भला निर्गुण कैसे आ सकता है ? अतः हे ऊधो, जब तक हमारे शरीर में प्राण हैं हम बिना स्याम के इस प्रकार ही वियोगिनी बनी रहेंगी। हमे तो सुख उसी दिन प्राप्त होगा जब व्रज में सूर के प्रभु व्रजभानु श्री कृष्ण आवेंगे।

विशेष—इस पद में प्रतिवस्तुपमा अलंकार है।

ऊधो ! यहै विचार गहौ।
कै तन गए भलो मानै, कै हरि ब्रज आय रहौ।।
कानन-देह बिरह-दव लागी इन्द्रिय-जीव जरौं।
बुझै स्याम-घन कमल-प्रेम मुख मुरली-बूंद परौ।।
चरन-सरोवर-मनस मीन-मन रहै एक रस रीति।
तुम निर्गुन बारु महं डारौ, सूर कौन यह नीति ? ।।२०५।।

शब्दार्थ—सरोवर-मनस—मानसरोवर। गहौ—ग्रहण कर लो। दव—दावानल।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से निवेदन करती हुई कहती हैं कि ऊधो, तुम हमारे इस विचार को ग्रहण कर लो। हमारा हित तो बस इसी में है कि या तो उनके वियोग मे यह शरीर मिट जावे या फिर हरि व्रज में आकर रहने लगें। हमारे शरीर रूपी वन मे विरह के दावानल के लगने से ये इन्द्रिय रूपी जीव जलने लगें तो फिर ये उस स्यामघन के आने पर ही शान्त हो सकेंगे, जब वे अपने मुख-कमल से प्रेमपूर्वक मुरली बजाकर माधुरी की बूंदें बरसावेंगे। हमारे मन रूपी मछलियाँ सदैव उन्हींके चरण रूपी मानसरोवर मे प्रेमसहित निवास करती हैं। परन्तु हे उद्धव, तुम इन्हें वहाँ से निकालकर निर्गुण की बालू मे पटक रहे हो। सूर कहते हैं कि गोपियों ने उद्धव से कहा कि यह तुम्हारी कौनसी रीति है अर्थात् यह तो बिलकुल अनीति है।

विशेष—इस पद मे सागरूपक एव परम्परित रूपक अलकार है।

ऊधो ! कत वे बातें चालीं ?
अति मीठी मधुरी हरि-मुख की है उर-अंतर साली।।
स्याम सघन तन सींची बेली, हस्तकमल धरि पाली।
अब ये बेलि सूखन लागीं, छाँड़ि दई हरि-माली।।
तब तो कृपा करत ब्रज ऊपर संग सता ब्रजबाली।
सूर स्याम बिन भरि न गई क्यों विरह विथा की घाली।।२०६।।

शब्दार्थ—चालीं—छेड़ी। साली—धँसी। ब्रजबाली—ब्रज की बालाएँ।

माली—मारी हुई।

व्याख्या—प्रकारान्तर से निर्गुण के औचित्य का प्रतिपादन करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव, प्राखिर ये बातें चली ही क्यों? यद्यपि ये बातें श्री कृष्ण के मुख से निकलने के कारण बड़ी मधुर हैं परन्तु इनसे हमारे हृदय को बहुत दुःख मिलता है। इस शरीर रूपी लताओं को कृष्ण ने स्नेह से खूब सींचकर अपने हस्त-कमलों से ही पाला-पोसा था, पर आज उस माली श्याम की अनुपस्थिति में ये उत्तरोत्तर सूखी जा रही हैं। जब वे यहाँ रहते थे तब व्रज पर वे बड़ी कृपा करते थे और इन ब्रज-बाला-लताओं को सदैव अपने साथ रखते थे। पर आज सूर के स्वामी श्याम के वियोग में इस निर्गुण का उपदेश सुन विरह-व्यथा से आहत होकर हम मर क्यों नहीं जातीं?

विशेष—इस पद में रूपक अलकार है।

ऊधो! जो हरि हितू तिहारे।
तौ तुम कहियो जाय कृपा कै जे दुख सबै हमारे ॥
तन तरुवर ज्यों जरति बिरहिनी, तुमदव ज्यों हम जारे।
नहिं सिरात, नहि जरत छार ह्वै सुलगि सुलगि भए कारे ॥
जद्यपि उमगि प्रेमजल भिजवत बरषि बरषि घन तारे।
जो सींचे यहि भाँति जतन करि तौ इतने प्रतिपारे ॥
कीर, कपोत, कोकिला, खजन बधिक-बियोग बिडारे।
इन दुःखन क्यों जियहि सूर प्रभु ब्रज के लोग बिचारे? ॥२०७॥

शब्दार्थ—सिरात—ठंडी होती है। तारे—आँख की पुतली रूपी बादल। इतने—इतने वृक्ष। प्रतिपारे—पाला-पोसा। बिडारे—नष्ट कर दिये। कीर—नासिका। कपोत—गर्दन। कोकिला—वाणी। खजन—आँखें।

व्याख्या—अपनी विरह-व्यथा का सन्देश देती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे उद्धव, यदि कृष्ण वास्तव में हमारा हित चाहते हैं तो आप कृपया हमारे सब दुःखों का वर्णन उनसे कर देना। तुम उनसे कह देना कि आपके इस योग-सन्देश के दावानल ने हमारे शरीर रूपी वृक्ष में आग लगा दी है। इस आग को बुझाने का प्रयत्न यद्यपि नयनों की पुतलियों के बादलों द्वारा प्रेमाश्रुओं की वर्षा द्वारा किया गया है किन्तु वह आग तब भी ठण्डी नहीं होती। न वह जलाकर भस्म ही करती है जिससे यह सारा किस्सा ही समाप्त हो जाय। वह तो निरन्तर यूँ ही सुलगती रहती है जिससे शरीर रूपी तरुवर काले पड़ गये हैं। ये वे ही वृक्ष है जिन्हें आपने बड़ी सावधानी से पाल-पोस कर इतना बड़ा किया था। इस भयकर सन्ताप से वृक्षों की समृद्धि और सौन्दर्य लुप्त हो गया है। इस शरीर रूपी वन से कीर (नासिका), कपोत (ग्रीवा), कोकिला (वाणी की मधुरता) और खजन (नेत्रों का सौन्दर्य) सभी को वियोग रूपी बहेलिये ने मारकर भगा दिया है। ऐसी दशा में हे उद्धव, तुम सूर के प्रभु श्याम से पूछना कि दुःखों

से पीड़ित ये बेचारे ब्रज के लोग कैसे और कितने दिनों तक जीवित रह सकेंगे ?

विशेष—(i) तन तरुवर, तुमदव, प्रेमजल, घनतारे और बधिक-वियोग में रूपक अलंकार और 'कीर कपोत कोकिला खंजन' में रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

(ii) चश्मे पुर आब हैं तिस पर भी जिगर जलता है।
क्या कयामत है कि बरसात में घर जलता है।।

ऊधो ! तुम आये किहि काज ?
हित की कहत अहित की लागत, बकत न आवै लाज ।।
आपुन को उपचार करौ कछु तब औरनि सिख देहु ।
मेरे कहे जाहु सत्वर ही, गहो सीयरे गेहु ।।
ह्यां भेषज नानाविधि के अरु मधुरिपु से हैं बैदु।
हम कातर डराति अपने सिर कहूं कलंक ह्वै कंदु ।।
सांची बात छाँड़ि अब झूठी कहो कौन विधि सुनि हैं ?
सूरदास मुक्ताफलभोगी हंस बज्रि क्यों चुनि हैं ? ।।२०८।।

शब्दार्थ—गेहु—पकड़ो। सियरे—शीतल। कंदु—कदाचित्। बज्रि—आग। सत्वर—शीघ्र। मधुरिपु—कृष्ण।

व्याख्या—उद्धव को फटकारती हुई गोपियाँ कहती हैं कि उद्धव, आखिर तुम यहाँ किसलिए आये हो ? हम तो तुमसे हित की बात कहती हैं किन्तु तुम्हें लगती हैं हमारी बातें बहुत बुरी। तुम तो व्यर्थ ही बकवास किये जा रहे हो और तुम्हें लज्जा का अनुभव भी नहीं होता। हमारे ख्याल से तो तुम शीघ्र ही पहले अपना इलाज कराओ और तब दूसरों को उपदेश देना। मेरा कहा मानो, तुम यहाँ से शीघ्र ही चले जाओ और ठण्डे-ठण्डे घर जा पहुँचो। वहाँ नगर में नाना प्रकार की औषधियाँ हैं, वहाँ तो कृष्ण जैसे वैद्य भी हैं। तुमने यहाँ देर लगा दी है, हमें भय है कि तुम यहीं मर न जाओ और कहीं हमारे मस्तक पर कलक न लग जाय। यदि आप स्वस्थ होते तो इतना अवश्य सोच लेते कि सत्य बात को छोड़ कर असत्य को किसी भी प्रकार कोई नहीं सुनेगा ! भला मोती चुगनेवाला हंस आग कैसे चुग सकता है ? उसी प्रकार हम सत्य बात को छोड़कर असत्य बात को कैसे अपना सकती हैं ?

विशेष—प्रस्तुत पद में निदर्शना अलंकार की छटा देखते ही बनती है।

ऊधो ! तुम कहियो हरि सों जाय हमारे जिय को दरद।
दिन नहिं चैन, रैन नहिं सोवत, पावक भई जुन्हैया सरद ।।
जब तें अक्रूर लै गए मधुपुरी, भई बिरह तन बाय छरद।
कीन्हीं प्रबल जगी अति,ऊधो! सोचन भइ जस पीरी हरद।
सखा प्रवीन निरंतर हो तुम तातें कहियत खोलि पग्द।
क्वाय रूप दरसन बिन हरि के सूर मूरि नहिं हियो सुरद ।।२०९।।

शब्दार्थ—बाय— बाई। दाद—दमन। हरद—हल्दी। परद—परदा। सुरद—सुहृद।

व्याख्या—कृष्ण के प्रति अपने अटूट प्रेम का वर्णन करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे ऊधो, तुम जाकर कृष्ण से हमारी पीर का वर्णन कर देना। उनसे कह देना कि तुम्हारे बिना गोपियों को न दिन में चैन है और न रात को नींद। तुम्हारे वियोग में शरद की ज्योत्स्ना भी दमन के समान सन्तापदायक हो रही है। जब से अक्रूर जी तुम्हें मथुरा लिवाकर ले गये हैं हमारे शरीर विरह-बाय से पीड़ित हैं जिसमें दमन आदि उपद्रवों ने हमें परेशान कर दिया है। तुमने निर्गुण का सन्देश देकर उसे और भी प्रचंड बना डाला है। विरहाग्नि से शरीर हल्दी के समान पीला हो गया है। उद्धव! तुम उनके अभिन्न प्रवीण मित्र हो, इसीलिए हम तुम से कोई भी दुराव न रखकर सब कुछ कह देती हैं। इस भयानक वायु का प्रतिकार हरि-दर्शन रूपी काढ़े के बिना नहीं हो सकता और कोई अब इस कार्य को नहीं कर सकती।

विशेष—अतिशयोक्ति, रूपक एवं उपमा अलंकार है।

ऊधो! क्यों आए ब्रज धावते?
सहायक सखा राजपदवी मिलि दिन दस कछुक कमावते॥
कह्यो जु धर्म कृपा करि कानन सो उत बसिकै गावते।
गुरु निर्वात देति अलिन जे लोता सकल अघावते॥
इत कोउ कछू न जानत हरि बिन, तुम कत जुगति बनावते?
जो कछु कहत सबन सों तुम सों अनुभव कै सुख पावते॥
मनमोहन बिन देखे कैसे उर सों औरहि चाहते?
सूरदास प्रभु दरसन बिनु वह बार बार पछितावते॥२१०॥

शब्दार्थ—निर्वति—पूजा करके। धावते—दौड़कर। अघावते—सन्तोष पाते।

व्याख्या—उद्धव के निर्गुणोपदेश की निस्सारता का प्रतिपादन करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे ऊधो, तुम दौड़कर व्रज क्यों आ गये? जब राजा कृष्ण के सहायक सखा की राजपदवी तुमने प्राप्त की थी तो वहीं कुछ दिन ठहरकर कमाई करते। जिस धर्म को तुम हमारे कानों में कह रहे हो उस धर्म का यदि वहीं रहकर गान करते तो वहाँ के लोग तुम्हें अपना गुरु मानकर सत्कार करते और तुम्हारे दर्शन करके कुछ सन्तोष प्राप्त करते। यहाँ तो श्री कृष्ण के बिना कोई किसी को भी नहीं जानता है, तुम क्यों दलीलें गढ़-गढ़कर सिर फिरा रहे हो? यदि वहाँ रहते तो जिसका उपदेश तुम दूसरों को दे रहे हो उसकी स्वयं अनुभूति करके सुख पाते। यहाँ हमारी समझ में तो यही नहीं आता कि तुम मनमोहन के दर्शन के अतिरिक्त हृदय से किसी और को कैसे चाहते हो? सूर कहते हैं कि यह सुन उद्धव श्री कृष्ण दर्शन के [illegible] के कारण बार-बार पश्चात्ताप करने लगे।

विशेष—गोपियों के दृढ़ प्रेम और मर्मस्पर्शी उक्तियों से ऊधो जी इतने प्रभावित आखिर हो ही गये कि वे कृष्ण के दर्शनों की उत्कण्ठा करने लगे। उन्हें अब प्रेम-मार्ग की श्रेष्ठता प्रतीत हो ही गई। किन्तु देखना यह है कि यह प्रभाव रहेगा कितनी देर!

ऊधो! यहै प्रकृति परि आई तेरे।
जो कोउ कोटि करै कैसे हू फिरत नहीं मन फेरे॥
जा दिन तें जसुदागृह आए मोहन जादव राई।
ता दिन तें हरिदास परस बिनु और न कछु सुहाई॥
खेलत,हँसत,कृपा अवलोकत,जुग छन भरि सब जात।
परम तृप्त सबहिन तन होती, लोचन हृदय अघात॥
जागत, सोवत, स्वप्न स्यामघन सुंदर तन प्रति भावै।
सूरदास अब कमलनयन बिनु बातन ही बहरावै॥२११॥

शब्दार्थ—प्रकृति—आदत। जुग—युग। छन—क्षण। बहरावै—बहलाना।

व्याख्या—ऊधो जी की दृढ़ता पर व्यंग्य करती हुई गोपियाँ कहती हैं, तुम्हारी तो यह प्रकृति ही पड़ गई है। चाहे कोई करोड़ो उपाय क्यों न करे पर तुम्हारा मन उस निर्गुण से नहीं हटता। तुम्हें नहीं मालूम कि जिस दिन से तुम्हारे यदुराज और हमारे मोहन यशोदा के घर आये उसी दिन से हमें उनके अतिरिक्त और कुछ अच्छा नहीं लगता। उनके साथ हँसते-खेलते तथा उनकी कृपा-दृष्टि का सुख भोगते हुए युग भी क्षण के सदृश व्यतीत हो जाते थे। सभी के शरीर अत्यन्त तृप्त और आँखें तथा हृदय भी छके रहते थे। हमें तो जागृत, स्वप्न तथा सुषुप्ति सभी अवस्थाओं में उन कृष्ण के शरीर की सुन्दर शोभा ही बस सुन्दर प्रतीत होती है। सूर कहते हैं कि गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि यहाँ तो दशा है ऐसी और तुम उन कमलनयन की बातें न करके और बातों में ही बहलाना चाहते हो।

विशेष—जिस प्रकार गोपियाँ प्रेम-मार्ग पर दृढ़ हैं उसी प्रकार ऊधो जी ने भी शायद गोपियों को निर्गुणोपासक बनाने की कसम खा ली है।

ऊधो! मन नाहीं दस बीस।
एक हुतो सो गयो हरि के संग

चला गया हरि के साथ। तुम्हीं बताओ कि तुम्हारे ब्रह्म की आराधना कौन से मन से करें। हम सब उनके वियोग में अत्यन्त शिथिल हो गई हैं। हमारी दशा ऐसी हो गई है जैसे शरीर के बिना सिर की हो जाती है। हमारा श्वास केवल इसलिए चल रहा है और करोड़ों वर्ष तक जीवित रह सकती हैं क्योंकि हमें उनसे मिलने की आशा है। तुम तो श्यामसुन्दर के मित्र हो और सब प्रकार के योगों के लिए समर्थ हो। हमारे मन को तो तुम रसिक श्री कृष्ण सम्बन्धी बातों से भर दो। हमें इसके अतिरिक्त और कुछ अच्छा नहीं लगता।

विशेष—सूरदास जी का काव्य संगीत और कविता का सुन्दर समन्वय है। प्रस्तुत पद गेयात्मकता का सुन्दर उदाहरण है।

> ऊधो ! तुम सब साथी भोरे।
> मेरे कहे बिलग मानौगे, कोटि कुटिल लै जोरे॥
> वै अक्रूर क्रूर कृत तिनके, रीते भरे, भरे गहि ढोरे।
> वै घनस्याम, स्याम अंतरमन, स्याम काम मँह बोरे॥
> ये मधुकर द्रुति निर्गुन गुनते देखे फटकि पछोरे।
> सूरदास कारन संगति के कहा पूजियत गोरे ? ॥२१३॥

शब्दार्थ—रीते—रिक्त। कारन—कालो की। भोरे—भोले। बिलग—बुरा।

व्याख्या—ऊधो जी को अक्रूर बताती हुई और कृष्ण को खरी-खोटी सुनाती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि तुम सब साथी बड़े भोले हो। हमारे कहने का तो तुम बुरा मान जाओगे पर वास्तविकता यह है कि तुम लोग सीमा से अधिक कुटिल एकत्र हो गये हो। एक का नाम अक्रूर है पर कार्य से क्रूर है जो नित्य रीतों को भरते हैं और भरों को ढुलकाते रहते हैं। दूसरे है श्याम जो मन से तो काले हैं ही और काली अर्थात् बुरी कामनाओं में डूबे रहते हैं। एक आप हैं जो भौंरों की कान्ति धारण करके निर्गुण को गुनगुनाते रहते हैं। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हमने खूब विचार कर देख लिया कि काले सब गुणों से भरे हुए हैं, गोरे इनकी समता कर ही कैसे सकते हैं ? कुटिलता में इन दोनों की समता ही क्या !

विशेष—प्रस्तुत पद में लोकोक्तियों का प्रयोग देखने योग्य है।

> ऊधो ! समुझावै सो बैरनि।
> रे मधुकर ! निसिदिन मरियतु है कान्ह-कुँवर-औसेरनि॥
> चित चुभि रही मोहनी मूरति, चपल दृगन की हेरनि।
> तन मन लियो चुराय हमारो वा मुरलि की टेरनि॥
> बिसरति नाहिं सुभग तन-सोभा, पीतांबर की फेरनि।
> कहत न बनै काँध लकुटी धरि छबि बन गायन घेरनि॥
> तुम प्रबीन, हम बिरहि, बतावत आँखि मूँदि अटभेरनि।
> जिहि उर बसत स्यामघन सो क्यों परै मुनिन के फेरनि॥

तुम हमको कहँ लाए, ऊधो ! जोग-दुखन के ढेरनि।
सूर रसिक बिन क्यों जीवत हैं निर्गुन कठिन करेरनि ? ॥२१४॥

शब्दार्थ—फेरनि—पहनावा। घेरनि—एकत्रित करना। करेर—कड़ा। श्रौसेरनि—बाधा, दुःख। भटभेरनि—मुठभेड़। भेरनि—झंझट।

व्याख्या—योग की अनुपादेयता का वर्णन करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे ऊधो, जो तुम्हें समुझावे वही तुम्हारी बैरिन है। हे भौंरे, यहाँ तो दिन-रात कुँवर कृष्ण के वियोग-जनित दुःख से हम मर रही हैं। हमारे हृदय में वही मोहिनी मूर्ति तथा चंचल नेत्रों की चितवन चुभ रही है। उस मुरली की ध्वनि ने हमारा तन और मन सभी कुछ हर लिया है। उस सुन्दर शरीर की शोभा तथा फिर उस पर पीताम्बर की फेंट को भुलाना कठिन है। कंध पर लकुट रखकर वन में गायों को एकत्रित करने की शोभा को कहना बड़ा कठिन है। हे ऊधो ! तुम तो बड़े निपुण हो, हमको विरही बताते हो परन्तु जिनके हृदय में घनश्याम बस रहे हैं वे भला आपकी इस मुक्ति के झंझट में क्यों फँसेंगे ? हे ऊधो ! तुम तो हमारे लिए योग के ढेर ले आये हो। भला हम रसिक शिरोमणि कृष्ण के बिना निर्गुण की कठिन चोटों से कैसे बच सकेंगी ?

विशेष—प्रस्तुत पद में पहले कृष्ण के प्रति प्रणय निवेदन किया है और फिर योग की अनुपादेयता पर सकेतात्मक रूप से प्रकाश डाला गया है।

ऊधो ! स्यामहिं तुम लै आओ।
ब्रज जन-चातक प्यास मरत हैं, स्वातिबूँद बरसाओ॥
घोष-सरोज भए हैं संपुट, दिनमनि ह्वै बिगसाओ।
ह्याँ तें जाव बिलंब करौ जनि हमरो दसा सुनाओ॥
जो ऊधो हरि यहाँ न आवें, हमको तहाँ बुलाओ।
सूरदास प्रभु बेगि मिलाए संतन में जस पाओ॥२१५॥

शब्दार्थ—घोष—ग्वालों का गाँव। संपुट—बंद। दिनमनि—सूर्य।

व्याख्या—कृष्ण को लिवा लाने का अनुरोध करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे ऊधो, तुम श्याम को यहाँ लिवा कर ले आओ। यहाँ ब्रज-निवासी रूपी चातक दर्शन रूपी प्यास से मरे जा रहे हैं अतः तुम इनके लिए दर्शन रूपी स्वातिबूँद की वर्षा कर दो। घोष रूपी कमल बंद हो गये हैं, कृष्ण रूपी सूर्य को लाकर उन्हें विकसित कर दो। तुम यहाँ से जाने में विलम्ब मत करो और तुरन्त जाकर कृष्ण से हमारी दशा कह दो। हे ऊधो, यदि हरि यहाँ न आ सकें तो फिर हमको वहाँ बुला लो। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हे ऊधो, हमको कृष्ण से जल्दी से मिला दो और इस प्रकार इस कार्य द्वारा सत्पुरुषों का यश प्राप्त कर लो।

विशेष—इस पद में रूपक एवं रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

ऊधो जू ! जोग तबहिं हम जान्यो।
जा दिन तें सुफलकसुत के संग रथ ब्रजनाथ पलान्यो॥
जा दिन तें सब छोह-मोह मिटि सुत-पति-हेत भुलान्यो।
तजि माया संसार सार को ब्रज बनितन ब्रत ठान्यो॥
नयन मुँदे, मुख रहे मौन धरि, तन तपि तेज सुखान्यो।
नंदनँदन-मुख मुरलीधारी, यहै रूप उर आन्यो॥
सोउ संजोग जिहि भूलें हम कहि तुमहुँ जोग बखान्यो।
ब्रह्मा पचि पचि मुए प्रान तजि तऊ न तिहि पहिचान्यो॥
कहो सु जोग कहा लै कीजै ? निर्गुन परत न जान्यो।
सूर बड़े निज रूप स्याम को है उर माँहि समान्यो॥२१६॥

शब्दार्थ—सुफलकसुत—अक्रूर। पलान्यो—चढ़ गये थे। आन्यो—समा गया। मुए—मर गये।

व्याख्या—योग पर व्यंग्य करती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि हे ऊधो, हमने तो योग का पाठ उसी दिन पढ़ लिया था जब अक्रूर के साथ श्री कृष्ण रथ पर चढ़कर मथुरा चल दिये थे और जिस दिन से हमने सब प्रकार की माया-ममता त्याग कर अपने बेटे और पति तक की ममता को भुला दिया था। उसी दिन से ब्रजांगनाओं ने सांसारिक माया-मोह को त्यागकर इस अटल व्रत का दृढ़ संकल्प कर लिया था। उसी दिन से हमारे नेत्र बन्द हो गये, मुख ने मौन धारण कर लिया और शरीर ने सन्तप्त होकर अपनी कान्ति और तेज को सुखा डाला। मुख पर मुरली धरने वाले नंदनंदन का रूप हमारे हृदय में समा गया है। इस संयोग को हम कभी भूल ही नहीं सकतीं। तुमने भी योग का जो वर्णन किया है वह भी ऐसा ही है। उसमें भी ऐसी ही दशा होती है किन्तु योग की प्रक्रिया बहुत कठिन है। ब्रह्मा भी परेशान होकर मर मिटे किन्तु वे भी उस परम ज्योति को न पहचान सके। जिस योग द्वारा निर्गुण को जान ही नहीं सकते, उस योग को लेकर हम क्या करेंगी ? हमें तो वही संयोग अच्छा लगता है जिसके द्वारा हमने अपने हृदय में श्याम को बैठा लिया है।

विशेष—भक्ति और योग दोनों का लक्ष्य एक ही है। एक से अभीष्ट की प्राप्ति सरल है तथा दूसरे से असंभव। तो फिर कौनसा मार्ग ग्रहण करना चाहिए ? पहला अर्थात् भक्ति-मार्ग और सो वह गोपियों ने ग्रहण कर ही रखा है।

ऊधो ! वे सुख अबै कहाँ ?
छन छन नयनन निरखति जो मुख फिरि मन जात तहाँ॥
मुख मुरली, सिर मोर पखौआ उर, घुँघुचिन को हारु।
आगे धेनु रेनु तन-मंडित तिरछी, चितवनि चारु॥
राति-द्यौस तब संग आपने, खेलत, बोलत, खात।
सूरदास यह प्रभुता चितवत कहि न सकति वह बात॥२१७॥

(c.)

शब्दार्थ—पखौमा—पंख। हारू—हार। चारू—चाल। द्यौस—दिन।

व्याख्या—प्रतीत के सुख का स्मरण करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे ऊधो, अब वे पहले जैसे सुख हमे कहाँ प्राप्त हैं? क्षण-प्रतिक्षण उस शोभाशाली मुख को देखकर जो प्रानन्द माया करता था वह प्रब कहाँ? प्राज भी भटक कर मन उसी प्रानन्द पर जा प्रटकता है। वह सुन्दर रूप, मुख में मुरली, सिर पर मयूर पंख और वक्षस्थल पर पहना हुमा घुँघचियों का हार धारण करके धूल-धूसरित होकर जब वे गैयों को भागे करके चलते थे और सुन्दर बाँके कटाक्ष फेंकते थे। ऐसे प्रनुपम शोभाशाली तब रात-दिन प्रपने साथ खेलते-खाते और बतलाते थे। सूर कहते हैं कि गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि उन प्रतीत प्रामोद-प्रमोदों का वर्णन भी प्राज हम नहीं कर सकतीं क्योंकि हमें उनके शाही भय को देखकर कुछ सकोच का प्रनुभव होता है।

विशेष—प्रतीत के सुखों का स्मरण गोपियों को निश्चय ही व्याकुल एवं परम अधीर बना देता होगा।

> कहि ऊधो! हरि गए तजि मथुरा कौन बड़ाई पाई।
> भुवन चतुर्दस की बिभूति, वह नृप को जूठि पराई॥
> जो यह काज करै ताको सेवक स्रुति पढ़ै बताई।
> सेवत सेवत जन्म घटावत करत फिरत निठुराई॥
> तुम तौ परम साधु अंतरहित जनि कछु कहौ बनाई।
> सूर स्याम मन कहा बिचारयो, कौन ठगौरी लाई॥२१८॥

शब्दार्थ—जूठि—भुक्त। स्रुति—वेद। निठुराई—निष्ठुरता। ठगौरी—ठगना।

व्याख्या—श्री कृष्ण के ब्रज-परित्याग पर दुःख प्रगट करती हुई गोपियाँ उद्धव से प्रश्न करती हैं कि हे ऊधो, भाखिर बताभो तो सही कि कृष्ण ने ब्रज को त्याग कर मथुरा को जो प्रपनाया है, इससे उन्हें कौनसा यश प्राप्त हुआ है। वे तो चौदह भुवनों की सम्पत्ति के मालिक हैं उन्हें वह दूसरे राजा का भुक्त राज्य मिल गया तो क्या हुमा! जो ऐसा कार्य करता है क्या उसी का प्रनुचर वेद उसके महत्व का वर्णन करता है। यदि ऐसा है तो वह श्रुति व्यर्थ में ही उसकी सेवा में प्रपना जीवन-यापन कर रहा है। यह तो उसकी सरासर क्रूरता ही है। किन्तु ऊधो! तुम तो बड़े सज्जन हो, तुम्हें अपने मन के छल को छोड़ देना चाहिये। कम से कम तुम तो बातें मत बनाभो। भाखिर सूर के स्वामी कृष्ण ने क्या विचार कर यह कार्य किया है। ऐसा लगता है कि उन्हें किसी ने बहका दिया है।

विशेष—चौदह भुवनों के स्वामी कृष्ण का परायी भुक्त राज्यश्री पर इतना मुग्ध होना गोपियों की समझ में यदि नहीं भाता तो इसमें भाश्चर्य ही क्या है!

> ऊधो! जाय बहुरि सुनि भावहु कहा कह्यो है नदकुमार।
> यह न होय उपदेस स्याम को कहत लगावन छार॥

निर्गुन ज्योति कहा उन पाई सिखवत बारबार।
कान्हिंहि करत हुते हमरे अंग अपने हाथ सिंगार॥
व्याकुल भए गोपालहिं बिछुरे गयो गुन ज्ञान संभार।
तातें ज्यों भावै त्यों बकत हो, नाहीं दोष तुम्हार॥
बिरह सहन को हम सिरजी हैं, पाहन हृदय हमार।
सूरदास अंतरगति मोहन जीवन-प्रान-अधार॥२१६॥

शब्दार्थ—पाहन—पत्थर, कठिन। अधार—अमूर्त। सिरजी—बनाई गई है।

व्याख्या—योग को रसिक शिरोमणि कृष्ण की प्रकृति के विरुद्ध बताती हुई गोपियाँ ऊधो से व्यंग्यपूर्वक कहती हैं कि हे ऊधो, तुम फिर से जाकर कृष्ण से उनका संदेशा सुनकर आओ। यह जो तुम हमें भभूत लगा कर योग-साधना के लिए कह रहे हो, यह श्याम का उपदेश नहीं हो सकता। उन्हें यह निर्गुण-ज्योति कहाँ से प्राप्त हो गई जिसका वर्णन आप हमसे बार-बार कर रहे हैं। अभी कल की ही बात है कि वे अपने हाथों से हमारे अंगों का बनाव-शृंगार किया करते थे। हमारा तो विचार है कि तुम गोपाल से अलग होकर अपनी सारी ज्ञान-निधि को ही खो बैठे हो। यही कारण है कि जो आपके मन में आता है सो बक देते हो। किन्तु यह तुम्हारा दोष नहीं है, उसका तो वियोग ही ऐसा है। उसके वियोग में तो मनुष्य पागल हो ही जाता है। इसके सहन करने के लिए तो विधाता ने हमें ही रचा है। देख रहे हो न, वियोग में भी होश की बातें कर रही हैं। धन्य है हमारी पत्थर की छाती को! सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हम जो यह सब स्वस्थ होकर सहन कर रही हैं उसका भी श्रेय उन्हीं को है। वे ही हमारे घट के भीतर हमारे प्राण और जीवन के आधार हैं।

विशेष—वस्तुतः भगवान् का वियोगी पागल ही हो जाता होगा तभी तो कबीर ने भी कहा है—

'रामबियोगी न जियै, जियै तो बौरा होहि।'

ऊधो! कह मत दीन्हो हमहिं गोपाल?
आवहु री सखि! सब मिलि सोचें ज्यों पावैं नंदलाल॥
घर बाहर तें बोलि लेहु सब जावदेक ब्रजबाल।
कमलासन बैठहु री माई! मूँदहु नयन बिसाल॥
षटपद कही सोऊ करि देखी, हाथ कछु नहिं आई।
सुंदरस्याम कमलदल लोचन नेकु न देत दिखाई॥
फिरि भई मगन बिरह सागर में काहुहि सुधि न रही।
पूरन प्रेम देखि गोपिन को मधुकर मौन गही॥
कहुँ धुनि सुनि स्रवननि चातक की प्रान पलटि तब आए।
सूर सु अबकै टेरि पपीहै बिरहिन मृतक जिवाए॥२२०॥

शब्दार्थ—षटपद—भौंरा। नेकु—तनिक भी। जिवाए—जीवित कर दिया।

व्याख्या—उद्धव के निर्गुणोपदेश की खिल्ली उड़ाती हुई गोपियाँ उनसे व्यंग्य-पूर्वक पूछती हैं कि हे ऊधो, गोपाल ने हमारे लिए क्या सलाह दी है ? तब एक गोपी ने दूसरी गोपी से कहा कि आओ सखी ! मिलकर नंदनंदन से मिलने की युक्ति सोचें। देखो, घर और बाहर जितनी भी ब्रजबालायें हैं सबको बुला लो और पद्मासन बांध कर अपने नेत्र बन्द करके बैठ जाओ। अरे हमने तो इन भौंरे महाशय का कहना भी करके देख लिया किन्तु हमारे हाथ तो जब भी कुछ नहीं लगा। कमलदललोचन श्याम के दर्शन तो तब भी नहीं हुए। सूर कहते हैं कि इस प्रकार प्रलाप करती हुई वे गोपियाँ विरह-सागर में ऐसी डूबीं कि किसी को कुछ भी होश नहीं रहा। गोपियों के पूर्ण प्रेम को देखकर मधुकर महाशय भी चुप रह गये। तभी कहीं से पपीहे की 'पी पी' की ध्वनि उनके कानों में पड़ी और उनके मृतप्राय शरीर में प्राण-से पलट आये। सूर कहते हैं कि हे पपीहे, तू 'पी' की पुकार फिर से कर, तूने तो मृत विरहिणियों को पुनर्जीवित कर दिया।

विशेष—सखी री चातक मोहि जियावत।

जैसेहि रैनि रटति हौं पिय पिय तैसे ही वह गावत।

वस्तुत. पपीहे की 'पी पी' की आवाज में बड़ा बल होता है।

ऊधो ! ते कि चतुर पद पावत ?
जे नहिं जानें पीर पराई है सर्वज्ञ कहावत ।।
जो पै मीननीर तें बिछुरै को करि जतन जियावत ?
प्यासे प्रान जात हैं जल बिनु सुधा समुद्र बहावत ।।
हम विरहिनी स्यामसुंदर की तुम निर्गुनहि जनावत ।
ये दृग मधुप-सुमन सब परिहरि कमल बदन-रस भावत ।।
कहि पठवत सदेसनि मधुकर ! कत बकवाद बढ़ावत ?
करौ न कुटिल निठुर चित अंतर सूरदास कवि गावत ।।२२१।।

शब्दार्थ—जनावत—बताते हो। बढ़ावत—बढ़ाते हो। कुटिल—क्रूर।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से प्रश्न करती है कि हे ऊधो, क्या वे भी कभी चतुर कहला सकते हैं जो परायी व्यथा को तो जानते नहीं पर कहलाते सर्वज्ञ हैं ? यदि मीन जल से बिछुड़ जायं तो क्या उन्हें कोई किसी यत्न द्वारा जीवित कर सकता है ? उनके लिए ठीक यत्न तो यही है कि उन्हें फिर से जल में डाल दिया जाय। किसी के प्यास के मारे प्राण निकले जा रहे हों उसे निकट रखे हुए पानी को न बता कर सुदूर देश में स्थित अमृत का समुद्र बताने मे कौनसी बुद्धिमानी है ? हम विरहिणी हैं श्यामसुन्दर की, पर आप हमें उपदेश दे रहे हैं निर्गुण का। हमारे नयन रूप भ्रमर सब फूलों को छोड़ कर उसी कमलमुख के रस को पसन्द करते हैं। यह सब जानते हुए भी वे हमारे लिए ये सन्देश क्यों भेज रहे हैं और मधुकर जी, आप क्यों बकते चले जा रहे है ? सूर कहते हैं कि हे कुटिल, तुम अपने मन को इतना कठोर मत बनाओ।

विशेष—इस पद मे रूपक एवं प्रतिवस्तूपमा अलंकार है।

ऊधो ! भली करी अब आए।
बिधि-कुलाल कीने काँचे घट ते तुम आनि पकाए॥
रंग दियो हो कान्ह साँवरे, अँग अँग चित्र बनाए।
गलन न पाये नयन नीर तें अवधि-अटा जो छाए॥
ब्रज करि अँवाँ, जोग करि ईंधन सुरति-अगिनि सुलगाए।
फूँक उसास, बिरह परजारनि, दरसन-आस फिराये॥
भए संपूरन भरे प्रेम-जल, छुवन न काहू पाये।
राजकाज तें गए सूर सुनि, नँदनंदन कर लाए॥२२२॥

शब्दार्थ—बिधि-कुलाल—विधाता रूपी कुम्हार। घट—घड़ा। कर लाए—काम आये।

व्याख्या—गोपियाँ ऊधो से कहती है कि अच्छा ही किया जो आप इस समय पधारे। ब्रह्मा रूपी कुम्हार ने जिन कच्चे घड़ों का निर्माण किया था उन्हें आपने आकर पका दिया। उन कच्चे घड़ों को श्याम ने रंग दिया था तथा उनके अंग-प्रत्यंगों पर चित्र बनाये थे। वे कच्चे घड़े नयनाश्रुओं के जल से गलने नहीं पाये क्योंकि वे आज दिन तक कृष्ण के आगमन अवधि रूपी अट्टे पर बिल्कुल सुरक्षित रखे रहे थे। आज उन कच्चे घड़ों को आपने ब्रज के आँवों में रख कर योग के ईंधन और स्मरण की आग लगा दी। फिर वह अनल हमारे अधंश्वासों की फूंक से विरह की लपटें उड़ाकर जल उठी। आपने उन घड़ों को अच्छी प्रकार पकाने के लिए दर्शन की आशा से प्रतिकूल करके फिरा दिया। अब ये सब पक कर तैयार हो गये हैं और प्रेम-जल से ऊपर तक भर रहे हैं। इन्हें और कोई स्पर्श भी नहीं कर सकता। सूर कहते हैं कि गोपियों ने उद्धव से कहा कि ये जल भरे घड़े राजकार्य से गये हुए केवल नंदनंदन के मंगल कार्य के लिए सुरक्षित हैं। अन्य किसी का इन पर अधिकार नहीं।

विशेष—इस पद में सांगरूपक अलंकार है।

ऊधो ! कुलिस भई यह छाती।
मेरो मन रसिक लग्यो नँदलालहि, झखत रहत दिन राती॥
तजि ब्रजलोक, पिता अरु जननी, कंठ लाय गए काती।
ऐसे निठुर भए हरि हमको कबहुँ न पाई पाती॥
पिय पिय कहत रहत जिय मेरो ह्वै चातक की जाती।
सूरदास प्रभु प्रानहि राखहु ह्वै कै बूँद-सवाती॥२२३॥

शब्दार्थ—काती—छुरी। सवाती—स्वाति। कुलिस—वज्र।

व्याख्या—अपनी प्रचंड विरह-व्यथा का वर्णन करती हुई राधा उद्धव से कहती हैं कि हे ऊधो, हमारी छाती बिल्कुल वज्र बन गई है जो इतनी आपत्ति में भी विदीर्ण नहीं हो जाती। मेरा मन रसिक शिरोमणि नंदलाल से लगा है, अतः मैं दिन-रात झखती रहती हूं। वे तो ब्रज के लोगों को तथा माता-पिता को त्याग कर क्या गये मानो हमारे गले पर छुरी ही फेर गये। अब तो वे इतने निष्ठुर हो गये कि हमारे पास कभी

कोई पत्र तक नहीं भेजा। हमारा हृदय सदैव चातक के समान पी-पी रटता रहता है। हे सूर के स्याम, तुम अब स्वाति नक्षत्र की बूंद बन कर इन चातक-प्राणों की रक्षा करो।

विशेष—परम्परित रूपक अलंकार है।

ऊधो! कहु मधुवन की रीति।
राजा ह्वै ब्रजनाथ तिहारे कहा चलावत नीति?
निसिलौं करत दाह दिनकर ज्यों हुती सदा ससि सीति।
पुरवा पवन कह्यो नहिं मानत गए सहज बपु जीति॥
कुब्जा-काज कंस को मारयो, भई निरंतर प्रीति।
सूर विरह ब्रज भलो न लागत जहाँ ब्याह तहँ गीति॥२४॥

शब्दार्थ—निसिलौं—रात-भर। सीति—शीत। पुरवा—पूर्व से आने वाली वायु।

व्याख्या—श्री कृष्ण के चरित्र पर व्यंग्य करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव, मथुरा की रीति तुम हमें बताओ, हमारी समझ में नहीं आ रही है। तुम्हारे ब्रजनाथ राजा होकर भी क्या अनोखी रीति अपनाये हुए हैं। जो चन्द्रमा सदैव शीतल था वह आजकल रात्रि को सूर्य के समान दाहक हो रहा है। इधर पुरवा हवा भी हमारा कहना नहीं मानती। हमारे शरीरों को पस्त किये देती है। उनके पड़ोस में ही ये सब अनीतियाँ हो रही हैं और वे चुपचाप बैठे तमाशा देख रहे हैं। कंस को उन्होंने अवश्य मारा है किन्तु क्या लोकोपचार के लिए? नहीं, उन्होंने तो कुब्जा को हथियाने के लिए मारा था। प्रमाण यह कि अब देखो इन दोनों में कितनी प्रीति हो रही है। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हे उद्धव, विरह की संकटपूर्ण स्थिति में ब्रज में हमें कुछ भी अच्छा नहीं लगता। गीत तो वहीं अच्छे लगा करते हैं जहां विवाह हो।

विशेष—इस पद में अतिशयोक्ति अलंकार है।

ऊधो! काल-चाल चौरासी।
मन हरि मदनगोपाल हमारो बोलत बोल उदासी॥
एते पै हम जोग करहिं क्यों लै अविगत अविनासी।
गुप्त गोपाल करी बनलीला हम लूटी सुखरासी॥
लोचन उमगि चलत हरि के हित बिन देखे बरिसा सी।
रसना सूर स्याम के रस बिनु चातकहू तें प्यासी॥२२५॥

शब्दार्थ—चौरासी—अनेक प्रकार की। हरि—हर कर।

व्याख्या—योगोपदेश को अपने लिए दुःखदायी बताती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे ऊधो, काल की गति अनेक हैं। देखो अपने मदनगोपाल ने पहले तो हमारा मन चुरा लिया और अब इस प्रकार की उदासीनता की बातें की जा रही हैं। अब हमें अविगत और अविनाशी ब्रह्म की प्राप्ति के लिए योग की शिक्षा दी जा रही है। पहले तो

छिप-छिपकर वन में लीलायें कीं और खूब सुख लूटा और अब यह शुष्क उपदेश किया जा रहा है। इन बातों को सोचकर हरि के लिए हमारे नेत्र उमड़ आते हैं उन्हें न पाकर वर्षा ऋतु की भाँति बरसने लगते हैं। हमारी वाणी सूर के स्वामी के रस के बिना चातक से भी अधिक प्यासी है।

विशेष—पांचवीं पंक्ति में पूर्णोपमा तथा छठी पंक्ति में प्रतीप अलंकार है।

ऊधो ! सरद समयहू आयो।
बहुत दिवस रटत चातक तकि तेउ स्वाति-जल पायो॥
कबहुँक ध्यान धरत उर-अन्तर मुख मुरली लै गावत।
सो रस रास पुलिन जमुना को ससि देखे सुधि आवत॥
जासों लगन-प्रीति अंतरगत औगुन गुन करि भावत।
हमसों कपट, लोक-डर तातें सूर सनेह जनावत॥२२६॥

शब्दार्थ—लोक-डर—संसार के लोगों के कथनों का भय। पुलिन—त[illegible]
जनावत—छिपाते हैं।

व्याख्या—अतीत का स्मरण करके श्री कृष्ण-प्रेम के लिए उपालम्भ देती [illegible] गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव, लो अब यह शरद ऋतु भी आ गई। बहुत दि[illegible] से रटन्त लगाते हुए एकटक देखते हुए चातक को भी स्वाति-बूंद प्राप्त हो गई। [illegible] ध्यान आता है कि कभी हमारे प्रियतम भी मुख पर मुरली रख कर गाया करते थे। [illegible] चन्द्रमा को देख कर यमुना के तटों पर किये हुए मधुर रासों की स्मृति हो उठती है [illegible] जिससे मन लगा होता है उसके अवगुण भी गुण प्रतीत होते हैं। सूर कहते हैं [illegible] गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि कृष्ण को लोकापवाद का भय है कि कहीं लोग यह न क[illegible] कि इनके मित्र गंवार हैं। इसीलिए अब वे प्रेम को राजा होने पर छिपा रहे हैं।

विशेष—कृष्ण जी ने शरद ऋतु की पूर्णिमा को गोपियों के साथ जो रास रचा[illegible] था, उसी की याद करके गोपियाँ विह्वल हो उठती हैं।

ऊधो ! कौन कुदिन छाँड्यो हो गोकुल।
बहुरि न आए फिरि या ब्रज में, बिछुर्‌यो तबहि मिल्यो अब सो कुल॥
गरग-बचन समुझे अब मधुबन-कथा-प्रसंग सुन्यो हो जो कुल।
सूर भये अब त्रिभुवन के पति मानो जाति लहे अब निज कुल॥२२७॥

शब्दार्थ—सो कुल—यादवों का वंश जिससे जन्म लेकर बिछुड़ गये थे। गर्ग—मुनि का नाम। जो कुल—यह सब। जाति—जाति।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि न जाने वह दिन कैसा बुरा था जिस दिन कृष्ण ने गोकुल को छोड़ा था। तभी तो जाने के बाद फिर कभी इस ब्रज में न आये। जाते भी क्यों अब तो वे अपने पहले बिछुड़े हुए कुटम्ब में जा मिले। मुनि गर्ग की बात जो उन्होंने मथुरा की कथा कहते समय कही थी अब समझ में आ रही है।

सूर कहते हैं कि गोपियों ने उद्धव से कहा कि भाई ! अब वे त्रिभुवन नरेश बन गये हैं और अपने कुल और खानदान में जा मिले हैं, अब दूसरों से मिलने क्यों आवें !

विशेष—गर्ग मुनि पुरोहित थे। उन्होंने कृष्ण का जन्मपत्र देखकर पहले ही बता दिया था कि वे व्रज मे न रहेंगे। मथुरा जायेंगे और फिर वहीं रहेंगे।

ऊधो ! राखिये यह बात।
कहत हो अनहद सुबानी सुनत हम चपि जात॥
जोग फल-कुस्मांड ऐसो अजामुख न समात।
बार बार न भाखिए कोउ अमृत तजि विष खात?
नयन प्यासे रूप के, जल दए नाहिं अघात।
सूर प्रभु मन हरि गए लै छाँडि तन-कुसलात॥२२८॥

शब्दार्थ—अनहद—अनाहत नाद। कुष्मांड—कुम्हड़ा। अज—बकरा। अघाना—तृप्त होना।

व्याख्या—योग की अनुपयुक्तता बताती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे ऊधो, तुम अपनी इन योग की बातों को रहने दो। इससे हमारे मन को शान्ति नहीं मिलती। इतना ही नहीं तुम्हारी सोऽहं की यह वाणी सुनकर तो हम और भी सहम जाती हैं। तुम्हारा यह योग कुम्हड़े के फल के सदृश है जो बकरी के मुख में समा ही नहीं सकता। इसी प्रकार योग हमारे लिए उपयुक्त नहीं है। अतः तुम इसकी चर्चा हमसे बार-बार न करो। अमृत को छोड़कर कोई जहर खाना नहीं चाहता। सरस-सगुणोपासना को छोड़कर नीरस निर्गुण को भला कौन अपनाना चाहेगा? हमारे ये नेत्र तो उस रूप के प्यासे हैं। इन्हें जल देकर सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता। हाय ! सूर के स्वामी कृष्ण ने जब हमारे मन को चुराया था तो हमारे शरीर की कुशलता पर भी कुछ विचार न किया।

विशेष—लोकोक्ति अलंकार की छटा दर्शनीय है।

ऊधो ! बात तिहारी जानी।
आए हो व्रज को बिन काजहि, कहत हृदय कटु बानी॥
जो पै स्याम रहत घट तौ कत बिरह-बिथा न परानी।
भूठी बातनि क्यों मन मानत चलमति, अलप गियानी॥
जोग-जुगुति की रीति अगम हम व्रजबासिनी कह जाने?
लिख बहु जाय जहाँ नटनागर रहत प्रेम लपटाने॥
दासी घेरि रहे हरि, तुम ह्वाँ गढ़ि गढ़ि कहत बनाई।
निपट निलज्ज अजहुँ न चलत उठि, कहत सूर समुझाई॥२२९॥

शब्दार्थ—परानी—हटना। चलमति—चचल बुद्धि वाला। घेरि—छेंकते फिरते हैं।

व्याख्या—योग की अनुपयुक्तता का प्रतिपादन करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे ऊधो, अब हम तुम्हारी बात जान गईं। तुम यहाँ व्रज में बिना किसी काम के आये हो अर्थात् श्री कृष्ण का योग सन्देश देने नहीं आये। यों ही घूमते-फिरते अनायास ही व्रज में आ गये हो और यहाँ आने पर तुम्हें यह शरारत सूझी है कि कटु बातें कह-कहकर हमारे हृदय को जला रहे हो। यदि तुम्हारे कथनानुसार प्रियतम श्याम हमारे अन्तस में रहते हैं तो हमारी विरह-व्यथा क्यों न चली गई ? अरे चंचल एवं तुच्छ बुद्धि वाले ! तुम्हारे असत्य भाषणों से हमारा मन नहीं मानेगा। तनिक सोचो कि कहाँ अगम्य योग की साधना और कहाँ हम व्रजवासी ! हम इस कठिन नीति को क्या जान सकते हैं ? इस योग का उपदेश तो उस चतुर नटवर को दो जो अपनी प्रेयसी से सदा लिपटा रहता है। तुम्हें तो मालूम है कि वे वहाँ दासी के साथ छेड़छाड़ कर रहे हैं और तुम फिर भी यहाँ आकर बातें बघार रहे हो। तुम तो नितान्त निर्लज्ज मालूम देते हो कि अब भी यहाँ से उठकर नहीं चल रहे हो।

विशेष—जब श्याम गोपियों के अन्तस में हैं (ऊधो के कथनानुसार) तो फिर विरह काहे का !

> ऊधो ! राखति हौं पति तेरी।
> ह्याँ तें जाहु, दुरहु अगो तें देखत आँखि बरति है मेरी॥
> तुम जो कहत गोपाल सत्य है, देखहु जाय न कुब्जा घेरी।
> ते तौ तैसेइ दोउ बने हैं, वै अहीर वह कंस की चेरी॥
> तुम सारिखे बसीठ पठाए, कहा कहौं उनकी मति फेरी।
> सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन को ग्वालिनि कै संग जोवति हेरी॥२३०॥

शब्दार्थ—पति—प्रतिष्ठा। दुरहु—हटो। बसीठ—दूत। मति-फेर—बुद्धि का फेर। कै संग—मिलकर।

व्याख्या—निर्गुणोपदेश पर खीझती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे उद्धव, हम तुम्हारी प्रतिष्ठा रख रही हैं। तुम यहाँ से हट कर हमारी आँखों से दूर हो जाओ। तुम्हें देखकर हमारी आँखें जलने लगती हैं। तुम्हारा कथन है कि गोपाल सत्यशील हैं। हमें विश्वास नहीं है। बात हमारी ही ठीक है। यदि नहीं तो जाओ देख लो कि वे अब भी कुब्जा को घेरे पड़े हैं अथवा नहीं। भगवान् ने दोनों का जोड़ा भी खूब मिलाया है। एक है अहीर और दूसरी कंस की दासी। तुम जैसे दूत यहाँ भेजे हैं। विधाता ने जैसी उनकी मति फेरी है, अवर्णनीय है। सूर के प्रभु श्याम से आलिंगन करके मिलने के लिए आज भी ग्वालिनी राह देख रही हैं।

विशेष—कृष्ण के चरित्र पर यह दोषारोपण कि वे कुब्जा को अब भी घेरे पड़े हैं, सपत्नीक ईर्ष्या का सुन्दर उदाहरण है।

ऊधो ! वेदबचन परमान।
कमल-मुख पर नयन-खंजन देखिहै क्यों आन ?
श्रीनिकेत समेत सब गुन, सकल रूप निधान।
अधर सुधा पिवाय बिछुरे पठै दीनो ज्ञान॥
दूरि नहीं दयाल सब घट कहत एक समान।
निकसी क्यों न गोपाल बोधत दुखिन के दुख जान ?
रूप-रेख न देखिये, बिन स्वाद सब्द भुलान।
ईखदंडहि डारि हरिगुन, गहत पानि बिषान॥
बीतराग सुजान जोगिन, भक्तजनन निवास।
निगम-बानी मेटिकै क्यों कहै सूरजदास॥२३१॥

शब्दार्थ—श्रीनिकेत—शोभा के धाम। पठै—भेजा। सब्द—शब्द।

व्याख्या—गोपियाँ पुनः योगोपदेश सुनकर कहती हैं कि हे ऊधो, यह ठीक है कि वेदों द्वारा प्रतिपादित योग-मार्ग ही प्रमाण है। पर जिन लोगों ने कृष्ण के कमल-रूपी मुख पर नेत्र रूपी खजनों की शोभा देखी है वे किसी दूसरी वस्तु की इच्छा क्यों करेंगे ? शोभा के धाम, सर्वगुणागार तथा सौन्दर्यनिधि श्री कृष्ण अपने अधरामृत को हमें पिलाकर हमसे दूर चले गये और अब हमें यह ज्ञान भेजा है। तुम जो यह कहते हो कि कृपानिधि दूर नहीं और वह सब के हृदयों में समान रूप से रहते हैं, यदि यह बात झूठ नहीं है तो गोपाल हमारा दु:ख देखकर बाहर क्यों नहीं निकल आते ? तुम तो कह रहे हो कि ईश्वर की रूपरेखा दिखाई नहीं पड़ती। वह बिना स्वाद के है अर्थात् उसका अनुभव नहीं किया जा सकता। इस प्रकार यह ब्रह्म शब्दों की भूल-भुलैया मात्र है। तुम श्री कृष्ण के गुण-गान रूपी गन्ने को त्याग कर निर्गुणोपासना रूपी सींग हमारे हाथ में पकड़ा रहे हो। गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि योग तो उनके लिए होता है जो वीतरागी ज्ञानी होते हैं। जो भक्त लोग हैं, उनके लिए यह मार्ग नहीं है। तुम वेद की वाणी के विरुद्ध क्यों बोलते हो ?

विशेष—इस पद में रूपक तथा रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

ऊधो ! अब चित भए कठोर।
पूरब प्रीति बिसारी गिरिधर नवतन राचे ओर॥
जा दिन तें मधुपुरी सिधारे धीरज रह्यो न मोर।
जन्म जन्म की दासी तुम्हरी नागर नवकिसोर॥
चितवनि-बान लगाए मोहन निकसे उर वहि ओर।
सूरदास प्रभु कबहिं मिलोगे, कहाँ रहे रनछोर ?॥२३२॥

शब्दार्थ—वहि ओर—उस पार। नवतन—नूतन। राचे—अनुरक्त हुए। रनछोर—श्री कृष्ण।

व्याख्या—कृष्ण की निष्ठुरता पर व्यंग्य करती हुई गोपियाँ

शब्दार्थ—पा—चरण। जनु—मानो। त्रयताप—दैहिक, दैविक तथा भौतिक ताप।

व्याख्या—निर्गुणोपदेश के अनौचित्य पर व्यंग्य करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हम तुम्हारे पैर छूकर निवेदन करती हैं कि तुमने बड़ा अच्छा किया जो तुम यहाँ पधारे हो। तुम्हारा दर्शन हमारे लिए कृष्ण के दर्शनों के ही तुल्य है। तुमने दर्शन देकर हमारे तीनों प्रकार के ताप नष्ट कर दिये। हम अहीरिन हैं, अतः तुमको हमारे सामने किसी अहीर का कथन करना चाहिए था पर तुम इसके स्थान पर हमे निर्गुणोपदेश करने लगे। उस समय तो इस ग्वालों की बस्ती में बहुत से खेल खेले और ऊखल से अपनी भुजा बंधवाई। हा! कैसे थे वे दिन! किन्तु हृदय में खेद तो यही है कि सूर के स्वामी श्री कृष्ण ने फिर अपने चरणों के दर्शन न दिये।

विशेष—द्वितीय पंक्ति में उत्प्रेक्षा अलंकार दृष्टव्य है।

> ऊधो! निरगुन कहत हो तुमहीं अब धों लेहु।
> सगुनि मूरति नंदनंदन हमहिं आनि सु देहु॥
> अगम पंथ परम कठिन गवन तहाँ नाहिं।
> सनकादिक भूलि परे अबला कहँ जाहिं?
> पंचतत्व प्रकृति कहो अपर कैसे जानि?
> मन बच क्रम कहत सूर बँरनि की बानि॥२३५॥

शब्दार्थ—धों—उसको। आनि—लाकर। गवन—पहुँच।

व्याख्या—निर्गुण के अनौचित्य पर व्यंग्य करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव, तुम जो हमें निर्गुण का उपदेश दे रहे हो, तुम्हीं उसे क्यों नहीं ग्रहण कर लेते? हमें तो हमारी सगुण मूर्ति नन्दनन्दन को लाकर दे दो। जो मार्ग बड़ा कठोर और अगम्य है और जिस मार्ग पर चलते हुए सनकादि सिद्ध मुनीश्वर भी भूलें कर चुके हैं उस मार्ग पर अबलायें कैसे जायेंगी? जब हमारा जन्म ही पंचतत्वों से हुआ है और सत्व, रज और तमो-गुणमयी प्रकृति ही हमने प्रधान है तो हम उससे परे की वस्तुओं को कैसे जान सकती हैं? यह सब जान कर भी जब तुम ऐसी बातें करते हो तो हमे ऐसा लगता है जैसे तुम मन, वचन, कर्म से शत्रुओं की-सी बातें कर रहे हो।

विशेष—जिस निर्गुण-पथ पर सनकादि ऋषि भी सफलतापूर्वक आरूढ़ न हो सके, उस पर गंवार गोपियाँ कैसे आरूढ़ हो सकेंगी। वस्तुतः यह असम्भव है और असम्भव पथ को ग्रहण कराना ऊधो की बुद्धिमानी नहीं है।

> ऊधो! और कछू कहिबे को?
> सोऊ कहि डारौ पा लागों, हम सब सुनि सहिबे को॥
> यह उपदेश आजु लौं मैं, सखि, स्रवन सुन्यो नहिं देख्यो।
> नीरस कटुक स्रवत ओवनमत, चाहत मन उर लेख्यो।

बसत स्याम निरन्तर न एक पल हिये मनोहर ऐन।
या कहँ यहाँ ठौर नाहीं, लै राखो जहाँ सुचैन॥
हम सब सखि गोपाल-उपासिनि हमसों बातें छाँड़ि।
सूर मधुप! लै राखु मधुपुरी कुबजा के घर गाड़ि॥२३६॥

शब्दार्थ—या—अर्थात् निर्गुण। ऐन—घर। सुचैन—अमन-चैन।

व्याख्या—अपनी विवशता का वर्णन करती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि हे उद्धव, कुछ और कहने के लिए यदि शेष रह गया हो तो हम तुम्हारे पैर छूकर कहती हैं, उसे भी कह डालो। इस समय हमारा समय बुरा है अतः हम सब कुछ सुनने और सहने को प्रस्तुत हैं। गोपियों में से ही एक दूसरी गोपी से सम्बोधन करके कहती है कि हे सखी, आज तक हमने तो यह उपदेश न तो किसी को देते सुना और न देखा। यह रूखा और कड़ुआ उपदेश जो सुनते ही जीवन के लिए सन्तापदायी प्रतीत होता है उसे यह हमारे हृदय-पटल पर अंकित करना चाहता है। हमारे हृदय में तो सुषमाधाम श्याम निरन्तर निवास करते हैं, वे एक पल के लिए भी इसमें से नहीं निकलते। अतः उद्धव, इस तुम्हारे निर्गुण के लिए यहाँ कोई स्थान नहीं है। इसे तो तुम वहाँ ले जाओ जहाँ शान्ति एवं चैन हो। सूर कहते हैं कि गोपियों ने उद्धव से कहा कि हमारी राय में तो तुम इसे मथुरा में कुब्जा के घर पर सम्भाल कर रख देना। वहीं इसका सम्मान हो सकेगा।

विशेष—इस पद में काकुवक्रोक्ति अलंकार है।

ऊधो! कहियो सबै सोहतो।
जाहि ज्ञान सिखवन तुम आए सो कहो ब्रज में कोय तौ?
अजहु सोच सुनहुगे हमरी कहियत बात विचारि।
फुरत न वचन कछु कहिबे को, रहे प्रीति सों हारि॥
देखियत हौ करुना की मूरति, सुनियत हौ परपीरक।
सोय करौ ज्यों मिटै हृदय को दाहपरै उर सीरक॥
राजपंथ तें टारि बतावत उरझ कुबील कुपैंडो।
सूरजदास समाय कहाँ लौं अज के बदन कुम्हैंडो? ॥२३७॥

शब्दार्थ—राजपंथ—भक्ति का चौड़ा मार्ग। उरझ—उलझाने वाली। कुबील—ऊँचा-नीचा। अज—बकरा। बदन—मुख।

व्याख्या—निर्गुणोपदेश के अनौचित्य का प्रतिपादन करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे उद्धव, जो सबको अच्छी लगे वही बात कहो। तनिक बताओ कि जिसे तुम ज्ञान सिखाने आये हो वह ब्रज में कौनसी स्त्री थी? देखो, बात को सोच समझकर करना चाहिये। तुम हमारी यह शिक्षा अवश्य मान लो। उद्धव जी इस कथन को सुनते ही अवाक् रह गये, उनके मुह से बात नहीं निकली। वह गोपियों की प्रीति देखकर परास्त हो गये। जब उन्हें गोपियों ने इस प्रकार मौन धारण किये देखा तो कहने लगीं

कि देखने में तो तुम दया के अवतार मालूम पड़ते हो किन्तु तुम्हारी बातों से ऐसा लगता है कि जैसे दूसरों के लिए बड़े दुःखदायक हो। उद्धव, हम तुमसे फिर कहे देती हैं कि तुम अब वही करो जिससे हमारे हृदय का दाह मिटे और हमें शान्ति प्राप्त हो। तुम तो हमें सीधे-सादे मार्ग से हटाकर ऊबड़-खाबड़ काँटों से युक्त मार्ग बता रहे हो। सूर कहते हैं कि गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हमारी समझ में यह बिल्कुल नहीं आता कि बकरे के मुंह में कुम्हड़ा कैसे समा सकता है!

विशेष—इस पद में लोकोक्ति अलंकार है।

> ऊधो! तुमहूँ सुनो इक बात।
> जो तुम करत सिखावन सों हमें नाहिन नेकु सुहात॥
> ससि-बरसन बिनु मलिन कुमोदिनि ज्यों रवि बिनु जलजात।
> त्यों हम कमलनयन बिन देखे तलफि तलफि मुरझात॥
> घँसि चंदन घनसार सजे तन ते क्यों भस्म भरात?
> रहे स्रवन मुरलीधर सों रत, सिंगी सुनत डरात॥
> अबलनि आनि जोग उपदेसत नाहिन नेकु लजात।
> जिन पायो हरि परस सुधारस ते कैसे कटु खात?
> अवधि-आस गनि गनि जीवति हैं, अब नहीं प्रान खटात।
> सूर स्याम हम निपट बिसारी ज्यों तरु जीरन पात॥२३८॥

शब्दार्थ—जलजात—कमल। घनसार—कपूर। जीरन—जीर्ण, पुराना।

व्याख्या—निर्गुणोपदेश को कष्टदायक बता कर उससे विरत होने के लिए कहती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि हे ऊधो, तुम हमारी एक बात सुनो। तुम जो बात हमें सिखा रहे हो वह तो हमें बिल्कुल नहीं भाती। जिस प्रकार कुमुदिनी चन्द्र-दर्शन के बिना और कमल सूर्य के बिना मलिन रहते हैं उसी प्रकार कृष्ण के बिना हम भी तड़फ-तड़फ कर मुरझा रही हैं। जिन कलेवरों को कपूर और चन्दन घिस कर लगा कर अलंकृत किया था वे भभूत किस प्रकार रमायेंगे? जिन कानों ने मुरलीधर की मुरली से लगन लगायी थी उन्हें सिंगी की बात सुनकर भय लगता है। तुम तो फिर भी हम अबलाओं को योग की शिक्षा दे रहे हो। तुम्हें अपने इस कार्य में तनिक भी लज्जा का अनुभव नहीं होता। जिन्होंने कृष्ण के आलिंगन रूपी अमृत को चखा है वे भला निर्गुण की कड़वी बातों को अपने गले से कैसे उतारेंगी? आज दिन तक तो उनके प्रत्यागमन की आशा से अवधि के दिन गिन-गिनकर जीवित रही हैं पर अब ये प्राण नहीं ठहर पा रहे हैं। हाय रे हमारा अभाग्य! हमें तो श्याम ने इस प्रकार भुला दिया है जैसे पेड़ पुराने पत्तों को उतार कर फेंक देता है।

विशेष—इस पद में उपमा अलंकार का अच्छा प्रयोग है।

ऊधो ! अँखियाँ अति अनुरागी।
इकटक मग जोवति अरु रोवति, भूलेहु पलक न लागी ॥
बिन पावस पावस ऋतु आई देखत हो विदमान।
अब धौं कहा कियो चाहत हो ? छाँड़हु नीरस ज्ञान॥
सुनु प्रिय सखा स्यामसुंदर के जानत सकल सुभाव।
जैसे मिलें सूर प्रभु हमको सो कछु करहु उपाव ॥२३९॥

शब्दार्थ—विदमान—विद्यमान। इकटक—निर्निमेष। सुभाव—स्वभाव।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से विनय करती हुई कहती हैं कि हे उद्धव, हमारी आँखें अनुराग में बहुत अधिक डूबी हुई हैं। ये टकटकी बाँध कर उनका मार्ग देखती हुई रोती रहती हैं। कभी भूल कर भी पलक नहीं लगातीं। बिना वर्षा के ही वर्षाऋतु आ गई है, यह तो तुम प्रत्यक्ष देख रहे हो। पता नहीं अभी तुम्हें और क्या इष्ट है ? इस शुष्क ज्ञान को छोड़ दो। हे श्यामसुन्दर के प्रिय मित्र, तुम तो सहज ही सब बातों के जानकार हो। जैसे भी सम्भव हो तुम बस कुछ ऐसा उपाय करो जिससे सूर के प्रभु श्याम हमें मिल जावें।

विशेष—'बिन पावस पावस ऋतु आई' में विभावना अलंकार है।

ऊधो ! कहत कही नहिं जाय।
मदनगोपाल लाल के बिछुरत प्रान रहे मुरझाय॥
अब स्यंदन चढ़ि गवन कियो इत फिरि चितयो गोपाल।
तबहीं परम कृतज्ञ सबै उठि संग लगीं ब्रजबाल ॥
अब यह औरे सृष्टि बिरह की बकति बाय-बौरानी।
तिनसों कहा देत फिरि उत्तर ? क्यों उपजै परतीति।
सूरदास कछु बरनि न आवै कठिन बिरह की रीति ॥२४०॥

शब्दार्थ—स्यंदन—रथ। बाय—वात-व्याधि। गवन—गमन। बौरानी—पागल होना।

व्याख्या—विरह-व्यथा की अवर्णनीयता का प्रगटीकरण करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे ऊधो, विरह-व्यथा के वर्णन का लाख प्रयत्न करने पर भी इसका वर्णन नहीं हो पाता। मदनगोपाल श्री कृष्ण के बिछुड़ने से हमारे प्राण मुरझा रहे। जब रथ पर चढ़ कर श्री कृष्ण चल दिये तभी सब ब्रजयुवतियाँ अपने को परम अनुगृहीत समझ कर उठ कर उनके साथ लग गईं। आज तो इनकी दशा ही कुछ और हो गई है। आज तो ये विरह की वात से पीड़ित होकर पगलों जैसी बातें कर रही हैं। तुम इन पगलियों को बार-बार क्यों उत्तर देते हो ? किन्तु चाहे जैसे हो तुम इन्हें प्रतीत कराओ। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि विरह-मार्ग बड़ा कठिन है। वह अवर्णनीय है।

विशेष—भाव यह है कि विरह-व्यथा अवर्णनीय है अतः ऊधो तुम व्यर्थ में ही

हम पगलियों के मुंह लगकर अपनी प्रतिष्ठा घटा रहे हो। हम पर तुम्हारा कोई असर न होगा।

ऊधो ! यह मन अधिक कठोर।
निकसि न गयो कुंभ काँचे ज्यों बिछुरत नंदकिसोर ॥
हम कछु प्रीति-रीति नहिं जानी तब ब्रजनाथ तजी।
हमरे प्रेम न उनको, ऊधो ! सब रस रीति तजी ॥
हमतें भली जलचरी बपुरी अपनो नेम निबाहैं।
जल तें बिछुरत ही तन त्यागों अस हो जल को चाहैं ॥
अचरज एक भयो सुनो, ऊधो ! जल बिनु मीन जियो।
सूरदास प्रभु आयन कहि गए मन विस्वास कियो ॥२४१॥

शब्दार्थ—कुंभ—घड़ा। जलचरी—मीन। बपुरी—बेचारी।

व्याख्या—अपने को धिक्कारती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे ऊधो, हमारा यह मन भी बड़ा कठोर है। जिस प्रकार जल के निकलने से कच्चा घड़ा फूट जाता है उसी प्रकार नन्दलाल के बिछुड़ने ही न जाने यह भी क्यों न विदीर्ण हो गया ? वस्तुत: यदि देखा जाय तो ब्रजनाथ से परित्यक्त होते हुए भी हम प्रेम की परिपाटी से भी अनभिज्ञ ही रही। यदि सच पूछा जाय तो हमारा प्रेम ही उनके प्रति सच्चा नहीं है। हमारे व्यवहार ने तो प्रेम की सारी रीतियों को लज्जित कर दिया। हमसे अच्छी तो जल में रहने वाली मछलियाँ रहीं जो अपने प्रेम के नियम का निर्वाह तो करती हैं। जल से अलग होते ही वे अपना शरीर त्याग देती हैं। केवल जल से ही प्रेम करती हैं। परन्तु उद्धव सुनो, यह भी एक आश्चर्य ही है कि मछलियाँ बनने वाली हम बिना कृष्ण रूपी जल के जीवित रहीं। पर सच पूछो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। सूर के प्रभु तो हमसे आने को कह गये थे। हमने उनकी इस बात पर विश्वास कर लिया और इसीलिए अब तक जीवित हैं।

विशेष—उपमा एवं रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

ऊधो ! होत कहा समुझाए ?
चित चुभि रही साँवरी मूरति, जोग कहा तुम लाए ?
पा लागों कहियो हरिजू सों दरस देहु इक बेर।
सूरदास प्रभु सों बिनती करि यहै सुनैयो टेर ॥२४२॥

शब्दार्थ—पा—पैर। बेर—बार। टेर—पुकार।

व्याख्या—हरि-दर्शन कराने का अनुरोध करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे ऊधो, समझाने से भला क्या होगा ? हमारे मन में तो श्याम की मूर्ति गड़ी हुई है फिर तुम व्यर्थ में इस योग को क्यों लाये हो ? हम तुम्हारे चरण-स्पर्श कर निवेदन करती हैं कि तुम श्री कृष्ण से कह देना कि वे एक बार हमें दर्शन अवश्य दे दें।

सूर के प्रभु श्याम से विनयपूर्वक हमारी यही पुकार कह देना।

विशेष—इन चार पंक्तियों में गोपियों की विनय देखने योग्य है।

ऊधो ! हमैं जोग नहिं भावं।
चित में बसत स्यामघन सुंदर सो कैसे बिसरावं ?
तुम जो कहो सत्य सब बातें, हमरे लेखे धूरि।
यां घट भीतर सगुन निरंतर रहे स्याम भरि पूरि॥
पा लागौं कहियो मोहन सों जोग कुबरी दीजै।
सूरदास प्रभु-रूप निहारें हमरे संमुख कीजं॥२४३॥

शब्दार्थ—धूरि—मिट्टी, व्यर्थ। कूबरी—कुब्जा। बिसरावं—त्याग करें।

व्याख्या—श्री कृष्ण के दर्शनों की याचना करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे ऊधो, हमे तुम्हारा योग अच्छा नहीं लगता। हमारे चित्त में सुन्दर घनश्याम निवास करते हैं, उन्हें हम कैसे भुला दें ? तुमने जो कुछ कहा वह सब सच है, किन्तु हमारे लिये वह सब व्यर्थ है। इस हृदय में सगुण श्याम निरन्तर रहते हैं अतः निर्गुण के लिए स्थान रिक्त कहाँ ? हम चरण छूकर निवेदन करती हैं कि तुम मोहन से कह देना कि वे योग कुबरी को दे दें और सूर के प्रभु श्याम अपना रूप हमारे सम्मुख कर दें जिसे हम देखती रहें।

विशेष—जब सगुण श्याम गोपियों के अन्तस में निरन्तर रहते हैं तो फिर ऊधो के निर्गुण के लिए वहाँ स्थान ही कहाँ होगा !

ऊधो ! हम न जोगपद साधे।
सुंदर स्याम सलोनो गिरिधर नंदनंदन आराधे॥
जा तन रचि रचि भूषन पहिरे भाँति भाँति के साज।
ता तन को कहै भस्म चढावन, आवत नाहिन लाज॥
घट-भीतर नित बसत साँवरो मोरमुकुट सिर धारे।
सूरदास चित तिनसों लाग्यो, जोगहि कौन सँभारे ?॥२४४॥

शब्दार्थ—जोगपद—योग। आराधे—आराधना करें। नित—हर समय।

व्याख्या—गोपियाँ पुनश्च: उसी भाव को व्यक्त करती हुई कहती हैं कि हे ऊधो, हम योगपद की सिद्धि नहीं कर सकतीं। हमने तो उस सौन्दर्य निधि की आराधना की है जिसे लोग श्यामसुन्दर, गिरधर, नन्दनन्दन आदि संज्ञायें देते हैं। तनिक सोचो तो आप क्या कह रहे हैं। जिस शरीर पर रच-रचकर आभूषण पहने और जिसे नाना सज्जाओं से सजाया उसी शरीर पर भस्म लगाने के लिए तुम कहते हो। कितनी अनुपयुक्त बात है ! क्या तुम्हें ऐसी बातें करते लज्जा का अनुभव नहीं होता ? सूर कहते हैं कि गोपियों ने उद्धव से कहा कि हमारे अन्तस में तो सदैव श्यामल मूर्ति ही मोरपंखों का मुकुट पहने रहती है और हमारा चित्त उन्हीं से लगा है। फिर आपके

योग को कौन संभाले ?

विशेष—योग चित्तवृत्ति के निरोध का नाम है। अत जब चित्त खाली नहीं है तो फिर योग को कहाँ संभाल कर रखा जाय ?

ऊधो ! कहियो यह संदेस।
लोग कहत कुबजा-रस-माते, तातें तुम सकुचो जनि लेस ॥
कबहुँक इत पग धारि सिधारो धरि हरिखंड सुबेस।
हमरो मन रंजन कीन्हें तें ह्वैहौ भुवननरेस ॥
जब तुम इत ठहराय रहौगे देखौगे सब देस।
नहिं बैकुंठ अखिल ब्रह्मांडहि ब्रज बिनु, हे हृषिकेस !
यह किन मंत्र दियो नँदनंदन तजि ब्रज भ्रमन-बिदेस ?
जसुमति जननी प्रिया राधिका देखे औरहि देस ?
इतनो कहत कहत स्यामा पै कछु न रह्यो अवसेस।
मोहनलाल प्रवाल अदुलमन ततछन करी सुहेस ॥
को ऊधो, को दुसह बिरह-जुर को नृप नगर-सुरेस ?
कैसो ज्ञान, कह्यो किन कासों, किन पठयो उपदेस ?
मुख मृदुछबि मुरली-रव-पूरित गोरज-कर्बुर केस।
नट-नाटकगति बिकट लटक जब बन तें कियो प्रवेस ॥
अति आतुर अकुलाय धाय पिय पोंछत नैन कुसेस।
कुम्हिलानो मुख पद्म परस करि देखत छबिहि बिसेस ॥
सूर सोम, सनकादि, इंद्र, अज, सारद, निगम, महेस।
नित्य बिहार सकल रस भ्रमगति कहि गावहिं मुख सेस ॥२४५॥

शब्दार्थ—बिनु—बिना। हृषिकेस—विष्णु। जुर—ज्वर। गोरज-कर्बुर केस—गायों के खुर पड़ने से उठी हुई धूल लगने के कारण धूमिल बाल। कुसेस—कमल।

व्याख्या—कृष्ण और कुब्जा के प्रेम पर व्यंग्य करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे ऊधो, तुम उनसे यह सन्देश कह देना कि लोगों का कहना है कि कृष्ण कुब्जा के प्रेम में पागल हैं किन्तु उन्हें इस बात पर तनिक भी संकोच नहीं करना चाहिये। वे मोरपंखों को धारण करके कभी इधर आने का कष्ट करें। हमारे मन को प्रसन्न करके वे भुवननरेश हो जायेंगे। यह भी बता देना कि जब वे यहाँ स्थिरचित्त होकर ठहरेंगे और विचारपूर्वक सारे स्थानों की तुलना करेंगे तो उन हृषिकेश को यह बात मालूम हो जायगी कि सारी सृष्टि में ब्रज के अलावा और कोई बैकुण्ठ नहीं है। तुम्हें यह सलाह किसने दी कि ब्रज को छोड़कर इधर-उधर भटको। तुम्हीं बताओ कि क्या यशोदा जैसी माता और राधा जैसी प्रिया और कहीं किसी देश में मिल सकती है ? यह कहते हुए वह राधा स्नेह से शिथिल होकर बेसुध हो गई। कृष्ण के अनुराग से रंजित होकर

उनका नवपल्लव जैसे मन का प्रेम तुरन्त फूट निकला और वह मंगल नक्षत्र की भाँति लाल हो गई। वह प्रेम की प्रबलता में इतनी अचेत हो गई कि उसे कुछ सुध न रही कि उद्धव कौन है और यह विरहताप क्या है। वह यह भी भूल गई कि मथुरा में इस समय कौन राजा हैं, और ज्ञान क्या वस्तु है? कौन किससे कह रहा है, तथा यह उपदेश किसने भेजा है? उन्हें कृष्ण के दर्शन होने लगे। वह देखने लगी कि गायों के खुरों से उत्पन्न मिट्टी के पड़ने के कारण धूल से धूमिल बाल हैं। वे मुरली बजा रहे हैं जिसकी स्वरलहरी चारों ओर मधुरता का विस्तार कर रही है और वे नाटक के एक नट के समान वन मे प्रवेश कर रहे हैं। इस माधुरी छवि को देखकर राधा अत्यन्त व्याकुल होकर दौड़ी। और इसी भ्रान्ति की दशा में वह प्रियतम के कमल समान नेत्रों को पोंछने लगी तथा उनके मुखकमल की मुस्काती हुई शोभा को छूकर बड़ी विशेषता से देखने लगी। सूर कहते हैं कि वह सम्पूर्ण आनन्दों से युक्त उसकी भ्रान्ति दशा धन्य है जिसमे नित्य विहार करते हुए सूर्य, चन्द्र, सनकादि ऋषिगण, इन्द्र, ब्रह्मा, सरस्वती, वेद तथा शिव और शेषनाग गाया करते हैं किन्तु फिर भी पार नहीं पाते।

विशेष—रूपक और रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

ऊधो! हरिजू हित जनाय चित चोराय लयो।
ऊधो! चपल नयन चलाय अगराग दयो॥
परम साधु सखा सुजन जदुकुल के मानि।
कहो बात प्रात एक साँची जिय जानि॥
सरद-बारिज सरिस दृग भौंह काम-कमान।
क्यों जीवहिं बेधे उर लगे बिषम बान?
मोहन मथुरा पै बसैं, ब्रज पठ्यो जोग सँदेस।
क्यों न काँपि मेदिनी कहत जुवतिन उपदेस?
तुम सयाने स्याम के देखहु जिय विचारि।
प्रीतम पति नृपति भए औ गहे वर नारि॥
कोमल कर मधुर मुरलि अधर धरे तान।
पतरि सुधा पूरि रही कहा सुनै कान?
भूगो मृगज-लोचनी भए उभय एक प्रकार।
नाद नयनबिष-तते न जान्यो मारनहार॥
गोधन तजि गवन कियो लियो बिरद गोपाल।
नीके कै कहिबो, यह भली निगम-चाल॥२४१॥

शब्दार्थ—मृगज—हिरन का बच्चा। तते—तपे हुए। अंगराग—सुगंधित लेप। मेदिनी—भूमि।

व्याख्या—कृष्ण के प्रेम का उपालम्भ देती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि

हे ऊधो, श्री कृष्ण ने प्रेम प्रकट करके हमारे मन को चुरा लिया है। एक दिन था कि जब वे अपने चपल नेत्रों से देखते हुए चन्दन आदि लगाया करते थे। तुमको हम बहुत भला समझती हैं और श्री कृष्ण के तुम मित्र हो इसलिए कहती हैं कि जब किसी के हृदय को शरदकालीन कमल-से सुन्दर नेत्रों से कमान रूपी भौंहों से छूटे हुए कठोर बाण बींध दें तो क्या वह जीवित रह सकता है? वे मथुरा में रहते हुए हमारे लिए योग का सन्देश भेज रहे हैं और तब भी यह पृथ्वी नहीं काँपती। तुम श्याम के चतुर मित्र हो, तुम स्वयं विचार कर लो कि हमारे प्रियतम अब राजा हो गये हैं और उन्हें एक सुन्दर स्त्री भी प्राप्त हो गई है। कुछ भी हो, उन्होंने कोमल हाथों में मुरली लेकर जो मधुर तानें हमें सुनायी थीं उसकी सरस अमृतधारा आज भी हमारे कानों में बह रही है। इन हिरन के बच्चों की-सी नेत्रों वाली ब्रजबालाओं की दशा हिरणियों की दशा के समान है। जिस प्रकार हिरणियाँ नाद के स्वर में मस्त होकर व्याघ्र का विचार तक नहीं करतीं उसी प्रकार ये ब्रजयुवतियाँ कृष्ण के कटाक्षों के विष बाणों से घायल हो गई हैं और वे अपने घातक कृष्ण को न पहचान सकीं। अब तो गोपाल गायों और ग्वालों को छोड़कर चले गये। बड़ा यश कमाया है उन्होंने! हे ऊधो, तुम जाकर उनसे पूछना कि क्या यही आपकी वैदिक मर्यादा है?

विशेष—उपमा, रूपक, तुल्ययोगिता तथा काकुवक्रोक्ति अलंकार है।

> मधुकर! जानत है सब कोऊ।
> जैसे तुम औ मीत तुम्हारे, गुननि निपुनि हो दोऊ॥
> पाके चोर, हृदय के कपटी, तुम कारे औ वोऊ।
> सरबसु हरत, करत अपनो सुख, कैसेहू किन होऊ॥
> परम कृपन थोरे धन जीवन उबरत नाहिंन सोऊ।
> सूर सनेह करै जो तुमसों सो करै आप-बिगोऊ॥२४७॥

शब्दार्थ—मीत—मित्र। वोऊ—वे भी। बिगोऊ—नाश।

व्याख्या—कृष्ण और ऊधो दोनों को फटकारती हुई गोपियां कहती हैं कि अब हम सब जान गईं कि तुम कैसे हो और तुम्हारे मित्र कैसे हैं! तुम दोनों बड़े गुणी एवं निपुण हो। तुम दोनों पक्के चोर और हृदय के कपटी हो। तुम भी काले हो और वे भी काले हैं। चाहे कोई कैसा भी हो हो तुम दोनों तो उसका सर्वस्व हरण करते हो और सुख उठाते हो। यदि यहां कोई परम कृपण हो और थोड़े से ही धन से अपना जीवन बिताना चाहे तो उसका उद्धार नहीं है। भाव यह कि हमने बड़ी सावधानी से कृष्ण से प्रेम किया है पर उसका भी कुफल हमें भुगतना पड़ रहा है। अन्त में गोपियों ने कहा कि जो कोई तुमसे प्रेम करे उसका तो तुम बस नाश ही समझो।

विशेष—भ्रमरगीतसार में एक अन्य स्थान पर सूर ने और भी कहा है—

कीन्हीं सदा कृपण की संगति, कबहुँ न कीन्हीं भोग।

मधुकर ! कहियत बहुत सयाने ।
तुम्हरी मति कारे अति भारे हमरे काज-नसाने ॥
तैसोई तू, तैसो तेरो ठाकुर, एकहि बरनहिं बाने ।
पहिले प्रीति सिखाय सुधारस पाछे जोग बखाने ॥
एक समय पंकजरस लागे बिछुरत मरम न माने ।
सोई सूर गति भई हमारी हरि बिनु हाथ मीडि पछिताने ॥२४८॥

शब्दार्थ—बरन—वर्ण । बाने—ढंग के । मीडि—मल कर ।

व्याख्या—कृष्ण के प्रेम का उलाहना देती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि मधुकर, तुम तो बहुत सयाने कहलाते हो । आप जैसी चतुरता और किसमें है ! लेकिन आप हमारे लिए बड़े भोले बन रहे हैं । जैसे तुम हो वैसे ही तुम्हारे ठाकुर हैं । दोनों का वर्ण भी एक-सा है और बाना भी । पहले तो उन्होंने प्रेम का अमृत पिलाया है और अब योग की बातें उड़ा रहे हैं । हमारी तो वही दशा है जैसी उस भ्रमर की हुई थी । कमल रस में मग्न होकर वह भौंरा उसमें तल्लीन हो गया और रात आने पर कमल के बन्द होने पर वह उसी में बन्द हो गया । फिर वह सोचता रहा कि प्रातःकाल सूर्य के उदय होने पर कमल के खिलने पर मुक्त हो जायगा; परन्तु ऐसा नहीं हुआ । एक हाथी आया और उसने उस कमल को तोड़-मरोड़कर फेंक दिया । हे ऊधो, उसी भ्रमर के समान हमारी भी गति हुई है । अब तो हमें हाथ मल-मल कर पछताना पड़ रहा है ।

विशेष—(i) उपर्युक्त पद में निम्न श्लोक का भाव है—
रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकजश्रीः ।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे हा हन्त ! हन्त ! नलिनी गज उज्जहार ॥
(ii) उपमा और काकुवक्रोक्ति अलंकार है ।

मधुकर ! कहत संदेसो सूलहु ।
हरिपद छाँडि चले तातें तुम प्रीतिप्रेम भ्रमि भूलहु ॥
नहिं या उचित मृदुल श्रीमुख की जो तुम उर में हूलहु ।
बिलम न बदन होत या उचरत जो संधान न मूलहु ॥
उत वह ठौर नगर मथुरा, इत तरनि तनूजा कूलहु ।
उत महराज चतुर्भुज सुमिरो, इत किसोरनंद दूलहु ॥
जे तुम कही बड़ेन की बतियाँ, ब्रज जन नहिं समतूलहु ।
सूर स्याम गोपी-संग बिलसे कठ धरे भुज मूलहु ॥२४९॥

शब्दार्थ—सूलहु—शूल उत्पन्न करते हो । हूलहु—चुभाते हो । जो संधान न मूलहु—यदि कृष्ण के कहे हुए वचन में मिलावट न होती । तरनि तनूजा—सूर्य की कन्या यमुना ।

व्याख्या—गोपियाँ योग के संदेश पर व्यंग्य करती हुई ऊधो से कहती हैं कि हे मधुकर, तुम यह योग का सन्देश सुनाकर हमारे हृदय में एक टीस उत्पन्न कर रहे हो ।

ज्ञात यह होता है कि तुम भी हरिचरणों को छोड़ आने के कारण उनके प्रेमावेश में भटककर यह भूल कर रहे हो। यह शिक्षा जो तुम हमें दे रहे हो श्री कृष्ण के कमलमुख की कभी नहीं हो सकती। यदि तुम उनके कथन में अपनी ओर से कुछ नमकमिर्च लगाकर न कहते तो तुम हमारे सामने इस प्रकार लज्जा का अनुभव न करते। जहां से तुम आये हो वह स्थान बड़ा है। उसे मथुरा कहते हैं। यहाँ सुन्दर यमुना नदी का किनारा है। वहां जाकर महाराज चतुर्भुज विष्णु का स्मरण करना। यहाँ के लोग तो उन्हें जानते तक नहीं। यहाँ तो प्रियतम नंदलाल की दुहाई दी जाती है। अतः यहाँ आकर उन्हें विस्मृत करके नंदलाल के गुणगान करना ही तुम्हारे लिए अधिक उचित होगा। तुम जो बड़ों की बातें करते हो उनका व्रजवासियों के लिए कोई महत्व नहीं है। यहाँ तो सूर के प्रभु श्याम ने गलबाहें डालकर गोपियों के साथ रंगरेलियाँ की हैं। संभवतः तुम्हें इसकी सूचना नहीं है।

विशेष—इस पद में उल्लेख अलंकार है।

मधुकर ! यहाँ नहीं मन मेरो।
गयो जो संग नंदनंदन के बहुरि न कीन्हों फेरो॥
लयो नयन मुसुकानि मोल है, कियो परायो चेरो।
सौंप्यो जाहि भयो बस ताके, बिसरयो बास-बसेरो॥
को समुझाय कहै सूरज जो रसबस काहू केरो ?
मंदे पर्यो, सिधारु अनत लै, यह निर्गुन मत तेरो॥२५०॥

शब्दार्थ—बास-बसेरो—निवासस्थान। मंदे—मंदे बाजार में। अनत—अन्यत्र।

व्याख्या—अपने मन को पराधीन बताती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे मधुकर ! हमारा मन ही यहाँ नहीं है। वह तो नन्दनन्दन के साथ कुछ ऐसा गया है कि फिर लौटने का नाम भी नहीं लिया। उसे तो किसी ने नयनों के कटाक्ष से देखकर मुस्कराहट का मूल्य देकर खरीद लिया और हमारे हाथों से उसे निकालकर दूसरे के हाथों में दे दिया अर्थात् अब वह किसी दूसरे का हो चुका है। जब नेत्रों ने दलाली करके मुस्कान का मूल्य चुकता कर दिया तो जाकर उसे सौंप दिया और अब वह उसी के वश में है। वह अब अपने घर को भूल चुका है। सूर कहते हैं कि गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि जो दूसरे के साथ रसमग्न हो गया है उसे भला अब कौन समझा सकता है। अतः तुम्हारे निर्गुण का महत्व यहाँ कुछ नहीं है अतः अच्छा हो कि तुम इसे लेकर और कहीं चले जाओ।

विशेष—प्रस्तुत पद में रूपक अलंकार है।

मधुकर ! हमहीं को समुझावत।
बारंबार ज्ञानगाथा ब्रज अबलन आगे गावत॥

नंदनंदन बिन कपट कथा कहि कत अनरुचि उपजावत ?
स्रक चंदन तन में जो सुधारत कहु कैसे सचु पावत ?
देखु बिचारि तुहि अपने जिय नागर है जु कहावत ?
सब सुमनन फिरि फिरि नीरस करि काहे को कमल बँधावत ?
कमलनयन करकमल कमलपग कमलबदन बिरमावत।
सूरदास प्रभु अलि अनुरागी काहे को और भुकावत ॥२२१॥

शब्दार्थ—स्रक—माला। भुकावत—बकवाद करता है। अबलन—अबला

व्याख्या—उद्धव के कथन और कर्म में अन्तर दिखाती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे मधुकर ! तुम बस हमीं को समझाना जानते हो। बार-बार ज्ञानकथा को व्रजांगनाओं के सामने कहते हो। नन्दनन्दन की कथा छोड़कर बना बातें कह-कहकर हमारे हृदय में अपने लिए घृणा के बीज जमा रहे हो। तुम तो नगर के रहने वाले शिष्ट व्यक्ति हो, तुम्हीं अपने मनमें विचार करके देखो कि जिन शरीर को चन्दन और मालाओं से सजाया है वह इन बातों से कैसे तृप्त हो सकेंगे ? तुम अपनी भी ओर देख लो। दूसरों की आसक्ति पर कीचड़ पीछे उछाल लेना। तुम पुष्पों को नीरस समझ कर कमल में ही इतने आसक्त कैसे होते हो कि उसके बन्दी होकर भी पड़े रहते हो। सूर कहते हैं कि गोपियों ने उद्धव से कटाक्ष करके कहा कि भ्रमर ! स्वयं प्रेमी होकर भी कमलनयन, कमलपाणि, कमलचरण और कमलमुख कृष्ण को त्यागकर अन्य के विषय में क्यों बकवाद करते हो ? तुम्हें भ्रमर होने के कारण चलो हमारे न सही अपने ही प्रेम के नाते से उस सर्वांग कमल के गुणगान करने चाहिये।

विशेष—इस पद में अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है।

को गोपाल कहाँ को बासी, कासों है पहिचान ?
तुमसों संदेसो कौन पठाए, कहत कौन सों आनि ?
अपनी चाँड आनि उड़ि बैठ्यो भँवर भसो रस जानि।
कै वह बेलि बढ़ी कै सूखो, तिनको कह हितहानि ॥
प्रथम बेनु बन हरत हरिन-मन राग-रागिनी ठानि।
जैसे बधिक बिसासि बिबस करि बधत बिषम सर तानि ॥
पय प्यावत पूतना हती, छपि बालि हत्यो, बलि दानि।
सूपनखा, ताड़का निपाती सूर स्याम यह बानि ॥२२२॥

शब्दार्थ—चाँड—अभिलाषा। बिसासी—विश्वासघाती। बिबस—विवश।

व्याख्या—कृष्ण की निष्ठुरता पर व्यंग्य करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि श्री कृष्ण को मधु के साथ हलाहल देने की आदत तो जन्म-जन्मान्तर से रही है अतः इस विषय में उनसे कुछ कहना व्यर्थ है। गोपाल कौन हैं, कहाँ रहते हैं, उनका प्रेम ही किससे है ? तुम्हारे हाथों यह सन्देशा किसने भेजा है और तुम यह किसे सुना रहे हो ?

उनकी दशा तो भ्रमरों जैसी है जो स्वेच्छा से जहाँ अधिक रस दिखाई दिया उन्हीं की बेलों पर जा बैठे। चाहे वे बेलें हरी-भरी रहें या सूख जायें, उनकी इसमें हानि ही क्या है। जिस प्रकार व्याध वन में जाकर मुरली द्वारा अनेक राग-रागनियों की मधुर लय-लहरी से पहले तो हरिणी के मन को बेबस कर देता है और अपना विश्वास जमाता है फिर उसके साथ विश्वासघात करके कठोर बाण खींचकर मारता है और उस भोली विवश हरिणी के प्राण ले बैठता है, ठीक इसी प्रकार कृष्ण ने हमारे साथ किया है। यह उनके लिए कोई नवीन बात नहीं है, यह तो उनकी पुरानी आदत है। दूध पिलाती हुई पूतना को मारा, बालि को छिपकर मारा। बेचारे बलि को दान देते हुए मार डाला। इसी प्रकार शूर्पणखा और ताड़का को मारा। सूर के स्वामी की तो यह आदत है।

विशेष—(i) अप्रस्तुत प्रशंसा और उपमा अलंकार है।

(ii) इस पद में सूर ने मनोविश्लेषण का अच्छा परिचय दिया है।

(iii) रामावतार के कार्यों को भी कृष्ण के माथे ही मढ़ दिया है।

मधुकर के पठए तें तुम्हरी व्यापक न्यून परी।
नगर नारि-मुखछबि-तन निरखत द्वै बतियाँ बिसरीं।
ब्रज को नेह, परु आप पूर्नता एको ना उबरी।
तीजो पंथ प्रगट भयो देखियत जब भेंटी कुबरी॥
यह तो परम साधु तुम ठहक्यो, इन यह मन न धरी।
जो कछु कह्यो सुनि चल्यो सीस धरि-जोग जुगुति-गठरी॥
सूरदास प्रभुता का कहिए प्रीति भली पसरी!
राजमान सुख रहे कोटि पै घोष न एक घरी॥२५३॥

शब्दार्थ—व्यापक—व्यापकता। नगर नारि—मथुरा की चतुर स्त्रियों की। तीजो पंथ—तीसरा पंथ। यह—ऊधो लिए आया है।

व्याख्या—योग-सन्देश से चिढ़कर कृष्ण पर व्यंग्य करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे कृष्ण! इन मधुकर महाशय को यहाँ भेजने से आपकी व्यापकता में अभाव उत्पन्न हो गया। जब से आपने मथुरा की चतुर स्त्रियों की ओर ताकना आरम्भ कर दिया है तब से दो बातें भूल गये हैं। वे दो बातें हैं ब्रज का स्नेह और स्वयं की पूर्णता। जब से कुबरी का आलिंगन किया तब से तो आपका तीसरा ही पथ प्रगट हो गया है। खैर, कुछ भी हुआ पर यह बेचारा उद्धव तो बड़ा सीधा-सादा है, तुमने इसे धोखा दे दिया है। यह तो अपने सीधेपन के कारण यह भी न समझ सका कि तुम इसे बना रहे हो। अतः तुमने जैसे ही कहा वैसे ही यह बेचारा जोग की पोटली सिर पर रख कर चल दिया। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि आपके मालिक के तो कहने ही क्या हैं। उन्हीं के कारण आपके प्रेम की धूम मच गई। आपको चाहे वहाँ राज्य का मान तथा अनेक प्रकार के सुख प्राप्त हो गये हों किन्तु यहाँ इन ग्वालों की नगरी में तो एक घड़ी भी चैन नहीं है।

विशेष—पहले पदों में गोपियाँ कृष्ण को भोला-भाला समझती रहीं, वे कहती रहीं कि तुम्हें कृष्ण ने यहाँ नहीं भेजा, हे उद्धव, कहीं मार्ग भूल गये हो। प्रस्तुत पद में वे ऊधो को सीधा-सादा कहने लगीं और कृष्ण को बुरा। वस्तुतः विरह में जो उनके मन में आता है सो कहने लगती हैं।

> मधुकर ! काहि बचन कत बोलत ?
> तनक न तोहिं पत्याऊँ, कपटी अंतर-कपट न खोलत।।
> तू अति चपल अलप को संगी बिकल चहूँ दिसि डोलत।
> मानिक काँच, कपूर कटु खली, एक सग क्यों तोलत ?
> सूरदास यह रटत बियोगिनी दुसह दाह क्यों खोलत।
> अमृतरूप आनंद संग निधि अनमिल अगम अमोलत ।।२२४।।

शब्दार्थ—कटु—कड़वी। संगनिधि—श्री कृष्ण के सगुण रूप के समुद्र से। अनमिल—बेमेल। अमोलत—अमूल्य ठहराना।

व्याख्या—निर्गुण-साधना की खिल्ली उड़ाती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे मधुकर ! तुम व्यर्थ की बातें क्यों बक रहे हो ? हमें तुम पर तनिक भी विश्वास नहीं आता। तुम तो इतने कपटी हो कि अपने मन का कपट अब भी प्रगट नहीं कर रहे हो। आखिर बहुत चंचल और ओछे व्यक्ति के साथी हो न ! चारों ओर यों ही व्याकुल होते डोल रहे हो। तू माणिक्य और काँच को तथा कपूर और कड़वी खली को बराबर कैसे बता रहा है ? सूर कहते हैं कि वियोग से व्यथित गोपियों ने उद्धव से बार-बार कहा कि तू हमें क्यों जला रहा है ? तू अपने बेमेल अगम्य निर्गुण को अमृत-रूप आनन्दमय सगुण कृष्ण के सदृश अमूल्य क्यों ठहरा रहा है ?

विशेष—चौथी पंक्ति में प्रतिवस्तूपमा तथा अन्तिम पंक्ति में वृत्यानुप्रास अलंकार है।

> मधुकर ! देखि स्याम तन तेरो।
> हरि-मुख की सुनि मीठी बातें डरपत है मन मेरो।।
> कहत हौं चरन छुवन रसलंपट, बरजत हौं बेकाज।
> परसत गात लगावत कुंकुम, इतनी में कछु लाज ?
> बुधि बिवेक अरु बचन-चातुरी ते सब चित्त चुराए।
> सो उनको कहो कहा बिसारयो, लाज छाँडि ब्रज आए।।
> अब लौं कौन हेतु गावत है हम आगे यह गीत।
> सूर इते सों गारि कहा है जो पै त्रिगुन अतीत ? ।।२२५।।

शब्दार्थ—अतीत—परे। गारि—गाली। बरजत—रोकना।

व्याख्या—निर्गुणोपदेश से उत्पन्न अपने मानसिक खेद को प्रगट करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे मधुकर ! तेरा श्याम कलेवर देखकर और कृष्ण

के मुंह की चिकनी-चुपड़ी बातें तुमसे सुनकर हमारा तो हृदय ही त्रस्त हो गया है। अरे रस के लोभी ! हम तो केवल एक बार उनके चरण-स्पर्श मात्र की ही विनय तुमसे कर रही हैं पर तू व्यर्थ ही हमें इसके लिए मना कर रहा है। जब उन्होंने हमारे शरीर का आलिंगन किया था तथा उस पर केसर का लेप किया था तो अब केवल इतनी-सी बात (चरण-स्पर्श) में भी क्या कुछ दोष है ? उन्होंने तो अपनी बाँकी चितवन से हमारी बुद्धि, विवेक और वचन-चातुर्य सब कुछ हर लिये। वे यहाँ अपनी कौनसी वस्तु भूल गये थे जिसके लिए तुम निर्लज्ज होकर यहाँ आ धमके हो। सूर कहते हैं कि गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि अब तक तू अपना वही निर्गुण का गीत हमारे सम्मुख क्यों गा रहा है ? तू जो हमें त्रिगुणातीत से ध्यान लगाने को कह रहा है इससे बड़ी गाली और तू हमें दे ही क्या सकता है ?

विशेष—त्रिगुणातीत से तात्पर्य है सत्य, रज तथा तम ; इन तीनों गुणों से अपरिच्छिन्न अर्थात् निर्गुण।

मधुकर काके मीत भए ?
दिवस चारि की प्रीति-सगाई सो लै अनत गए।।
डहकत फिरत आपने स्वारथ पाखंड और ठए।
चाँड़ सरे चिन्हारी मेटी, करत है प्रीति नए।।
चितहि उचाटि मेलि गए रावल मन हरि जु लए।
सूरदास प्रभु दूत-धरम तजि बिष के बीज बए ।।२५६।।

शब्दार्थ—चाँड़—इच्छा। सरें—निकल जाने पर। रावल—महल। बए—बाना।

व्याख्या—श्री कृष्ण की निष्ठुरता पर उपालम्भ देती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि भला भौंरे भी कभी किसी के मित्र बने हैं। चार दिन के लिए प्रेम दिखा कर अन्यत्र चलते बनते हैं। अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए दूसरों को फंसाते और बहकाते फिरते हैं और नये-नये आडम्बर रचते हैं। मन की हौंस पूरी हो जाने पर मित्रता तो दूर रही, जान-पहिचान तक नहीं रखते। ये कभी किसी से प्रेम नहीं करते। देखा, स्वार्थ पूरा हो जाने पर किस प्रकार चित्त को हटाकर तथा हमारे मन को चुरा कर वे महलों में जाकर रहने लगे हैं ! सूर कहते हैं कि गोपियों ने उद्धव को लक्ष्य करके कहा कि आप दूत के कर्त्तव्यों को विस्मृत करके विष-बीज बो रहे हो।

विशेष—दूत का सत्कर्त्तव्य यह है कि वह जिसका जो कुछ भी सन्देश लाया है उसे नितान्त सत्य एवं न्यायपूर्वक कह दे। उसमें कुछ अपनी ओर से मिलाकर कहना उसके लिए उचित नहीं है। उद्धव जी ऐसा ही कर रहे हैं अतः गोपियाँ उन्हें फटकार रही हैं।

मधुकर ! कहाँ पढ़ी यह नीति ?
लोकवेद स्तुति-ग्रंथरहित सब कथा कहत बिपरीत ।।

जन्मभूमि ब्रज, जननि जसोदा केहि अपराध तजी ?
अति कुलीन गुन रूप अमित सब दासी जाय भजी ॥
जोग समाधि गूढ़ स्रुति मुनिमग क्यों समुझि है गवारि।
जो पै त्रिगुन-प्रतीत व्यापक तो होहि, कहा है गारि ?
रहु रे मधुप ! कपट स्वारथ हित तजि बहुवचन बिसेखि।
मन क्रम बचन बचत यहि माने सूर-स्याम-तन देखि ॥२४७॥

शब्दार्थ—गारि—गाली। स्रुति—वेद आदि। अमित—अत्यधिक।

व्याख्या—कृष्ण के व्यवहारों पर आक्षेप करती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि हे मधुकर ! यह नीति-शास्त्र तुमने कहाँ से पढ़ा है कि अबलायें योग-साधन करें ? यह बात तो लोक तथा वेद आदि ग्रन्थों के उपदेशों के बिल्कुल विपरीत है। चलो हम यदि यह भी मान लें कि हमारी आसक्ति में काम की गन्ध है अतः हमें आप परमार्थ की ओर लगाने आये हैं किन्तु उन्होंने अपनी प्यारी जन्मभूमि तथा माता यशोदा को किस अपराध में छोड़ा है ? उनमें तो काम की गन्ध नहीं है। यदि वे वीतरागी बन गये तो फिर हमारे लिए ही बने होंगे। उस अत्यन्त कुलीन तथा अत्यधिक गुणशालिनी सर्वांगसुन्दरी दासी को अपने घर में कैसे रख लिया ? अरे यह योग की समाधि बहुत गूढ़ है। श्रुतियों में,उसे मुनि-मार्ग कहा गया है। उसे हम ग्रामीण अबलायें कैसे समझ सकती हैं ? यदि त्रिगुणातीत तुम निर्गुण को सर्वव्यापक कहते हो तो पतिव्रता स्त्रियों के लिए इससे बड़ी गाली और क्या हो सकती है.?. अतः हे भौंरे ! अब बस तू चुप हो, अधिक बातें मत बना। बहुत हो चुका। कोई भी भली स्त्री इन गालियों को सुनना नहीं चाहेगी। सूर कहते हैं कि गोपियों ने उद्धव से कहा कि हम मन, वचन और कर्म से कहती हैं कि इस उग्र अपराध में भी तुम इसलिए बच रहे हो कि हमें श्याम की बहुत शर्म है ; नहीं तो तुम्हारी पूजा पूरी ही कर देतीं।

विशेष—गोपियों का अभिप्राय यह है कि यदि वे हमें योग की शिक्षा देते हैं तो फिर आप योग धारण क्यों नहीं करते। आप तो उस कुब्जा के साथ रसकेलियाँ करते हैं और हमारे लिए भभूत लगाने के लिए भेजी है। ठीक है खुद मियाँ फजीहत और दीगरे नसीहत !

मधुकर ! होहु यहाँ तें न्यारे।
तुम देखत तन अधिक तपत है अरु नयनन के तारे ॥
अपनो जोग सैंति धरि राखौ, यहाँ लेत को, डारे ?
तोरे हित अपने मुख करिहैं मीठे ते नहिं खारे ॥
हमरे गिरिवरधर के नाम गुन बसे कान्ह उर बारे।
सूरदास हम सबै एकमत, तुम सब खोटे कारे ॥२४८॥

शब्दार्थ—सैंति—सहेज कर। न्यारे—अलग। को—कौन। कारे—काले।

व्याख्या—उद्धव को फटकारती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे मधुकर ! तुम

यहाँ से अलग हट जाओ। तुम्हें देखते ही हमारा शरीर और हमारे नेत्र तपने लगते हैं। हटो यहाँ से और अपने इस योग को सम्भाल कर अपने पास रखो। यहाँ व्यर्थ में इसे क्यों फेंक रहे हो ? यहाँ इसे लेने वाला ही कौन है ? केवल तुम्हारे मन को राजी रखने के लिए हम अपने मुंह के मीठे स्वाद को खारी नही बना सकतीं अर्थात् सरस सगुण को छोड़कर नीरस निर्गुण को नही अपना सकतीं। हमारे हृदय में तो बाल्यकाल से ही गिरवरधारी कृष्ण के नाम और गुण बस रहे हैं। यह तुमसे बार-बार कह चुकी हैं पर तुम नहीं मान रहे हो। सूर कहते हैं कि गोपियों ने उद्धव से कहा कि तुम्हारी इन बातों को देखकर आज हम सभी की एक राय है कि तुम जितने भी काले हो, सबके सब खोटे हो।

विशेष—जब उद्धव जी महाराज बार-बार योग के सन्देश को दोहराते हैं तो गोपियों के पास उन्हें फटकारने के अतिरिक्त और कोई उपाय ही नही रहता।

मधुप ! बिराने लोग बटाऊ।
दिन दस रहत काज अपने को तजि गए फिरे न काऊ।।
प्रथम सिद्धि पठई हरि हमको, आयो ज्ञान अगाऊ।
हमको जोग, भोग कुबजा को, वाको यहै सुभाऊ।।
कीजै कहा नंदनंदन को जिनके है सतभाऊ।
सूरदास प्रभु तन मन अरप्यो प्रान रहैं कै जाऊ।।२५६।।

शब्दार्थ—बटाऊ—पथिक। काऊ—कभी। अगाऊ—आगे-आगे।

व्याख्या—उद्धव को भौंरे के सम्बोधन से पुकार कर कहती हैं कि हे मधुप ! पथिक लोग सदा पराये ही होते हैं। वे अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए चाहे दसेक दिन भले ही ठहर जायें किन्तु अन्त में तो वे जाते ही हैं और ऐसे जाते हैं कि फिर कभी लौटते ही नहीं। भगवान् कृष्ण ने पहले हमारे लिए सिद्धि भेजी थी पर अब यह ज्ञान आगे आ गया। हमारे लिए योग और कुब्जा को जो वे भोग दे रहे है, यह तो उनका स्वभाव ही है। किन्तु हमें जब उन नन्दनन्दन से प्रेम है तो फिर उनके लिए क्यों कुछ कहेंगी और करेंगी ? हमने तो सूर के प्रभु श्याम को अपना तन मन सब कुछ अर्पित कर दिया है, हमारे प्राण रहें चाहे चले जायें, अब हम और कर ही क्या सकती हैं ?

विशेष—'प्रथम सिद्धि पठई' का अर्थ यह है कि पहले तो मिलन रूप में हमें सिद्धि प्राप्त हुई थी। 'आयो ज्ञान अगाऊ' से तात्पर्य यह है कि यह ज्ञान तो अब उन्होंने बाद में भेजा है।

मधुकर ! महाप्रवीन सयाने।
जानत तीन लोक की बातें अबलन काज अयाने।।
जे कच कनक-कचोरा भरि-भरि मेलत तेल-फुलेल।
तिन. केसन. को.भस्म. बताक्त., हैरू. कैसो. खेल.।।

जिन केसन कचरी गहि सुंदर अपने हाथ बनाई।
तिनको जटा धरन को, ऊधो! कैसे कै कहि आई?
जिन स्रवनन ताटंक, खुभी अरु करनफूल खुटिलाऊ।
तिन स्रवनन कसमीरी मुद्रा, लटकन, चीर झलाऊ॥
भाल तिलक, काजर खख, नासा नकबेसरि, नथ फूली।
ते सब तजि हमरे मेलन को उज्वल भस्मी झूली॥
कंठ सुमाल, हार मनि, मुक्ता, हीरा, रतन अपार।
ताही कंठ बाँधिबे के हित सिंगी जोग सिंगार॥
जिहि मुख मीत सुभाखत गावत करत परस्पर हास।
ता मुख मौन गहे क्यों जीवैं, घूटं ऊरध स्वास?
कंचुकि छीन, उबटि घसि चंदन, सारी सारसबंद।
अब कंथा एकै अति गूदर क्यों पहिरैं, मतिमंद?
ऊधो, उठो सबै पा लागैं, देख्यो ज्ञान तुम्हारो।
सूरदास मुख बहुरि देखिहैं जीजो कान्ह हमारो॥२३०॥

शब्दार्थ—कचोरा—कटोरा। ताटंक, खुभी, खुटिला—कान के गहने। फूली—फूल, लौंग। सारी—साड़ी। सारस—कमल। गूदर—फटी। टेसू—लड़कों का एक उत्सव। कबरी—चोटी। झलाऊ—झोल। झूली—थैली। कंथा—योगियों की गुदड़ी।

व्याख्या—योग की अनुपयुक्तता का विस्तृत वर्णन करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे भौंरे! तुम तो प्रवीण और चतुर हो। तुम्हें तो तीनों लोकों का ज्ञान है फिर हम अबलाओं के कार्य के लिए ही इतने अज्ञानी क्यों हो? जिन बालों में कृष्ण सोने की कटोरी में तेल भरकर डाला करते थे उन्हीं बालों में तुम अब भस्म लगाने को कहते हो। तुम्हारी यह बात तो टेसू जैसे खेल के समान है। इन्हीं बालों को कृष्ण अपने अपने हाथ में लेकर सुन्दर चोटियाँ बनाते थे और तुम इन्हीं को जटा रूप में बदलने को कह रहे हो! तुमने यह बात कह कैसे दी? जिन कानों में कृष्ण ताटंक, खुभी तथा फूल आदि गहने पहनाया करते थे उन्हीं में तुम अब स्फटिक की मुद्रा पहनाने को कहते हो तथा उनपर ढीला कपड़ा डालने को कहते हो। यह तो नितान्त अनुचित बात है। पहले वे हमारे माथे पर तिलक लगाते थे, आँखों में काजल और नाक में नकबेसर तथा नथफूली आदि गहने पहनाते थे। तुम अब इन सब को त्यागकर भस्म लगाने को कहते हो। हमारे कण्ठों में मालायें, हार तथा अनेक मणियों-मुक्ताओं और हीरे के गहने रहते थे। उन्हीं में तुम अब योग का शृंगी बाजा बाँधने को कहते हो। जिस मुख से हम लोग अच्छे-अच्छे गीत गाते थे, परस्पर हँसते-बोलते थे उसी के लिए अब तुम मौन धारण करने को कहते हो। क्या इससे हमारा श्वास नहीं घुटेगा? जी नहीं घबरायेगा? जिस शरीर पर हम कंचुकि धारण करती थीं, श्वेत सुन्दर साड़ी पहनती थीं, कृष्णचंदन तथा उबटन आदि सुगन्धित

वस्तुएँ लगाती थीं, हे मूर्खराज ! उस शरीर पर तुम केवल कंथा तथा गुदरी धारक करने को कहते हो। यह कितना अन्याय तुम हमारे साथ कर रहे हो। ऊधो, अब तुम उठकर चले जाओ। हमने तुम्हारा ज्ञान देख लिया। बस हमारी यही इच्छा है कि हमारे कृष्ण जीवित रहें। हमें पूरा विश्वास है कि उनका मुखचन्द्र हमें फिर से देखने को मिलेगा !

विशेष—इस पद में गोपियों के मुख से सूर ने योग की अनुपयुक्तता पर विस्तृत रूप से प्रकाश डलवाया है।

मधुकर ! कौन देस तें आए ?
जब तें क्रूर गयो लै मोहन तब तें भेद न पाए ॥
जाने सखा साधु हरिजू के अवधि बदन को आए।
अब या भाग, नंदनंदन को या स्वामित को पाए ॥
आसन, ध्यान, वायु-अवरोधन, अलि, तन मन अति भाए।
है बिचित्र अति, गुनत सुलच्छन गुनी जोगमत गाए ॥
मुद्रा, सिंगी, भस्म, त्वजा-मृग अजजुवती-तन ताए।
अतसी कुसुम बरन मुख मुरली सूर स्याम किन लाए ?॥२६१॥

शब्दार्थ—स्वामित—प्रभुता। अतसी—अलसी। वायु-अवरोधन—प्राणायाम।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से प्रश्न करती हैं कि हे मधुकर ! आप कहाँ से आये हैं ? जब से वह दुष्ट मोहन को लिवाकर ले गया है तब से तो उसका कोई भेद ही नहीं चला। अतः हमने तुम्हें श्री कृष्ण का सखा समझकर यह समझा कि तुम हमें उनके प्रत्यागमन की अवधि बताने आये हो। परन्तु तुमसे बातें करने पर तो ऐसा लग रहा है कि पता नहीं अब इस भाग्य में नन्दनन्दन के दर्शन हैं अथवा नहीं। अथवा भाग्य से प्रभु के योगी बनने के कारण सर्वोपरि स्थान मिलेगा। हे भ्रमर ! तुम्हारे द्वारा बताई हुई आसन, ध्यान और प्राणायाम सभी वस्तुएँ सभी प्रकार से तन-मन को अच्छी लगने वाली हैं पर ये सब हैं बहुत अद्भुत। गुणी और लक्षण-सम्पन्न लोगों के यह योग-मत अनुरूप है। तुम इन मुद्रा, सिंगी, भस्म, मृगछाला आदि योग के उपकरणों को बिना सोचे-विचारे यहाँ ले आये हो और व्रजयुवतियों के शरीर को सेंत-मेंत में सन्तप्त कर रहे हो। हमारे लिए यदि तुम्हें कुछ लाना ही था तो अलसी के पुष्प के समान वर्ण वाले सूर के श्याम को, जिनके मुख पर मुरली विराजमान है, क्यों नहीं ले आये ? हमारा मनोविनोद तो उनसे ही सम्भव था।

विशेष—इस पद में वाचक लुप्तोपमा अलंकार है।

मधुकर ! कान्ह कही नहिं होंहो।
यह तो नई सखी सिखई है निज अनुराग बरोहो ॥

गाँठि राखी कूबरी-पीठि पै ये बातें चकचोही।
स्याम सुगाहक पाय, सखी री, छार दिखायो मोही॥
नागरमनि जे सोभा-सागर जग जुवती हँसि मोही।
लियो रूप दै ज्ञान ठगौरी, भलो ठग्यो ठग वोही॥
है निर्गुन सरबरि कुबरी अब घटी करी हम जोही।
सूर सो नागरि जोग दीन जिन तिन्हिं आज सब सोही॥२६२॥

शब्दार्थ—बरोही—बस गे। चकचोही—चुहल की। लियो रूप—निराकार कर दिया।

व्याख्या—व्यंग्य करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे मधुकर! ये बातें कृष्ण ने कभी नहीं कही होंगी। ये बातें तो उनकी प्रेमसी द्वारा अपने प्रेम-बल पर गढ़ कर दिखाई गई प्रतीत होती हैं। ऐसी चुहल की बातें तो उसने ही अपने पीठ के कुबड़े में संचित करके रख छोड़ी हैं। स्याम जैसे अच्छे प्रेमी को पाकर हे सखी! आज वह हमको यह धूल दिखा रही है। कुछ भी हो, एक बात अच्छी हुई। शोभा के सिन्धु तथा नागर-शिरोमणि कृष्ण ने संसार की युवतियों को अपने स्मित से मोहित किया था किन्तु उसे रूप के बदले ज्ञान पकड़ाकर उस कुब्जा ने भी खूब ठगा है! जो उन्होंने हमारे साथ किया था उसे निर्गुण देकर कुबरी ने पूरा कर दिया। सूर कहते हैं कि गोपियों ने उद्धव से कहा कि उस चतुरा ने हमारे लिए योग दिया है। ठीक है भाई, आज उसके दिन अच्छे हैं, जो भी वह कर दे सो ठीक है।

विशेष—उत्प्रेक्षा गम्य की शोभा दर्शनीय है।

मधुकर! अब धौं कहा करचो चाहत?
ये सब भई चित्र की पुतरी सून्य सरीरहिं दाहत॥
हमसों सोसौं बेर कहा, अलि, स्याम अजान ज्यों राहत।
झारि झूरि मन लो हरि लै गए बहुरि पयारहिं गाहत॥
अब तौ सोहि महत को गहिबो कह सम करि तू लैहै?
सूरज कोट मध्य तू ह्वै रह, अपनो कियो तू पैहै॥२६३॥

शब्दार्थ—पयारहिं—अनाज के पौधों के सूखे डण्ठल। गाहत—डंडे से उलट-पलटकर झाड़ना।

व्याख्या—बार-बार के निर्गुणोपदेश पर व्यथित होकर गोपियाँ कहती हैं कि हे मधुकर! तू न जाने अब क्या और करना चाहता है? हम सब युवतियाँ तो इस दाहक सन्देश को सुनकर चित्र की पुत्तलिकाओं के समान निर्जीव हो गई हैं। अब तू व्यर्थ इनके प्राण-शून्य शरीर को क्यों जलाये जा रहा है? इससे तेरी क्या शत्रुता है कि तू स्याम के विषय में तो अनभिज्ञ रहता है और निर्गुण के विषय में बार-बार कहे जाता है। क्या तुझे नहीं मालूम कि स्याम हमारे मन को बिलकुल

झाड़ कर ले गये। हैं, हमारे पास वे तनिक भी नहीं छोड गये है। तू आकर उसके पुराल को फिर से मींड रहा है। जब श्री कृष्ण मन का अन्तिम कण तक झाड कर ले गये तो फिर दाँव चलाने से ही क्या हाथ लगेगा? अब तो तू यो ही हवा को पकड़ रहा है। इसमें श्रम करके तुझे क्या मिलेगा? सूर कहते हैं कि गोपियाँ उद्धव से कहती है कि अब तू अपने कोठे मे बस आराम से पड़ा रह। व्यर्थ का श्रम न कर। अन्यथा तू अपने किये का फल भुगतेगा।

विशेष—इस पद में रूपक, अतिशयोक्ति और अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार है।

मधुकर! आवत यहै परेखो।
जब बारे तब आस बडे की, बडे भए सो देखो॥
जोग-जज्ञ, तप, दान, नेम-व्रत करत रहे पितु-मात।
क्यों हूँ सुत जो बढ्यो कुसल सों, कठिन मोह की बात॥
करनी प्रगट प्रीति पिक-कीरति अपने काज कों और।
काज सरघो दुख गयो कहाँ धौं, कहूँ बायस को बौर॥
जहँ जहँ रहौ राज करौ तहँ तहँ लेब कोटि सिर भार।
यह असीस हम देति सूर सुनु न्हात खसै जनि बार॥२६४॥

शब्दार्थ—परेखो—पछतावा। बारे—छोटे। भोर—संकट। सरघो—पूरा हुआ। खसै—टूट कर गिरना।

व्याख्या—कृष्ण की निष्ठुरता एव अपनी शुभकामनाओं पर प्रकाश डालती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे मधुकर! हमको यही अफसोस है कि पुरुष सदैव यही आशा किया करता है कि हमारे छोटे बड़े होकर हमें सुख देंगे। बड़े होने पर उनकी आशा निराशा मे बदल जाती है। अपनी सन्तानो की शुभकामना से माता-पिता योग, यज्ञ, तप, दान, नियम और व्रत किया करते हैं। यदि उनका पुत्र बडा हो जाता है तो क्या कहने! लेकिन मोह की बात बहुत कठिन होती है जिसके कारण वे कष्ट भोगते हैं। कोयल की जैसी प्रसिद्धि है वैसी ही प्रीति भी उनकी प्रकट हो जाती है। कोयल के बच्चे अपने स्वार्थ के लिए कौओं से प्रेम करते हैं पर जब उनका काम निकल जाता है तो वे उनकी तनिक भी चिन्ता नहीं करते। खैर, चलो कृष्ण ने जो कुछ भी किया अच्छा ही। किया हम तो उन्हें यही आशीर्वाद देती हैं कि वे चाहे जहाँ रहें, राज्य करते रहें। सकुशल रहें और उनका एक बाल भी न बिगड़े।

विशेष—इस पद मे अप्रस्तुत प्रशंसा अलकार है।

मधुकर! प्रीति किए पछितानी।
हम जानी ऐसी निबहैगी उन कछु और ठानी॥
कारे तन को कौन पत्यानो? बोलत मधुरी बानी।
हमको लिखि लिखि जोग पठावत आपु करत रजधानी॥

सूनी सेज स्याम बिनु मोको तलफत रैनि बिहानी।
सूर स्याम प्रभु मिलिकै बिछुरे तातैं मति जु हिरानी ॥२६५॥

शब्दार्थ—पत्यानो—विश्वास किया। निबहैगी—निर्वाह होगा। बिहानी—अकेले। हिरानो—नष्ट होना।

व्याख्या—कोई गोपी वर्तमान वियोग से व्यथित होकर पश्चात्ताप करती हुई उद्धव से कहती है कि हे मधुकर ! मैं तो प्रेम करके पछता रही हूँ। मैं तो यह समझती थी कि इसी प्रकार कटती रहेगी पर हाय, उन्होंने मन में कुछ और ही ठान रखा था। अरे ! इन काले शरीर वालों का विश्वास ही क्या ? उनके तो बस बोल ही मीठे होते हैं जिनसे वे दूसरों को मोह लेते हैं। देखा न, हमारे लिए तो श्रीमान् जी योग का सन्देश लिख-लिखकर भेज रहे हैं और स्वयं चैन से राजधानी में भोग कर रहे हैं। हाय ! आज मेरी शय्या सूनी है। सारी रात मुझे तड़पते ही बीतती है। बात यह है कि सूर के स्वामी श्याम प्रियतम के बिछुड़ जाने से मेरी मति ही नष्ट हो गई है।

विशेष—मति नष्ट हो जाने के कारण ही गोपियाँ जागरण और उन्माद के चक्कर में फँस रही हैं।

मधुकर की संगति तें जनियत बंस अपन चितयो।
बिन समुझे कह चहति सुंदरी सोइ मुख-कमल गह्यो ॥
व्याधनाद कह जानैं हरिनी करसायल की नारि ?
आलापहु, गावहु, कै नाचहु दाँव परे लै मारि ॥
जुआ कियो ब्रजमंडल यहु हरि जीति अबिधि सों खेलि।
हाथ परी सो गही चपल तिय, रखी सदन में हेलि ॥
ऊनो कर्म कियो मातुल बधि मदिरा-मत्त प्रमाद।
सूर स्याम एते औगुन में निर्गुन तें अति स्वाद ॥२६६॥

शब्दार्थ—चितयो—ताका। सदन—घर। हेलि—डाली। ऊनो—ओछा। मातुल—मामा। करसायल—मृग। अबिधि सों—अन्याय से।

व्याख्या—कृष्ण चाहे दोषयुक्त हैं किन्तु गोपियों को वे तब भी प्रिय हैं इसी भाव को व्यक्त करती हुई वे ऊधो से कहती हैं कि मधुकर जैसों की संगति में रहकर ही वे इस प्रकार निर्मोही बन गये हैं कि अन्त में वे अपने वंश की ओर ही झुक गये। जिस प्रकार भ्रमर इधर-उधर रंगरेलियाँ करके अपने घर बाँस में आ रहता है ठीक उसी प्रकार कृष्ण ने भी उसके साथ रहकर यह सीख लिया कि इधर-उधर रंगरेलियाँ करके अपने वंश में जा घुसे। ब्रज की सुन्दरियाँ बिना इस बात को समझे अब उसी मुख-कमल को अपनाने का आग्रह कर रही हैं। बेचारी मृग की गृहिणी व्याध के नाद का रहस्य क्या समझती ? वह तो उस पर मुग्ध होकर अपनी सुध-बुध खोकर अचेत हो जाती है। फिर उसके लिए व्याध की सब बातें एक जैसी हो जाती हैं जैसे उसका पुकारना, तान लय से गाना-नाचना तथा घात लगाने पर मार डालना।

हरि ने भी इस ब्रज मे रहकर एक जुआ खेल दिया और अवधि को दाँव पर रखकर हमें जीत कर यहाँ से चलते बने। पहले से ज्ञात भी क्या था कि ये महाशय इस प्रकार के निकलेंगे। यहाँ रहकर जिसे भी चाहा उसी कामिनी को अपने घर मे डाल लिया। वे बेचारी क्या जानती थीं कि ये रगरेलियाँ चार दिन की हैं। खैर यह भी हुआ, वे मथुरा गये वहाँ उन्होंने जो कुछ किया उसे भी सब जानते हैं। मामा को मार दिया, कितना हीन कार्य किया! यह तो उन्होंने ऐसा कार्य कर दिया जैसा कोई शराब के नशे में मस्त होकर ऊटपटाँग कार्य कर देता है। इतना होते हुए भी हे उद्धव! न जाने क्यों इन सब गुणों से भरे-पूरे भी सूर के स्वामी श्याम हमें तुम्हारे निर्गुण से कहीं अधिक प्यारे लगते हैं।

विशेष—इस पद में अन्योक्ति एवं श्लेष अलंकार है।

मधुकर! चलु आगे तें दूर।
जोग सिखावन को हमें आयो बड़ो निपट तू क्रूर॥
जा घट रहत श्यामघन सुंदर सदा निरंतर पूर।
ताहि छाँडि क्यों सून्य अराधैं, खोवें अपनो मूर?
ब्रज में सब गोपाल उपासी, कोउ न लगावै धूर।
अपनो नेम सदा जो निबाहै सोइ कहावै सूर॥२६७॥

शब्दार्थ—मूर—मूलधन। सूर—शूरवीर। निपट—अज्ञानी।

व्याख्या—योगोपदेश पर उद्धव को फटकारती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे मधुकर! तू यहाँ से हट जा और कहीं दूर चला जा। बड़ा आया कहीं से योग सिखाने, तू तो बड़ा क्रूर है। जिस हृदय में सदैव पूर्णरूप से सुन्दर घनश्याम रहते हैं, उसे छोड़कर हम श्याम की आराधना कैसे करें? क्या इसलिए कि हम अपना मूलधन भी खो दें। इस ब्रज में सभी गोपाल के उपासक हैं। यहाँ आपकी योग की यह भस्म लगाने को कोई तैयार नहीं है। जो अपने नियम-व्रत का सदैव पालन करते हैं वे ही शूरवीर कहलाते हैं।

विशेष—सतामिरक्षा हि सताम्नेक्रिया (भारवि)

मधुकर! सुनहु लोचन-बात।
बहुत रोके अंग सब पै नयन उड़ि उड़ि जात॥
ज्यों कपोत वियोग-आतुर भ्रमत है तजि धाम।
जात दृग त्यों, फिरि न आवत बिना दरसे स्याम॥
रहे मूँदि कपाट पल दोउ, भए घूँघट-ओट।
स्वास बढ़ि तौ जात तिनहीं निदरि आमय कोट॥
स्रवन सुनि जस रहत हरि को, मन रहत धरि ध्यान।
रहत रसना नाम रटि, यें इनहिं दरसन हान॥

करत देह विभाग भोगहिं, जो कछू सब लेत।
सूर बरसन ही बिना यह पलक चैन न देत ॥२६८॥

शब्दार्थ—पल—पलक। ओट—उद्गार। हान—हानि।

व्याख्या—अपनी विरह-व्यथा को कम करने का एकमात्र उपाय श्रीकृष्ण-दर्शन को बताती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे मधुकर! तुम हमारे नेत्रों की बात सुनो। हमने इन्हें सभी अंगों से रोका किन्तु ये फिर भी वहीं उड़कर चले जाते हैं। जिस प्रकार कबूतर वियोग से व्याकुल होकर अपने घर को छोड़कर इधर-उधर भटकता फिरता है उसी प्रकार हमारे ये नेत्र भी व्याकुल होकर चले जाते हैं और श्याम को देखे बिना फिर नहीं लौटते। हमने इन्हें पलकों के किवाड़ों में बन्द करके घूंघट की ओट में रख छोड़ा किन्तु हमारे दीर्घ श्वास निकलकर उधर ही चले जाते हैं और काम के उद्गार निकाल देते हैं। कान उनका यश-वर्णन सुनकर धैर्य रख लेते हैं, मन भी उनका ध्यान धारण करके किसी न किसी प्रकार सन्तुष्ट हो जाता है, हमारी वाणी भी उनका नाम रटती ही रहती है किन्तु इन बेचारे नेत्रों को दर्शनों की ही हानि है अर्थात् इन्हें, इनका भोग प्राप्त नहीं होता। सूर कहते हैं कि गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि यद्यपि यह ठीक है कि शरीर में इन्द्रियाँ जो कुछ भी भोग करती हैं उसका आनन्द सारी इन्द्रियों में बँट जाता है तथापि हरि के दर्शनों के बिना ये नेत्र पल भर भी चैन नहीं पाते।

विशेष—इस पद में उपमा एवं रूपक अलंकार है।

मधुकर! जो हरि कही करें।
राजकाज चित दयो साँवरे, गोकुल क्यों बिसरें?
जब लौं घोष रहे हम तब लौं संतत सेवा कीन्ही?
बारक कहे उलूखल बाँधे, यहै कान्ह जिय लीन्हो॥
जौ पै कोटि करें ब्रजनायक बहुतै राजकुमारी।
तौ ये नंद पिता कहँ मिलिहैं अरु जसुमति महतारी?
गोबर्द्धन कहँ गोपबृंद सब कहँ गोरस सब पैहो?
सूरदास अब सोई करिए बहुरि हरिहिं लै ऐहो॥२६९॥

शब्दार्थ—सद—ताजा। बारक—एक बार। पैहो—प्राप्त करेंगे।

व्याख्या—प्रेम का उपालम्भ देकर श्री कृष्ण को ब्रज लाने की प्रार्थना करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे मधुकर! यदि श्री कृष्ण कहना मान लें तो उन्हें यहाँ लिवाकर ले आना। उन श्यामसुन्दर ने राज्य-कार्य में अपना मन लगा लिया। यह तो खैर अच्छा किया पर यह हमारी समझ में नहीं आ रहा है कि उन्होंने गोकुल को क्यों भुला दिया? जब तक वे इस ग्वालों की बस्ती में रहे तब तक हम लोगों ने सदा उनकी सेवा की। कहीं एक बार उलूखल से बाँध दिया था। उन्होंने हमारे इसी एक अपराध को हृदय में रख लिया और नाराज होकर यहाँ आना बन्द कर दिया। उन्हें

राजकुमारियाँ तो अनेक मिल सकती हैं परन्तु करोड़ों प्रयत्न करने पर भी नन्द जैसे पिता और यशोदा जैसी माता और कहीं नहीं मिल सकती। गोवर्धन तथा ये ग्वालों की टोली और ताजा मक्खन उन्हें और कहीं कैसे मिल सकेगा ? सूर कहते हैं कि गोपियों ने उद्धव से कहा कि भाई वही कार्य करो जिससे श्री कृष्ण यहाँ फिर आ जावें।

विशेष—बिल्कुल इसी आशय का एक पद पहले भी आ चुका है। वहाँ केवल क्रियाओं के कुछ रूप बदले हुए हैं। वहाँ पर यह 'ऊधो ! यह हरि कहा करयौ ?' इस प्रश्न से प्रारम्भ किया गया है।

मधुकर ! भल आए बलवीर।
दुर्लभ दरसन सुलभ पाए जान क्यों परपीर ?
कहत बचन, बिचारि बिनवहि सोधियो उन पाहि।
प्रानपति की प्रीति, ऊधो ! है कि हम सो नाहिं ?
कौन तुम सो कहैं, मधुकर ! कहन जोगी नाहिं।
प्रीति की कछु रीति न्यारी जानिहौ मन माहिं॥
नयन नींद न परं निसिदिन बिरह बाढ्यो देह।
कठिन निर्दय नद के सुत जोरि तोरयो नेह॥
कहा तुम सों कहैं, षटपद ! हृदय गुप्त कि बात।
सूर के प्रभु क्यों बनै जो करं अबला घात ?॥२७०॥

शब्दार्थ—षटपद—भौंरा। सोधियो—उनसे पूछना। घात—हत्या।

व्याख्या—श्रीकृष्ण-दर्शन के लिए विनय करती गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे मधुकर! अब हित इसी में है कि बलदाऊ के भाई कृष्ण आ जावें। आपके दुर्लभ दर्शन सुलभ हो गये पर पता नहीं कि आप पराई पीर की उपेक्षा क्यों कर रहे हैं ? हे उद्धव! आपसे एक प्रार्थना है कि आप उनसे पता लगाना कि उन प्रियतम का हम पर स्नेह है या नहीं। हे मधुकर ! हम तुमसे प्रीति के रहस्य का क्या वर्णन करें। वह कहने योग्य नहीं है। यह तो तुम समझ ही लो कि प्रेम की तो रीति ही कुछ न्यारी होती है। हमारे शरीर में व्यथा अब इतनी बढ़ गई है कि दिन-रात नेत्रों में नींद तक नहीं आती। परन्तु नन्दनन्दन बड़े कठोर हैं कि उन्होंने हम से प्रेम जोड़ कर फिर तोड़ दिया। हे भौंरे ! हम तुमसे अपने हृदय की गुप्त बातें कहाँ तक कहें। भला कृष्ण का कार्य उचित है कि वे अबलाओं की हत्या करने को तैयार हैं ?

विशेष—गोपियाँ स्त्रियाँ होने के कारण अपनी गुप्त बातें बताने में उद्धव के सम्मुख कुछ लज्जा का अनुभव अवश्य करती होंगी किन्तु प्रेम की पीर ने उन्हें कुछ ऐसा विवश बना दिया है कि वे न चाहते हुए भी कह ही देती हैं !

मधुकर ! यह कारे की रीति।
मन दै हरत परायो सर्बस करं कपट की प्रीति॥

ज्यों षटपद अंबुज के दल में बसत निसा रति मानि।
दिनकर उए अनत उड़ि बैठे फिर न करत पहिचानि॥
भवन भुजंग पिटारे पाल्यो ज्यों जननी जनि तात।
कुल-करतूति जाति नहिं कबहूँ सहज सो डसि भजि जात॥
कोकिल काग कुरंग स्याम की छन छन सुरति करावत।
सूरदास प्रभु को मुख देख्यों निसिदिन ही मोहिं भावत॥२७१॥

शब्दार्थ—कारे—काले। षटपद—भौंरा। अंबुज—कमल। अनत—अन्यत्र।

व्याख्या—श्रीकृष्ण-प्रेम का उलाहना देती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे मधुकर! कृष्ण ने हमसे इतना प्रेम करके भी हमें जो विस्मृत कर दिया है, उसमें *उनका कुछ दोष नहीं है। यह तो उनके काले रंग का दोष है। कालों की कुछ रीति* ही ऐसी है। वे बनावटी प्रेम दिखाकर और खूब मन लगाकर पराये सर्वस्व का अपहरण कर लेते हैं। भौंरे को ही देख लो! रात भर कमल की पंखुड़ियों में बन्द रह कर उस अपना प्रेम दिखाता रहता है परन्तु सूर्य के उदय होते ही अन्यत्र उड़ जाता है और फिर उससे परिचय भी नहीं दिखाता। इसी प्रकार साँप का भी हाल है। उसे माँ-बाप के समान बड़ी सावधानी से पिटारे में रखकर पाल लो परन्तु अवसर पाते ही वह अपने वंश की करतूत को नहीं छोड़ता और काट कर भाग जाता है। इसी प्रकार कोकिल, कौआ और हिरण हैं। इनसे हमें क्षण-क्षण श्याम की याद आती है। सूर कहते हैं कि गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि पर हम क्या करें! हमें तो दिन-रात उन स्वामी का मुख देखना ही भाता है, और कुछ अच्छा ही नहीं लगता।

विशेष—इस पद में उपमा और स्मरण अलंकार है।

✓ मधुप! तुम कहा यहे गुन गावहु।
यह प्रिय कथा नगर-नारिन सौं कहौ जहाँ कछु पावहु।
जानत मरम नंदनंदन को, और प्रसंग चलावहु।
हम नाहीं कमलिनि-सी भोरी करि चतुरई मनावहु॥
जनि परसौ अलि! चरन हमारे बिरह-ताप उपजावहु।
हम नाहीं कुबिजा-सी भोरी, करि चातुरी दिखावहु॥
अति विचित्र लरिका की नाईं गुर दिखाय बहरावहु।
सूरदास प्रभु नागरमनि सौं कोउ बिधि आनि मिलावहु॥२७२॥

शब्दार्थ—गुर—गुड़। कोउ—किसी प्रकार। आनि—लाकर।

व्याख्या—श्री कृष्ण के दर्शन कराने का अनुरोध करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे मधुकर! तुम बार-बार ये ही निर्गुण के गीत क्यों गाये जा रहे हो? यह निर्गुण-गाथा नगर-नारियों के लिए रुचिकर होगी। अतः आप जाकर इसे वहीं सुनाओ वहाँ आपको इसके लिए इनाम मिल सके। तुम तो नन्दनन्दन के मर्म से भी [illegible] हो। तुम और कोई दूसरा प्रसंग क्यों नहीं चलाते। हे भौंरे! हम कमलिनी

के समान भोली-भाली नहीं हैं जिन्हें तुम चतुरता दिखाकर मना रहे हो। हे भ्रमर ! तुम हमारे पैर न छुओ ! इससे तो हमारी विरह-व्यथा और भी बढ़ जाती है। हम कुब्जा के समान सीधी-सादी नहीं है जिनके सम्मुख यह चतुरता दिखा रहे हो। तुम चाहे जितना प्रयास करो किन्तु हम नहीं मानेंगी। उद्धव ! तुम तो बहुत ही विचित्र आदमी हो। हमे भी बच्चो की भाँति गुड़ दिखाकर बहला रहे हो। हम तुम्हारे बहकाने मे नहीं आ सकतीं। हमारा तो यही आग्रह है और जो बिल्कुल अटल है कि किसी न किसी प्रकार सूर के स्वामी रसिक शिरोमणि श्री कृष्ण को हमसे लाकर मिला दो।

विशेष—(i) इस पद मे मालोपमा अलंकार है।

(ii) उद्धव गोपियों के पैर छूते थे, यह बात इसलिए कही गई है क्योंकि भौंरा उड़-उड़कर स्वभावतः गोपियो के पैरों पर गिर जाता है।

मधुकर ! पीत बदन किहि हेत ?
जनु अंतर मुख पांडु रोग भयो जुवतिन जो दुख देत ॥
रसमय तन मन स्याम-धाम सो क्यों उजरो संकेत।
कमलनयन के बचन सुधा से करट घूँटि करद घूँट भरि लेत ॥
कुत्सित कटु बायस सायक सो अब बोलत रसखेत ?
इन चतुरी तें लोग बापुरे कहत धर्म को सेत ॥
माधे परो जोगपथ तिनके बक्ता छपद सचेत।
लोचन ललित कटाच्छ मोच्छ बिनु महि मे जिए निचेत ॥
मनसा वाचा और कर्मना स्याम सुंदर सों हेत।
सूरदास मन की सब जानत हमरे मनहि जितेत ॥२७३॥

शब्दार्थ—बदन—मुख। संकेत—मिलन का स्थान। करट—कौआ। सेत—पुल।

व्याख्या—उद्धव जी के रूप-रंग पर कटाक्ष करते अपनी विरह व्यथा का वर्णन करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे उद्धव ! तुम्हारा मुख पीला किसलिए है ? तुम जो युवतियों को दुःख देते फिर रहे हो इसके कारण शायद तुम्हें यह पाण्डुरोग हो गया है। तुम्हारा तन और मन मधुरिमामय श्याम के वर्ण से मिलता है। देखने मे ज्ञात होता है कि तुम भी रसिक होंगे पर तुम्हारी बातें सुनकर कुछ ऐसी निराशा होती है जैसी हमे आजकल उजड़े हुए अन्धकारपूर्ण संकेत-स्थल को देख कर होती है। हा ! एक दिन था कि इस स्थल के पास बैठ कर कौआ भी प्रियतम के पीयूष से मधुर वचनों के घूट पीता था पर आज वही कौआ उसी रसक्षेत्र में कड़वी और घृणित काँव-काँव को आवाज कर रहा है जो हमे बाणों के समान दुःखदायक प्रतीत होती है। क्या ब्रज के बाग के बसन्त का अन्त कर देने से ही उनकी चतुरता देखकर लोग उन्हें धर्मसेतु कहा करते हैं। जो लोग यहाँ रंगरेलियाँ किया करते थे उनके लिए अब योग बट रहा है जिनके शिक्षक और तो क्या ये भ्रमर महाराज भी यहाँ आकर प्रवचन कर रहे हैं। सच्ची बात

सो यह है कि उनके नेत्रों के सुन्दर कटाक्षों से जब तक छुटकारा नहीं होता तब त
इस संसार में अचेत-सी ही हो रही हैं। हमारा तो मन, वचन और कर्म से केवल
सुन्दर से ही प्रेम है। सूर कहते हैं कि गोपियों ने उद्धव से कहा कि हम अधिक क्या
जो कुछ हमारे मन में है वह सब वे जानते हैं।

विशेष—इस पद में उत्प्रेक्षा, उपमा एवं रूपक अलंकार है।

मधुकर! मधुमदमाती डोलत।
जिय उपजत सोइ कहत न लाजत सूधे बोल न बोलत॥
बकत फिरत मदिरा के सोन्हे बार बार तन घूमत।
व्रीडारहित सबन अवलोकत लता-कली मुख चूमत॥
अपनेहूं मन की सुधि नाहीं परयो भ्रान ही कोठो।
सावधान करि लेहि अपनपो तब हम सों कह गोठो॥
मुख लागी है पराग पीक की, डारत नाहिन धोई।
तासों कह कहिए सुनु, सूरज, लाज डारि सब खोई॥२७४॥

शब्दार्थ—व्रीडा—लज्जा। कोठो—कोठा अर्थात् भ्रान्ति का होना। गोठो—गोष्ठी, सलाह।

व्याख्या—उद्धव के वचन और कर्म की भिन्नता पर प्रकाश डालती हुई व्यंग पूर्वक कहती हैं कि हे मधुकर! तू शराब के नशे में मस्त हुआ इधर-उधर घूम रहा है। जो तेरे मन में आता है तू वसे ही बके जा रहा है। तुझे लज्जा का अनुभव भी नहीं होता। तू सीधी-सादी बातें क्यों नहीं करता? शराब के नशे में बार-बार तेरा शरीर चक्कर खा रहा है। तू तो लज्जा से इतना रहित हो गया कि सभी के सामने लताओं के कली रूपी मुखों को चूम रहा है। तुझे अपने मन तक का होश नहीं। वह भी शायद किसी और स्थान पर हो है। पहले तुम अपना मन सम्भाल लो फिर हमसे बातें करना। देख तेरे मुख पर पराग की पीक लगी हुई है तू इसे धो क्यों नहीं डालता? सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि अब उनसे क्या कहें जिन्होंने अपनी सारी लज्जा ही खो दी है।

विशेष—'लाज डारि सब खोई' लोकोक्ति है तथा 'लता-कली मुख' में निरंग रूपक अलंकार है।

मधुकर! ये सुनु तन मन कारे।
कहूं न सेत सिद्धताई तन परसे हैं अंग कारे॥
कीन्हीं कपट कुंभ विषपूरन पयमुख प्रगट उघारे।
बाहिर वेष मनोहर दरसत, अंतरगत जु ठगारे॥
अब तुम चले ज्ञान-विष ब्रज में हरन जु प्रान हमारे।
ते क्यों भले होंहि सूरप्रभु रूप, वचन, कुल कारे॥२७५॥

शब्दार्थ—कुंभ विषपूरन पयमुख—विषकुम्भं पयोमुखं अर्थात् विष का भरा हुआ घड़ा जिसमें ऊपर दूध हो। उघारे—खोले। कृत—कर्म से।

व्याख्या—कृष्ण और उद्धव को जली-कटी सुनाती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे मधुकर! ये लोग शरीर और मन दोनों से काले हैं। ये काले अंग वाले लोग श्वेत सिद्धता के अंग को कभी स्पर्श नहीं कर पाते। इन लोगों को तो विषकुम्भं पयोमुखं ही समझो। बाहर से तो इनका वेश बड़ा मनोहर है पर अन्दर मन में इनके ठगी रहती है। अब प प ही, देखिये! व्रज में ज्ञान का विष देकर हमारे प्राण लेने के लिए चले हैं। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि उद्धव और कृष्ण भला भले कैसे बताये जा सकते हैं। उनका तो रूप, रंग, वचन और कार्य सभी काले हैं।

विशेष—इस पद में रूपक अलंकार है।

> मधुकर! तुम रसलंपट लोग।
> कमलकोस में रहत निरंतर हमहिं सिखावत जोग॥
> अपने काज फिरत ब्रज-अंतर निमिष नहीं अकुलात।
> पुहुप गए बहुरं बेलिन के नेकु न नेरे जात॥
> तुम चंचल हौ, चोर सकल अंग बातन क्यों पतियात?
> सूर बिधाता धन्य रच्यो जो मधुप स्याम इकगात॥२७६॥

शब्दार्थ—पुहुप—पुष्प। नेरे—निकट। रसलंपट—रसलोभी।

व्याख्या—उद्धव और कृष्ण के वचन और कर्म की भिन्नता पर व्यंग्य करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे भौंरे! तुम लोग तो रस के बहुत ही लोभी हो। आप तो सदैव कमल को कलो में निवास करते हैं और हमें योग सिखाते हैं। अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए व्रज में चक्कर पर चक्कर काटते हैं। क्षण भर के लिए भी व्याकुलता आपसे सहन नहीं होती। परन्तु पुष्प समाप्त हो जाने पर फिर उनके पास तक जाते भी नहीं। तुम बड़े चंचल और सर्वांगरूप में चोर हो अतः तुम्हारी बातों पर हम विश्वास ही कैसे कर लें? सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि विधाता धन्य है कि उसने इन दोनों को (ऊधो और कृष्ण) एक जैसा ही शरीर दिया। दोनों के ही एक जैसे रंग के एक जैसे शरीर हैं।

विशेष—इस पद में अतिशयोक्ति अलंकार है।

> मधुकर! कासों कहि समझाऊँ?
> अंग अंग गुन गहे स्याम के, निर्गुन काहि गहाऊँ?
> कुटिल कटाक्ष बिकट सायक सम, सायत मरम न जाने।
> मरम गए उर फोरि पिछौहैं पाछे पै अटाने॥

घूमत रहत.सँभारत नाहिन, फेरि फेरि समुहाते।
टूक टूक ह्वै रहे ढोर गहि पाछे पग न पराते ।।
उठत कबंध जुद्ध जोधा ज्यों बाढ़त संमुख हेत।
सूर स्याम अब अमृत-वृष्टि करि सींचि प्रान किन देत ?।।२७७।।

शब्दार्थ—समुहाते—सामने जाते। ढोर गहि पाछे—साथ में लगे रहे। पिछो हैं—पीछे की ओर। कबंध—धड़।

व्याख्या—वियोग-व्यथा को दूर करने के लिए श्यामरूपी औषधि की प्रार्थना करती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि हे भौंरे ! हम किससे समझाकर कहें कि हमारे अंग-प्रत्यंगों ने श्याम के गुणों को ग्रहण कर रखा है। फिर आप सोचिये कि हम निगुण किसके द्वारा ग्रहण करें ? कठोर वाणों के सदृश जब वे कुटिल कटाक्ष हमको लगे थे तो उस समय तो मालूम नहीं पड़े किन्तु बाद में जब फूट कर पीछे की ओर निकले तब पता चला कि वे इतने गहरे चुभे हैं। उन्हीं के गहरे प्रभाव के कारण हम बार-बार चक्कर खाते हैं और बार-बार उन्हीं के सम्मुख जाते हैं। यद्यपि प्रहारों से जर्जर होकर टुकड़े-टुकड़े हो गये हैं फिर भी पीछे को पैर नहीं रखते। रणभूमि में कबन्ध के सदृश बार-बार उठकर सामने जाकर ही भिड़न्त करते हैं। इस प्रकार उन कटाक्षों के प्रहार से ये अबलायें मृतप्राय हैं। अतः सूर कहते हैं कि गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि अब श्याम आकर दर्शनरूपी अमृत की वर्षा करके मृतप्राय के प्राणों को जीवित क्यों नहीं करते ?

विशेष—इस पद में रूपक एवं उपमा अलंकार है।

मधुप ! तुम देखियत हौ चित कारे।
कालिंदीतट पार बसत हौ, सुनियत स्याम-सखा रे !
मधुकर, चिहुर, भुजंग, कोकिला, अवधिन ही दिन टारे।
वै अपने सुख ही के राजा तजियत यह अनुहारे ।।
कपटी कुटिल निठुर हरि मोंहीं दुख दै दूरि तिवारे।
बारक बहुरि कबै आवोगे मदनन साथ निवारे।।
उनकी सुनै सो आप बिगोवै चित चोरत बटमारे।
सूरदास प्रभु क्यों मनमानै सेवक करत निनारे।।२७८।।

शब्दार्थ—चिहुर—चिकुर, केश। बटमारे—डाकू। अनुहारे—अनुसार चलने वाले। निवारे—नष्ट करेंगे। बिगोवै—नष्ट करेंगे। निनारे—पृथक्।

व्याख्या—श्याम के दर्शनों के लिए प्रार्थना करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे भौंरे ! शरीर से ही नहीं तुम तो चित्त के भी काले जान पड़ते हो। तुम यमुना पार रहते हो और सुनते हैं कि तुम भी श्याम के ही मित्र हो। भ्रमर, केश, सर्प और कोकिला के सदृश तुम भी कुछ समय तक ही साथ देने वाले हो। जिस प्रकार वे अपने सुख के राजा हैं जब तक उनकी इच्छा रही तब तक रहे, इसी प्रकार तुम भी अपनी इच्छा के अनुसार चलने वाले हो। हरि भी कपटी, कुटिल और निष्ठुर हैं। वे हमें

वियोग के दुःख में डाल कर दूर चले गये। न जाने अब वे फिर कब, एक बार ही सही, आकर नयनों की दर्शनाभिलाषा को तृप्त करेंगे ? उनकी बात मानना अपना सत्यानाश करना है। वे तो राह चलते हुए चित्त को चुराते हैं। सूर कहते हैं कि गोपियाँ कहती हैं कि उनका मन सेवकों को पृथक् करके न जाने किस प्रकार तृप्त होता होगा ?

विशेष—इस पद में उपमा अलंकार है।

मधुकर! को मधुबनहिं गयो ?
काके कहे संदेस लै आए, किन लिखि लेखु दयो ?
को वसुदेव-देवकीनंदन, को जदुकुलहि उजागर ?
तिनसों नहिं पहचान हमारी, फिरि लै दीजो कागर।।
गोपीनाथ, राधिकाबल्लभ, जसुमति-नंद-कन्हाई।
दिन प्रति दान लेत गोकुल में नूतन रीति चलाई।।
तुम तो परम सयाने ऊधो! कहत और की औरे।
सूरजदास पंथ के बहँके बोलत हो ज्यों बौरे।।२७६।।

शब्दार्थ—कागर—कागज, पत्र। उजागर—प्रभाकर। और की औरे—कुछ का कुछ। बौरे—पागल।

व्याख्या—योग को घृणास्पद बताती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे भौंरे! मथुरा कौन गया था ? तुम किसके कहने से यह संदेश लाये हो। वह कौन है जिसने तुम्हें यह पत्र लिखकर दिया है ? कौन है वह वसुदेव और देवकी का पुत्र ? यदुकुल प्रभाकर कौन है ? इन महाशय से हमारा कोई परिचय नहीं है। सो यह कागज उन्हें ही लौटा देना। शायद तुम इसे भूल से यहाँ ले आये हो। हमारा परिचय तो गोपीनाथ, राधावल्लभ तथा नंद-यशोदा के प्रिय पुत्र कृष्ण से है। वे यहाँ गोकुल मे प्रतिदिन प्रेम-दान ग्रहण किया करते थे। बिल्कुल एक नवीन पद्धति उन्होंने गोकुल में चलायी थी। बड़े चतुर होते हुए भी आप कुछ का कुछ कह रहे हैं। सूर कहते हैं कि गोपियों ने उद्धव से कहा कि हमारी समझ में बात अब आई। आप मार्ग भूल गये हैं और इसीलिए व्याकुल होकर पगलों की-सी बातें कर रहे हैं।

विशेष—(i) ऊधो वै गोविंद कोइ और मथुरा में यहाँ।
मेरो तो गोविंद मोहि में रहत है।। (पद्माकर)

(ii) ऊधो मथुरा के हरि और।
उनके नंद जसुमत पितु माता थे वसुदेव देवकी किशोर।।
(प्रतापनारायण)

देखियत कालिंदी अतिकारी।
कहियो, पथिक! जाय हरि सों ज्यों भई बिरह-जुर-जारी।।

मनो पलिका पै परी धरनि धँसि तरंग तलफ तनु भारी।
तटबारु उपचार-चूर मनो, स्वेद-प्रवाह पनारी॥
बिगलित कच कुस कास पुलिन मनो, पंक जु कज्जल सारी।
भ्रमर मनो मति भ्रमत चहूँ दिसि, फिरति है अंग दुखारी॥
निसिदिन चकई-ब्याज बकत मुख, किन मानहुँ अनुहारी।
सूरदास प्रभु जो जमुना-गति सो गति भई हमारी॥२८०॥

शब्दार्थ—जुर—ज्वर, ताप। पलिका—पलंग। उपचार-चूर—औषध का चूर्ण। पनारी—धारा। कास—केश।

व्याख्या—विरह की व्यापकता का वर्णन करती हुई गोपियां उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव ! यमुना अत्यन्त काली है। हे पथिक ! तुम जाकर कृष्ण से कह देना कि यमुना भी तुम्हारे विरह-ज्वर के सन्ताप से काली पड़ गई है। ऐसा लगता है मानो यह तड़फ के मारे पलंग से धरती पर गिर पड़ी है और ये उठती हुई तरंगें मानो इसके तन की तड़पन है। यह किनारे पर पड़ी हुई सिकता ही उपचार का चूर्ण है और यह धारा उसके प्रस्वेद के प्रवाह की धारायें हैं। ये जो कुश काश दिखाई देते हैं ये ही *मानो उसके बिखरे हुए केश-पाश हैं और यह कीचड़ मानो उसकी कीकट साड़ी है।* यह चारों ओर उड़ता हुआ भौंरा मानो उसका मतिभ्रम है। अपने दुःखपूर्ण अंगों के लिए चारों ओर यह व्याकुल होकर भटक रही है। चकई की रट के बहाने यह रात-दिन अपने प्रलाप को व्यक्त कर रही है। तुम इस समता को स्वीकार क्यों नहीं करते? सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि जो दशा इस यमुना की है वही हमारी भी है।

विशेष—इस पद मे उत्प्रेक्षा, रूपक और अपह्नुति अलंकार है।

सुनियत मुरली देखि लजात।
दूरहि तें सिंहासन बैठे, सीस नाय मुसकात॥
सुरभी लिखी चित्र भीतिन पर तिनहिं देखि सकुचात।
मोरपंख को बिजन बिलोकत बहरावत कहि बात॥
हमरी चरचा जो कोउ चालत, चालत ही चपि जात।
सूरदास ब्रज भले बिसरयो, दूध दही क्यों खात?॥२८१॥

शब्दार्थ—बिजन—पंखा। चपि—दबना। भीति—दीवार।

व्याख्या—कृष्ण की निष्ठुरता पर प्रकाश डालती हुई गोपियां उद्धव से कहती हैं कि वे तो सुना है कि अब मुरली को भी देखकर लज्जा अनुभव करते हैं। यदि कोई *प्रसंगवश मुरली का वर्णन करता है या लाकर दिखाता है तो वे सिंहासन पर बैठे हुए* दूर से मुस्करा देते हैं। महलों की दीवारों पर चित्रित गायों की ओर देखने में भी वे संकोच करते हैं। यदि मयूरपंख का पंखा भी सामने आ जाय तो कुछ दूसरी बातें करके बहकाने लगते हैं। यदि वहाँ कोई हमारे विषय में कुछ कहता है तो तुरन्त ही जाते हैं। सूर कहते हैं कि गोपियों ने उद्धव से कहा कि अच्छा हुआ, जो

उन्होंने ब्रज को यों ही भुला दिया। जब उन्हें और वस्तुओं से इतनी लज्जा उत्पन्न होती है तो फिर वे दूध-दही क्यों खाते हैं?

विशेष—यह नाज यह गरूर लड़कपन में तो न था।
क्या तुम जवान होके बड़े आदमी हो गये॥

किधौं घन गरजत नहिं उन देसनि?
किधौं वहि इंद्र हठिहि हरि बरज्यौ, दादुर खाए सेसनि॥
किधौं वहि देस बकन मग छाँड़्यो, धर बूड़ति न प्रवेसनि।
किधौं वहि देस मोर, चातक, पिक बधिकन बधे बिसेषनि॥
किधौं वहि देस बाल नहिं झूलति गावत गीत सहेसनि।
पथिक न चलत सूर के प्रभु पै जासों कहौ सदेसनि॥ २८२॥

शब्दार्थ—हठिहि—हठपूर्वक। प्रवेसनि—जल की धारा के प्रवेश से। बिसेषनि—विशेष रूप से।

व्याख्या—कृष्ण की निष्ठुरता का अनुमान करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि शायद उन देशों में जहाँ कृष्ण रहते हैं, बादल गर्जन नहीं करते। यदि गर्जन करते तो कृष्ण हमसे इस प्रकार उदासीन न रहते। शायद भगवान् इन्द्र को सख्ती से मना कर दिया है ताकि वह बादलों को वहाँ न उमड़ने दे जिससे उनकी गरज उनके प्रेम को उद्दीप्त न कर सके। शायद वहाँ मेढ़कों को सांप खा गये हैं जिससे वर्षा आने की सूचना ही नहीं मिलती। शायद वहां के देश का मार्ग बगुलों की पंक्ति ने सर्वथा त्याग दिया है और शायद वहाँ मूसलाधार वर्षा बरसकर निकटस्थ पृथ्वी को सराबोर नहीं करती। शायद उस देश के मयूर, चातक और कोयलों को वधिकों ने मार दिया है जिससे कि उनकी उन्मत्त करने वाली कूक सुनाई न पड़े और इसीलिए वे निष्ठुर बने पड़े हैं। शायद उस देश में स्त्रियाँ हर्ष पर निर्भर होकर मल्हार के गीत गाती हुई कभी भूलती भी नहीं होंगी और उनकी उत्तेजक स्वर लहरी के अभाव में ही वे अपने आपको स्वस्थ अनुभव कर रहे हैं। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि क्या करें कि कोई भी यात्री श्री कृष्ण की ओर नहीं जाता जिसके द्वारा हम उनके पास सन्देशा भिजवा देतीं।

विशेष—इस पद में सन्देह अलंकार है।

कोउ सखि नई चाह सुनि आई।
यह ब्रजभूमि सकल सुरपति पै मदन मिलिक करि पाई॥
घन धावन, बग पाँति पटो सिर, बैरख तड़ित सुहाई।
बोलत पिक चातक ऊँचे सुर, मनो मिलि देत दुहाई॥
दादुर मोर चकोर बदत सुक सुमन समीर सुहाई।
चाहत कियो बास बृंदावन, बिधि सों कहा बसाई?

सींव न चापि सक्यो तब कोऊ, हुते बल कुंवर कन्हाई।
अब सुनि सूर स्याम-केहरि बिनु ये करिहैं ठकुराई ॥२८३॥

शब्दार्थ—चाह—खबर। पै—से। मिलिक—जागीर। पटो—पगड़ी। बैरख—पताका। सींव—सीमा।

व्याख्या—विरहोद्दीपक वर्षाकाल के आगमन पर गोपियाँ परस्पर कहती हैं कि हे सखी! मैं एक नवीन समाचार सुनकर आ रही हूँ। वह समाचार यह है कि इस सारी ब्रजभूमि को कामदेव ने देवराज इन्द्र से जागीर के रूप में प्राप्त कर लिया है। ये मेघ उसके दूत हैं और ये बक पंक्ति उनके सिर की पगड़ी है तथा ये सुन्दर बिजलियाँ उसकी पताकाएँ हैं। यह देखो, कोयल और चातक उच्च स्वर से बोल रहे हैं। ऐसा लगता है कि मानो वे सब मिलकर इस जागीर के मालिक कामदेव की दुहाई दे रहे हैं। मेंढक, मोर, चकोर और तोते भी बोल रहे हैं। फूलों की सुगन्धित सुन्दर हवा भी चल रही है। ज्ञात हुआ है कि कामदेव अपने सब साधनों के साथ सिपाही प्यादे लेकर वृन्दावन में ही रहना चाहते हैं। यदि ऐसा ही है तो फिर विधाता के सम्मुख हमारी वश भी क्या सकती है? जब कुंवर कन्हैया यहाँ रहते थे तब तो यहाँ की सीमा को भी कोई नहीं दबा सका परन्तु अब सूर के स्वामी श्याम रूपी केहरी की अनुपस्थिति में ये यहाँ हकूमत करेंगे।

विशेष—इस पद में उत्प्रेक्षा एवं रूपक अलंकार है।

अब ये बदराऊ बरसन आये।
अपनी अवधि जानि, नंदनंदन! गरजि गगन घन छाए॥
सुनियत है सुरलोक बसत सखि, सेवक सदा पराए।
चातक कुल की पीर जानि कै तेउ तहाँ तें धाए॥
द्रुम किए हरित, हरषि बेली मिलि, दादुर मृतक जिवाए।
छाए निविड़ नीर तृन जहँ तहँ पंछिन हू प्रति भाए॥
समझति नाहि सखि! चूक आपनी बहुतै दिन हरि लाए।
सूरदास स्वामी करुनामय मधुबन बसि बिसराए॥२८४॥

शब्दार्थ—पराए—दूसरे के अर्थात् इन्द्र के। निविड़—घना। बदराऊ—बादल।

व्याख्या—उमड़ते हुए बादलों के आगमन पर उत्साहित बैठी हुई गोपियाँ परस्पर कहती हैं कि हे सखी! ये बादल भी तो बरसने आये हैं। हे नंदनंदन! देखो, ये मेघ भी अपनी आने की अवधि जानकर गर्जन करते हुए आकाश में छाने लगे हैं। हे सखी! सुनते हैं ये स्वर्गलोक में रहते हैं और दूसरे के अर्थात् इन्द्र के नौकर हैं। परन्तु इतनी दूर और फिर पराई सेवा में रहते हुए भी ये चातक कुल की व्यथा को समझ कर यहाँ आ पहुँचे हैं। इन्होंने सूखे वृक्षों को हरा कर दिया है तथा बेलें भी प्रसन्न होकर उनसे मिलने लगी हैं। इन्होंने मरे हुए मेंढकों को फिर से जीवित कर दिया है। जहाँ-तहाँ अधिक जल और घास देखकर पक्षीगण भी प्रसन्न हो रहे हैं। वे

सखी ! हमें तो कुछ अपनी गलती जान नही पड़ती फिर भी श्री कृष्ण ने बहुत दिन लगा दिये। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि करुणामय स्वामी ने मथुरा रहकर इतना विस्मृत कर दिया है कि वर्षा के आगमन पर भी न आये।

विशेष—इस पद में हेतुत्प्रेक्षा अलंकार है।

परम वियोगिनी गोविंद बिनु कैसे बितवै दिन सावन के ?
हरित भूमि, भरे सलिल सरोवर, मिटे मग मोहन आवन के।।
पहिरे सुहाए सुबास सुहागिनी-झुंडन झूलन गावन कै।
गरजत घुमरि घमंड दामिनी मदन धनुष धरि धावन के।।
दादुर मोर सोर सारग पिक सोहैं निसा सूरमा बन के।
सूरदास निसि कैसे निघटत त्रिगुन किए सिर रावन के।।२८५।।

शब्दार्थ—सारग—चातक। सूरमा—वीर। सुवास—वस्त्र।

व्याख्या—काम को उद्दीप्त करने वाले श्रावण मास को व्यतीत करने का आयोजन सोचती हुई गोपियाँ कहती हैं कि विरह के दु.ख से अत्यधिक पीड़ित हम गोविन्द के बिना श्रावण के दिन कैसे बितायेंगी ? चारों ओर पृथ्वी हरी हो गई। तालाबों में जल भर गया। अब तो मोहन के आने की राह भी विलीन हो गई। जिधर भी दृष्टि डालो उधर ही सुन्दर वस्त्रों को धारण करके सौभाग्यवती स्त्रियों के झुण्ड के झुण्ड गाने और झूलने के लिए प्रस्तुत दिखाई दे रहे हैं। चारों ओर से घुमड़-घुमड़ कर घनघोर बादल गरज रहे हैं। कामदेव धनुष लेकर इधर-उधर दौड़ रहा है तथा मेंढक और मयूर शोर कर रहे हैं। चातक और कोयल भी रात्रि के भट बन कर कार्य में लगे हैं। सूर कहते है कि गोपियाँ व्यथित होकर कहती हैं कि हाय ! अब रातें किस प्रकार कटेंगी ? एक-एक रात मे तो तीस-तीस घड़ियाँ होती हैं। यहाँ इतनी विकट परिस्थिति में एक-एक पल काटना भी कठिन हो रहा है।

विशेष—(i) उत्प्रेक्षा गम्य है।

(ii) 'त्रिगुन किये सिर रावन के' से तात्पर्य यह है कि रावण के सिर के तिगुने अर्थात् तीस।

हमारे माई ! मोरउ बैर परे।
घन गरजे बरजे नहिं मानत त्यों त्यों रटत खरे।।
करि एक ठौर बीनि इनके पँख मोहन सीस धरे।
याही तें हम ही को मारन, हरि ही ढीठ करे।।
कह जानिए कौन गुन सखि री ! हम सों रहत अरे।।
सूरदास परदेस बसत हरि, ये बन

शब्दार्थ—खरे—तीव्र। मोरउ—मयूर।

व्याख्या—मयूर की आवाज को अत्यन्त दाहक बताती हुई गोपियाँ परस्पर कहती हैं कि हे भाई ! हमारे तो यह मयूर भी वैरी पड़ा हुआ है। हमारे मना करने पर भी ये नहीं मानते। बादलों का गर्जन सुनकर ये और भी अधिक बोलते हैं। मोहन ने इन्हें एकत्रित करके इनके पंखों को अपने सिर पर धारण कर लिया था इसलिए धाय कर ये हमको सताते हैं। इनकी क्या गलती है, ढीठ तो इन्हें कृष्ण ने ही बनाया है। हे सखी ! न जाने इसमें इन्हें क्या मिलता है कि ये सदा हमसे अकड़े ही रहते हैं। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि श्री कृष्ण तो अब परदेश चले गये पर ये वन से अब भी न टले।

विशेष—इस पद में प्रत्यनीक अलंकार है।

सखी री ! हरिहि दोष जनि देहु।
जातें इतेमान दुख पैयत हमरेहि कपट सनेहु॥
विद्यमान अपने इन नैनन्ह सूनो देखति गेहु।
तदपि सूल-ब्रजनाथ-बिरह तें भिदि न होत बड़ बेहु॥
कहि कहि कथा पुरातन ऊधो ! अब तुम अत न लेहु।
सूरदास तन तो यों ह्वं है ज्यों फिरि फागुन-मेहु॥२८७॥

शब्दार्थ—इतेमान—इतना अधिक। बेहु—छेद। फागुन-मेहु—जलरहित, जीवनरहित।

व्याख्या—कृष्ण के व्यवहार पर कटाक्ष करने वाली किसी गोपी पर आक्षेप करती हुई तथा उद्धव से योगोपदेश को बन्द करने की प्रार्थना करती हुई कोई गोपी कहती है कि हे सखी ! हरि को दोष मत दो। वस्तुतः हमारा स्नेह ही बनावटी है कि जिसके कारण हम इतना दुःख पा रही हैं। देखो, आज हम नेत्रों से अपने घर को सूना देख रही हैं, श्री कृष्ण के विरह में हमारा यह हृदय फट क्यों नहीं जाता ? हे उद्धव ! पुरानी बातों को कह कर हमारे प्राणों को मत हरो। सूर कहते हैं कि गोपियों ने उद्धव से कहा कि यदि तुम नहीं मानोगे तो हम कहे देती हैं कि यह हमारा शरीर निर्जीव हो जायगा।

विशेष—इस पद में रूपक अलंकार है।

उघरि आयो परदेसी को नेहु।
अब तुम 'कान्ह कान्ह' कहि टेरति फूलति ही, अब लेहु॥
काहे को तुम सर्वस अपनो हाथ पराये देहु।
उन जो महा ठग मथुरा छाँडी, सिंधु तीर कियो गेहु॥
अब तो लसत महा तन उपजी, भाग्यो मन संदेहु।
सूरदास बिह्वल भई गोपी, नयनन्ह बरस्यो मेहु॥२८८॥

शब्दार्थ—सिंधुतीर—द्वारिका में। फूलति ही—मन में फूलती थी। अब लेहु—अब परिणाम देखो।

व्याख्या—गोपियाँ व्यथित होकर परस्पर कह रही हैं कि लो अब परदेशी के प्रेम का भेद खुल गया। उस समय तुम बड़ी 'कन्हैया-कन्हैया' पुकारती हुई हर्ष से फूला करती थीं, लो अब उसका परिणाम भुगत लो। तुमने अपने ही हाथों से दूसरे को अपना सर्वस्व क्यों अर्पित कर दिया था? वे तो महाठग निकले, मथुरा भी छोड़कर चलते बने और अब जाकर तो उन्होंने समुद्रतट पर अपना घर बना लिया है। यह समाचार सुन कर तो गोपियों के मन में दु.ख और भी अधिक बढ़ गया और साथ ही मन में सन्देह की भी वृद्धि हो गई। सूर कहते हैं कि गोपियाँ यह समाचार सुनकर अत्यन्त व्याकुल हो गईं और उनकी आँखों से अश्रुओं की झड़ी लग गई।

विशेष—इस पद मे अतिशयोक्ति अलंकार है।

हरि न मिले, री माई, जन्म ऐसे ही लाग्यो जान।
जोवत मग द्यौस द्यौस बीतत जुग-समान॥
चातक-पिक-बयन, सखी! सुनि न परै कान।
चदन अरु चंदकिरन कोटि मनो भानु॥
जुवती सजे भूषन रन-आतुर मनो प्रान।
भीषम लौं डासि मदन अर्जुन के बान॥
सोवति सर-सेज सूर, चल न चपल प्रान।
दच्छिन-रबि-अवधि अटक इतनीऐ जान॥२८९॥

शब्दार्थ—बयन—वचन। भीषम—भीष्म पितामह की भाँति। डासि—बिछाकर।

व्याख्या—विरह के दु.ख से सन्तप्त होकर मरणासन्न हो गोपियाँ परस्पर कह रही हैं कि हाय री माँ! हरि नहीं मिले। जन्म यों ही व्यतीत हो रहा है। उनकी राह देखते-देखते एक दिन युग के समान बीत रहा है। चातक और कोकिला की कूक, सखी! अब कानों से सुनी नहीं जा रही है। चन्द्रमा तथा उसकी किरणें करोड़ों सूर्य बनकर सन्ताप दे रही हैं। सूर कहते हैं कि युवतियाँ कृष्ण के आगमन मे बड़ी सजधज के साथ तैयार होती है पर फिर भी वे नहीं आते। फिर वे सजधज के सामान भी प्राणान्त व्यथा देने वाले बन गये हैं। कृष्ण के आगमन की प्रतीक्षा में वे गहनों को इस प्रकार सजाती हैं जैसे युद्धस्थल में जाने को उत्कंठित योद्धा कवच धारण कर लेता है। जिस प्रकार अर्जुन के बाणों की शरशय्या बनाकर उसी प्रकार कामदेव के बाणों पर गोपियाँ व्यथित एवं तड़पती हुई लेटी हैं। शरशय्या पर लेटे भीष्म ने सूर्य के दक्षिणायन होने पर प्राण परित्याग किये थे। जब तक सूर्य दक्षिणायन नहीं हुए तब तक वे उसकी प्रतीक्षा में पड़े धर्मोपदेश करते रहे। गोपियाँ भी मरण शरशय्या पर लेटी हुई दक्षिणायन सूर्य रूपी अवधि की प्रतीक्षा कर रही थीं। उनके चचल प्राण शरीर त्याग नहीं कर रहे हैं।

विशेष—इस पद में उपमा, उत्प्रेक्षा एवं सांगरूपक अलंकार है।

तुम्हारे बिरह, ब्रजनाथ, अहो प्रिय! नयनन नदी बढ़ी।
लीने जात निमेष कूल दोउ, एते मान चढ़ी॥
गोलक-नव नौका न सकत चलि, त्यों सरकनि बढ़ि बोरति।
ऊरध स्वास समीर तरंगनि तेज तिलक-तृन तोरति॥
कज्जल कीच कुचील किए तट, अंचल अधर कपोल।
रहे पथिक जो जहाँ सो तहाँ थकि हस्त चरन मुख-बोल॥
नाहिन और उपाय रमापति बिन दरसन छन जीजै।
अंसु-सलिल बूड़त सब गोकुल सूर सुकर गहि लीजै॥२६०॥

शब्दार्थ—निमेष कूल—पलकरूपी तट। गोलक—पुतली। तट—ओंठ की कपोल तट से संकेत है।

व्याख्या—विरह में कृष्ण को पुकारती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे प्यारे श्रीकृष्ण! तुम्हारे वियोग-दुःख के कारण हमारे नेत्रों की नदी में बाढ़ आ गई है। यह बाढ़ इतनी बढ़ गई है कि दोनों पलकरूपी तटों को समेटे लिए जा रही है। अक्षि गोलकरूपी नाव भी इस बढ़ी हुई नदी में चल नहीं पा रही है क्योंकि यह नदी अपने प्रबल प्रवाहों से उछाल कर इसको डुबाये देती है। हमारे ऊर्ध्वश्वास की समीरों के बवंडर ने इस नदी की तरंगों को इतना उच्छृंखलित बना दिया है कि वह तिलकरूपी तृण को भी तोड़े दे रही है। काजल की कीचड़ बहाकर इसने कपोल अधरों के तटों के भीतरी भाग गन्दे बना दिये हैं। इसके संकट से स्थगित होकर हाथ, पैर और मुख के बोलरूपी पथिक जहाँ के तहाँ ठहर गये हैं। ऐसी असाध्य अवस्था में हे कृष्ण! तुम्हारे दर्शन के बिना क्षणभर के लिए जीने का कोई उपाय नहीं है। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि आँसुओं की बढ़िया में यह सारा गोकुल डूबा जा रहा है। आप कृपया अपने हाथ से इसे रोक लो।

विशेष—सांगरूपक अलंकार की छटा देखते ही बनती है।

हमको सपनेहु में सोच।
जा दिन तें बिछुरे नंदनंदन ता दिन तें यह पोच॥
मनोगोपाल आए मेरे घर, हँसि करि भुजा गही।
कहा करौं बैरिनि भइ निंदिया, निमिष न और रही॥
ज्यों चकई प्रतिबिंब देखिकै आनंदी प्रिय जानि।
सूर, पवन मिस निठुर बिधाता चपल करयो जल आनि॥२६१॥

शब्दार्थ—पोच—बुरा। आनंदी—आनन्दित हुई। निमिष—पल भर।

व्याख्या—अपने वियोग-दुःख का वर्णन करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हमको तो स्वप्न में भी यही चिन्ता रहती है। जिस दिन से नन्दनन्दन बिछुड़े हैं उसी दिन से हमारा यह मन बहुत भयभीत हो गया है। मैंने स्वप्न में देखा कि मानो गोपाल मेरे घर पधारे हैं और हँसकर उन्होंने मेरी भुजा पकड़ ली है। इससे आगे तो कोई आनन्द

मैं स्वप्न मे भी नहीं ले सकी। क्या करूँ निद्रा भी मेरी शत्रु बन गई, थोड़ी-सी देर भी और न ठहरी। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि यह दशा तो उस चकई की भाँति हो गई जो प्रतिबिम्ब को जल में देखकर उसे अपना प्रियतम समझकर आनन्दित होने लगी तथा इतने मे ही निष्ठुर दैव ने हवा के बहाने आकर जल को हिला दिया और बेचारी चकई का स्वप्न भग हो गया।

विशेष—इस पद में उपमा एव अपह्नुति अलकार है।

> अँखियाँ अजान भई।
> एक अंग अवलोकत हरि को और हुती सो गई॥
> यों भूली ज्यों चोर भरे घर चोरी निधि न लई।
> बदलत भोर भयो पछितानी, कर तें छाँडि दई॥
> ज्यों मुख परिपूरन हो त्यो हो पहिलेइ क्यों न रई।
> सूर सकति अति लोभ बढ्यो है, उपजति पीर नई॥२६२॥

शब्दार्थ—बदलत—इसे ले अथवा उसे ले। एक अंग—निरन्तर। रई—रमी। सकति—शक्तिभर।

व्याख्या—गोपियाँ अपने नेत्रों को लक्ष्य करके कहती हैं कि ये आँखें ही अजान हो गई थी। जब कृष्ण यहाँ थे तो ये अज्ञ बन रहीं, अब दर्शन के लिए तड़फ रही हैं। जब उनके दर्शन हुए तो इतना भूल गई जैसे भरे घर मे घुस कर चोर धन को देखकर हक्का-बक्का हो जाता है और उसकी समझ मे नहीं आता कि क्या चुराया जाय और क्या नहीं। और इसी पशोपज मे रात बीत जाती है। इसी प्रकार लज्जा के कारण कृष्ण पर लगी हुई आँखें उनके और किसी अग को न देख सकीं। एक-एक करके सबका त्याग करती रहीं। अब पीछे पश्चात्ताप कर रही हैं। पहले ही इस बुद्धि को क्यो ग्रहण किया था। यदि पहले ऐसा न करती अर्थात् मन भर कर देख लेती तो फिर क्या था? अब तो दिन पर दिन उनके दर्शनों का लोभ बढ जाता है और नित्य नयी पीर उत्पन्न हो जाती है।

विशेष—इस पद मे उपमा अलकार है।

> दधिसुत जात हौ वहि देस।
> द्वारका हैं स्यामसुंदर सकल भुवन-नरेस॥
> परम सीतल अमिय तनु तुम कहियो यह उपदेस।
> काज अपनो सारि, हमकों छाँडि रहे बिदेस॥
> नंदनदन जगत बदन, धरहु नटवर-भेस।
> नाथ! कैसे अनाथ छाँड्यो कहियो सूर संदेस॥२६३॥

शब्दार्थ—सारि—निकाल कर, पूरा करके। दधिसुत—चन्द्रमा।

व्याख्या—विरह-व्यथा से संतप्त गोपियाँ चन्द्रमा द्वारा श्री कृष्ण के पास स
भेजती हुई कहती हैं कि हे चन्द्र ! तुम तो उस देश में जाया करते हो। वहीं सारे भुव
के राजा कृष्ण द्वारिका रह रहे हैं। तुम अत्यधिक शीतल हो और तुम्हारा शरीर अम्
मय है। तुम कृपया हमारी यह बात कह देना कि तुम अपना काम निकालकर हमें छ
कर विदेश जा रहे हो। हे जगत् के वन्दनीय नन्दनन्दन ! एक बार फिर हमारे लि
नटवर का वेष धारण करके व्रज में आ जाओ। सूर कहते हैं कि गोपियाँ चन्द्रमा
कहती हैं कि उनसे तुम हमारा यह सन्देश कह देना कि हे नाथ ! तुम हमें अनाथ कर
क्यों छोड़ गये ?

विशेष—इस पद में 'नाथ' शब्द साभिप्राय विशेष्य होने के कारण परिकरांकु
अलंकार है।

जाहि री सखी ! सीख सुनि मेरी।
जहाँ बसत जदुनाथ जगतमनि बारक तहाँ आउ दै फेरी॥
तू कोकिला कुलीन कुसलमति, जानति बिथा बिरहिनी केरी।
उपबन बैठि बोलि मृदुबानी, बचन बिसाहि मोहि कर चेरी॥
प्रानन के पलटे पाइय जस, सेंति बिसाहु सुजस की ढेरी।
नाहिन कोउ और उपकारी सब बिधि बसुधा हेरी॥
करियो प्रगट पुकार द्वार है अबलन्ह आनि अनंग अरि घेरी।
व्रज लै आउ सूर के प्रभु को गावहि कोकिल ! कीरति तेरी॥२६४॥

शब्दार्थ—बिसाहि—मोल लेना। प्रानन के पलटे—यश प्राण देने पर ही
मिलता है।

व्याख्या—विरह से व्यथित गोपियाँ कोयल को सम्बोधन करके कहती हैं कि
हे सखी ! तुम मेरी एक शिक्षा सुनो। जहाँ विश्वमणि श्री यदुनाथ रहते हैं वहाँ भी
तुम एक बार चक्कर लगा आओ। हे चतुर बुद्धि कोयल ! तुम बड़ी कुलीन हो और
विरहिणियों के दुःख को खूब समझती हो। अतः तुम वहाँ जाकर उपवन में मीठी बोली
सुनाओ और अपने इन मीठे वचनों से खरीद कर हमें अपनी मोल ली हुई दासी बना
लो। जो शुभ यश प्राणों को त्यागने पर प्राप्त होता है उस सुयश को तू केवल बोल के
बदले में ले। हमने सारे संसार पर खूब दृष्टि डालकर देख लिया हमारा और कोई भी
उपकारी नहीं है। अब हम निराश होकर तुम्हारी शरण में हैं, तुम जाकर उनके द्वार पर
हमारी टेर सुना देना और कह देना कि बेचारी अबलाओं को काम ने घेर रखा है।
किसी प्रकार तुम सूर के स्वामी श्याम को यहाँ ले आओ तो हम सदैव तुम्हारी सुन्दर
कीर्ति का यशगान करेंगी।

विशेष—विरह-व्यथित गोपियों का कोयल से इस प्रकार निवेदन करना कितना
मर्मस्पर्शी है !

कोउ, माई ! बरजै या चंदहि ।
करत है कोप बहुत हम्ह उपर, कुमुदिनि करत अनंदहि ॥
कहाँ कुहू, कहँ रवि अरु तमचुर कहाँ बलाहक कारे।
चलत न चपल, रहत रथ थकि करि, बिरहिनि के तन जारे ॥
निंदति सैल, उदधि, पन्नग को, सापति कमठ कठोरहि।
देति असीस जरा देवी को, राहु, केतु किन जोरहि ?
ज्यों जलहीन मीन-तन तलफत त्योंहि तपत ब्रजबालहि।
सूरदास प्रभु बेगि मिलावहु मोहन मदन-गोपालहि ॥२६५॥

शब्दार्थ—कुहू—अमावस्या। तमचुर—मुर्गा। बलाहक—बादल। जरा—एक राक्षसी जिसने जरासंध के शरीर के दो टुकड़े जोड़े थे।

व्याख्या—विरहानल से संतप्त राधा चन्द्रमा को कोसती हुई कहती हैं कि हे सखी ! कोई इस चन्द्रमा को रोक ले। यह अपनी प्रेयसि कुमुदिनी को तो आनन्दित करता है परन्तु हम पर कोप दिखाता है। न जाने अमावस्या कहाँ चली गई जो इसे आकर छिपा लेती। कहाँ गया वह दिवाकर जिसके आने से यह छिप जाता है। कहाँ गया वह मुर्गा, जिसके आने पर यह अस्त होने लगता है। कहाँ गये वे मेघ जो इसको ढक लेते हैं। यह चन्द्रमा बड़ा ही ढीठ हो गया है। चलने का नाम तक नहीं लेता। वह अपना रथ रोक कर खड़ा हो गया है और विरहिणियों को जला रहा है। हम मंदराचल पर्वत, समुद्र, शेषनाग तथा कठोर कच्छप को कोस रही हैं क्योंकि इन्हीं की सहायता से समुद्र मथा गया था और उसमें से ये महाशय चन्द्रमा निकले थे। कितना सुन्दर होता कि वह जरा राक्षसी राहु और केतु को फिर से जोड़कर एक कर देती जिससे वह चन्द्रमा को ही समाप्त कर देता। जलहीन मछली के समान हम सब ब्रजयुवतियाँ कृष्ण के वियोग में तड़प रही हैं। सूर कहते हैं कि राधा ने कहा कि हमारे स्वामी मदन-गोपाल को लाकर हमसे शीघ्र ही मिला दो।

विशेष—(i) इस पद में अतिशयोक्ति एवं उपमा अलंकार है।

(ii) पद्माकर कवि ने भी चन्द्र के विषय में कुछ ऐसा ही कहा है—

सिंधु को पूतन सुत, सिंधु तनया को बंधु,
मन्दिर अमंद शुभ सुन्दर सुधाई के।
कहै पदमाकर गिरीस के बसे हो सीस,
तार के ईस, कुल कारन कन्हाई के।
हाल ही तू विरह बिचारी ब्रजबाल ही पै,
ज्वाल से जगावत जुवाल सो जुन्हाई के।
एरे मतिमंद चंद आवत न तोहि लाज,
ह्वै के द्विजराज काम करत कसाई के॥

जो पै कोउ मधुबन लै जाय।
पतिया लिखि स्यामसुंदर को, कर कंकन देउँ ताय ॥
अब वह प्रीति कहाँ गई, माधव ! मिलते बेनु बजाय।
नयन-नीर सारंग-रिपु भीजैं दुख सों रैनि बिहाय ॥
सून्य भवन मोहिं खरो डरावै, यह ऋतु मन न सुहाय।
सूरदास यह समौ गए तें पुनि कह लैहैं आय ?॥२६६॥

शब्दार्थ—ताय—उसको। सारंग-रिपु—कमल का शत्रु चन्द्रमुख।

व्याख्या—किसी भी सन्देश-वाहक के न मिलने पर पारितोषिक की घोषणा करती हुई कोई गोपी कहती है कि मैंने श्री कृष्ण के लिए पत्र लिख रखा है। यदि कोई इस पत्र को मथुरा पहुँचा दे तो मैं उसको हाथ का कंगन दे दूँगी। हा माधव ! अब वह पहले वाला प्रेम कहाँ चला गया जब तुम मुरली बजाकर हमसे मिला करते थे। आज नेत्रों से प्रवाहित होते हुए आँसू इस चन्द्रमुख को भिगोते रहते हैं। रात्रि भी बड़े संकट से व्यतीत होती है। सूना घर मुझे बहुत भयावह प्रतीत होता है। यह ऋतु मुझसे देखी नहीं जाती। सूर कहते हैं कि आखिर श्याम कभी तो आवेंगे ही परन्तु समय बिताकर आने से फिर क्या हाथ लगेगा ?

विशेष—इस पद में रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

हरि परदेस बहुत दिन लाए !
कारी घटा देखि, बादर की नैन नीर भरि आए ॥
पा लागौं तुम्ह, बीर बटाऊ ! कौन देस तें धाए।
इतनी पतिया मेरी दीजो जहाँ स्यामघन छाए ॥
दादुर मोर पपीहा बोलत सोवत मदन जगाए।
सूरदास स्वामी जो बिछुरे प्रीतम भए पराए ॥२६७॥

शब्दार्थ—लाए—लगा दिये। पा लागौं—चरण स्पर्श करना। बटाऊ—पथिक।

व्याख्या—आकाश में उठते हुए मेघों को देखकर विरहिणी गोपी पर जो प्रभाव पड़ा उसका वर्णन करते हुए सूरदास कहते हैं कि बादलों की काली घटा को देखकर गोपी के नेत्रों में आँसू भर आये। कहने लगी कि हाय ! श्री कृष्ण ने परदेस में बहुत दिन लगा दिये। वह बादलों को ही पथिक बनाकर कहती है कि भैया पथिक ! तुम किस देश से दौड़े चले आ रहे हो। मैं तुम्हारे चरण स्पर्श करती हूँ। तुम मेरी चिट्ठी वहाँ जाकर पहुँचा दो जहाँ घनश्याम श्री कृष्ण रहते हैं। उनसे कह देना कि यहाँ वर्षागमन पर मेंढ़क, मयूर और चातक शोर मचाकर हमारे प्रसुप्त काम को जगा रहे हैं। हाय ! सूर के स्वामी श्याम हमसे ऐसे बिछुड़े कि अब पराये होकर ही रह गये।

विशेष—पर कारज देह को धारे फिरे परजन्य यथा विधि है दरसौ।
निधि नीर सुधा के समान करो, सबही विधि सुन्दरता सरसौ ॥

"घन आनन्द' जीवनदायक ह्वै कछु मेरियो पीर हिये परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवान को लै बरसौ।"

आजु घनस्याम की अनुहारी।
उनै आए साँवरे, ते सजनी! देखि रूप की आरि॥
इंद्रधनुष मनो नवल बसन छबि, दामिनी दसन बिचारि।
जनु बगपाँति माल मोतिन की, चितवत हितहि निहारि॥
गरजत गगन, गिरा गोविंद की, सुनत नयन भरे बारि।
सूरदास गुन सुमिरि स्याम के बिकल भईं ब्रजनारि॥२६८॥

शब्दार्थ—आरि—ग्रड, मुद्रा। बसन—वस्त्र। दसन—दाँत।

व्याख्या—उमड़ते हुए काले बादलों को देखकर कृष्ण की याद में विह्वल होकर गोपियाँ परस्पर कहती हैं कि आज तो श्याम के समान काले-काले बादल उमड़ रहे हैं। हे सखी! उनके रूप की मुद्रा तो देखो। वे बिल्कुल श्याम के ही सदृश हैं, उन पर पड़ा हुआ इन्द्रधनुष मानो उनके नवीन वस्त्र की शोभा को व्यक्त कर रहा है। विद्युत को उनकी दंत पंक्ति समझो। ये श्वेत बगुलों की पंक्ति मानो उनके वक्षस्थल पर पड़ी हुई मोतियों की माला है। ये देखो, वे अपने प्रेमियों को बड़े प्रेम से देख रहे हैं। आकाश में बादलों की गर्जन को गोविन्द की वाणी के रूप में सुनकर उनकी आँखों में आँसू उमड़ आये। सूर कहते हैं कि गोपियाँ श्याम के गुणों को स्मरण करके अत्यन्त व्याकुल हो गईं।

विशेष—इस पद में स्मरण, वस्तुत्प्रेक्षा तथा रूपक अलंकार हैं।

हर को तिलक, हरि! चित को दहत।
कहियत है उडुराज अमृतमय, तजि सुभाव मोकौं बह्नि बहत॥
छपा न छीन होय, मेरी सजनी! भूमि-डसन-रिपु काधौं बसत।
ससि नहिं गमन करै पच्छिम दिसि, राहु ग्रसत नहिं, मोकौं न गहत॥
ऐसोइ ध्यान धरत तुम, रविसुत! मुनि महेस जैसो रहनि रहत।
सूरदास प्रभु मोहन मूरति चितै जाति पै चित न सहत॥२६९॥

शब्दार्थ—बह्नि—आग धारण करता है। छपा—रात्रि। हर को तिलक—चन्द्रमा। भूमि-डसन-रिपु—साँप।

व्याख्या—दाहक चन्द्रमा को उपालम्भ देती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे कृष्ण! आपकी अनुपस्थिति में शिवजी का शिरोभूषण यह चन्द्रमा हमारे चित्त को जला रहा है। इस नक्षत्रराज चन्द्रमा को लोग अमृतमय कहते हैं पर हमारे लिए तो यह अपना स्वभाव छोड़कर अग्नि को धारण या प्रवाहित करने वाला है। हाय री सखी! रात्रि व्यतीत ही नहीं होती। साँप न जाने कहाँ रहता है? वह यहाँ आकर हमारे जीवन

अस्त क्यों नहीं होता ? राहु इसे पकड़कर क्यों नहीं ग्रस लेता जिससे कि इस प्रकार न सता पाता। हे चन्द्र ! वैसे तो तुम बड़ी समाधि लगाकर मु शिवजी की दिनचर्या को अपनाते हो अर्थात् उन्हीं के समान रहते हो। सूर कहु गोपियों ने कहा कि चन्द्र का रूप हमारे प्रभु के समान ही मोहित करने वाला है हम ध्यान-मुद्रा में उसकी ओर देखने लगती हैं पर हमारा चित्त उसकी दाहकता के उसे सहन नहीं कर पाता।

विशेष—इस पद में विषम उपमा तथा विरोधाभास अलंकार है।

ए सखि ! आजु की रैनि को दुख कह्यो न कछू मोपैं परैं।
मन राखन को बेनु लियो कर, मृग थाके उडुपति न चरैं॥
आही प्राननाथ प्यारे बिनु सिव-रिपु-बान नूतन जो जरैं।
अति अकुलाय बिरहिनी ब्याकुल भूमि-डसन रिपु भाव न करैं॥
अति आतुर ह्वै सिंह लिख्यो कर जेहि भामिनि को कदन टरैं।
सूरदास ससि को रथ चलि गयो, पाछे तें रबि उदय करैं॥३००॥

शब्दार्थ—मोपैं—मुझसे। राखन—बहलाना। चरैं—चलता है।

व्याख्या—रात्रि की व्यथा को कोई गोपी अपनी सखी से कह रही है कि सखी ! रात्रि की व्यथा तो मुझसे कहते नहीं बनती। जब चन्द्रमा के दर्शन से ब कष्ट हुआ तो मैंने मन बहलाने के लिए हाथ में वंशी ले ली और उसे बजाने लगी फल इसका उलटा हो गया। चन्द्रमा के रथ के मृग वंशी की ध्वनि पर मोहित हो रुक गये। तत्पश्चात् प्राणनाथ कृष्ण की अनुपस्थिति में कामदेव ने अपने बाण चल आरम्भ कर दिए। इससे मैं बहुत व्याकुल हो उठी और यह कामना करने लगी इससे तो मुझे सर्प ही आकर काट लें और मैं इस व्यथा से छुटकारा पा जाऊँ। ज चन्द्रमा नहीं टला तो मेरी सखियों ने सिंह का चित्र बनाया जिससे चन्द्रमा के रथ मृग डर जाएँ और चलने लगें। ऐसा करने पर सफलता मिली। मृग चल पड़े औ थोड़ी देर में चन्द्रमा अस्त हो गया। तब किसी सखी ने बताया कि पूर्व से सूर्य का उदय हो रहा है।

विशेष—इस पद में विषादन एवं सूक्ष्म अलंकार है।

देखो माई ! नयनन्ह सों घन हारे।
बिन ही ऋतु बरसत निसिबासर सदा सजल दोउ तारे॥
ऊरध स्वास समीर तेज अति दुख अनेक द्रुम डारे।
बदन सदन करि, बसे बचन-खग ऋतु पावस के मारे॥
ढरि-ढरि बूँद परत कंचुकि पर मिलि अंजन सों कारे।
मानहुँ सिव की परनकुटी बिच धारा स्याम तिनारे॥

सुमिरि सुमिरि गरजत निसिबासर अश्रु-सलिल के धारे।
बूड़त ब्रजहि सूर को राखे बिनु गिरिवरधर प्यारे ॥३०१॥

शब्दार्थ—सिव—स्तन। बसे बचन-खग—वचन रूपी खग ने मुंह में ही निवास बना लिया है। निनारे—अलग-अलग।

व्याख्या—कृष्ण के वियोग में रोती हुई गोपियाँ परस्पर कह रही हैं कि हे सखी ! देखो, हमारे इन नेत्रों से तो बादल भी हार गये हैं। बादल तो वर्षा ऋतु में ही बरसते हैं पर ये तो बिना वर्षा ऋतु के ही दिन-रात बरसते हैं। इनकी दोनों पुतलियाँ सदा जल में डूबी रहती हैं। हम लोगों की जो ऊर्ध्व स्वाँस चल रही है वही इस वर्षा ऋतु की तेज बहने वाली वायु है जिसने हमारे अनेक सुखरूपी वृक्षों को उखाड़कर फेंक दिया है। वर्षा ऋतु के भय से ये वचनरूपी पक्षी अपने मुखरूपी घोंसले में ही बसे रहते हैं, बाहर नहीं निकलते। भाव यह है कि हम दुःख के मारे कुछ बोलती ही नहीं हैं। आँसुओं का पानी काजल से काला होकर बूँद-बूँद कर चोलियों पर गिर रहा है जो वक्षस्थल के स्तनों के मध्य श्याम रंग का होकर बह रहा है। ऐसा लगता है कि दो शिव की पर्णकुटियों के बीच में एक श्याम नदी का प्रवाह बह रहा है जो उन दोनों को अलग किये हुए है। हम दिन-रात उन्हें स्मरण कर रही हैं, वही मानो मेघों का गर्जन है। हमारे जो आँसू निकल रहे हैं वे ही वर्षा के जल की धाराएँ हैं। सूर कहते हैं कि इस भीषण वर्षा के जल में डूबते हुए व्रज को प्रिय गिरधारी के अतिरिक्त और कौन बचा सकता है।

विशेष—इस पद में श्लेष, रूपक और उत्प्रेक्षा से पुष्ट प्रतीप अलंकार है तथा अन्तिम पंक्ति में गिरिवरधर संज्ञा के साभिप्राय होने के कारण परिकरांकुर अलंकार भी है।

जौ तू नेक हू उडि जाहि।
बिबिध बचन सुनाय बानी यहाँ रिझवत काहि॥
पतित मुख पिक पशय पसु लौं कहा इतो रिसाहि।
नाहिनं कोउ सुनत समुझत, बिकल बिरहिनि याहि॥
राखि लेबो अवधि लौं तनु, मदन ! मुख जनि खाहि।
तहूँ तौ तन-दगध देख्यो, बहुरि का समुझाहि॥
नंदनंदन को बिरह अति कहत बनत न ताहि।
सूर प्रभु ब्रजनाथ बिनु लैं मौन मोहि बिसाहि॥३०२॥

शब्दार्थ—पतित मुख—मुख नीचा किये हुए। बिसाहि—मोल लेना। तन-दगध—शरीर का जलना।

व्याख्या—विरह व्यथा में कोयल का शब्द सुनकर गोपियाँ कहती हैं कि हे कोकिल, तू यहाँ से तनिक उड़ क्यों नहीं जाती ? यहाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की बोली सुनाकर तू किसे प्रसन्न कर रही है। अपना मुख नीचे किये एक निर्दयी पशु के समान

तू क्यों कोप दिखा रही है। यहाँ कोई विकल विरहिणी की व्यथा नहीं सुनता कामदेव, कृष्ण के आने की अवधि तक हमें बना रहने दे। अपने मुँह से हमें खा न तूने भी तो शिवजी द्वारा जलाये हुए अपने शरीर की व्यथा का अनुभव किया है। तुझे क्या समझावें ? नन्दनन्दन का विरह बहुत अधिक संताप देने वाला है। ह कुछ कहते नहीं बनता। अब पुनः कोकिल से वे कहने लगीं कि ब्रजनाथ श्रीकृष्ण अनुपस्थिति में तू मौन धारण कर हमें मोल ले ले। भाव यह है कि तू चुप रहकर कृतज्ञ कर।

विशेष— (i) इस पद में अतिशयोक्ति अलंकार है।

(ii) कामदेव अपने मित्र बसंत के साथ शिवजी को क्षुब्ध करने के लिए उ आश्रम में गया था। आकर्ण शरासन खींचकर वह समाधिस्थ शिव के पीछे खड़ा था इतने में ही शिवजी की समाधि उखड़ गई। पूजा के लिए आई हुई पार्वती को दे कर उनका मन क्षुब्ध हुआ ही था। इसका कारण कामदेव को समझकर उसे अ तृतीय नेत्र की अग्नि से भस्म कर दिया। तभी से इनका नाम अनंग पड़ गया है—

तब सिव तीसर नैन उघारा। चितवत काम भयो जरि छारा॥

मधुकर ! जोग न होत सँदेसन।
नाहिन कोउ ब्रज में या सुनिहै कोटि जतन उपदेसन॥
रवि के उदय मिलन चकई को संध्या समय अँदेस न।
क्यों बन बसें बापुरे चातक, बधिकन्ह काज बधे सन॥
नगर एक नायक बिनु सूनो, नाहिन काज सबै सन।
सूर सभाय मिटत क्यों कारे जिहि कुल रीति डसै सन॥२०३॥

शब्दार्थ—अँदेस—सन्देह। सन—से। बापुरे—बेचारे।

व्याख्या—उद्धव के योगोपदेश पर गोपियाँ कहती हैं कि हे मधुकर ! कहीं सन्देशों से भला योग होता है ! चाहे तुम करोड़ों यत्न करो पर ब्रज में इस उपदेश को कोई नहीं सुनेगा। शाम को प्रियतम से वियुक्त होती हुई चकवी को सूर्योदय होने पर पुनर्मिलन के लिए कोई सन्देह नहीं होता। उसे निश्चय रहता है कि सूर्योदय होने पर मैं प्रियतम से अवश्य मिलूँगी। इसी प्रकार हमें भी विरह में यह निश्चय है कि अवधि आने पर कृष्ण अवश्य मिलेंगे। चातक आदि पक्षी भले ही वन में रहते हैं किसी का कुछ भी नहीं बिगाड़ते पर बधिकों को तो उनकी हत्या से ही प्रयोजन है। इसी प्रकार हम भी विरह को सहन करती हैं और किसी का कुछ भी नहीं बिगाड़तीं पर उद्धव जैसों को तो हमारा मन दुखाने में ही आनन्द आता है। हमारा नगर नगर-नायक श्रीकृष्ण के बिना सूना है। यहाँ के रहने वालों से इस अभाव की पूर्ति नहीं हो सकती। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि यह सब होते हुए भी कृष्ण और उनके साथियों को इसकी क्या चिन्ता ? ये तो काले नाग हैं काले ! दूसरों को डसना ही इनकी क्रमागत परम्परा है।

विशेष—इस पद में अन्योक्ति अलंकार है।

> यह डर बहुरि न गोकुल आए।
> सुन री सखी! हमारी करनी समुझि मधुपरी छाए॥
> अधरातिक तें उठि बालक सब मोंहि जगैहैं आय।
> बिनु पदत्रान बहुरि पठवैंगी बनहि चरावन गाय॥
> सूनो भवन आनि रोकैंगी चोरत दधि नवनीत।
> पकरि जसोदा पै लै जैहैं, नाचति गावति गीत॥
> ग्वालिनि मोंहि बहुरि बाँधैंगी केते बचन लगाय।
> एते दुःखन सुमिरि सूर मन, बहुरि सहै को जाय॥३०४॥

शब्दार्थ—बहुरि—फिर। मधुपुरी—मथुरा। पठवैंगी—भेजेंगी।

व्याख्या—कृष्ण के कुपित होने की आशंका व्यक्त करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि अरी सखी सुनो! हमारा विचार है कि श्रीकृष्ण डर के कारण गोकुल नहीं लौटे। वे वास्तव में हमारी करतूतों को सोचकर ही मथुरा में जम गये हैं। वे सोचते होंगे कि यदि मैं ब्रज में जाऊँगा तो वहाँ बालक पहले की भाँति आधी रात से उठकर मुझे जगाया करेंगे और गोपियाँ मुझे नंगे पाँव वन में गाय चराने भेजेंगी। सूने घर में मक्खन और दही चुराते हुए मुझे ग्वालिनें मना करेंगी और कितने ही दोषारोपण करके मुझे नाचती-गाती यशोदा के सामने ले जायेंगी। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि इन बातों को स्मरण करके वे अपने मन में अवश्य ही सोचते होंगे कि फिर जाकर इन दुःखों को कौन सहेगा।

विशेष—कृष्ण के ब्रज न लौटने में शोकाकुल गोपियों के हृदय में कभी कृष्ण की गलती महसूस होती है तो कभी अपनी। इस पद में वे उनके कुपित होने का कारण ब्रज-वासियों को गलती ही बताती हैं।

> तब तें बहुरि न कोऊ आयो।
> वहै जो एक बार ऊधो पै कछुक सोध सो पायो॥
> यहै बिचार करें, सखि आपद इतो गहरु क्यों लायो।
> गोकुलनाथ कृपा करि कबहूँ लिखियो माँहि पठायो॥
> अवधि आए एती करि यह मन अब जैहै बौरायो।
> सूरदास प्रभु चातक बोल्यो, मेघन अंबर छायो॥३०६॥

शब्दार्थ—सोध—पता। गहरू—विलम्ब। अंबर—आकाश।

व्याख्या—ऊधो के लौट आने पर जब कृष्ण का सन्देश बहुत दिन तक नहीं मिला तो गोपियाँ परस्पर कह रही हैं कि अरे फिर तो कोई भी वहाँ से नहीं आया। एक बार उद्धव जी आये थे तभी उनका कुछ समाचार प्राप्त हुआ था। हम यही विचार किया करती हैं कि श्री कृष्ण ने इतना विलम्ब क्यों लगाया? गोकुलनाथ श्री कृष्ण ने हम

पर कृपा करके हमें पत्र भी नहीं भेजा। इतने दिन उनकी राह देखते हुए हमने व्यतीत कर दिया। यदि अब भी वे न आये तो हमारा मन पागल हो जायगा। ठीक समय जानकर बोलने लगे और गगन बादलों से ढक गया। ऐसा होने पर तो गोपियाँ भी व्याकुल हो उठीं।

विशेष—ऊधो के आने पर कुछ समाचार तो मिला था चाहे वह बुरा था अच्छा। किन्तु अब तो इन बेचारी गोपियों के लिए कोई भी समाचार न रहा।

> मेरो मन मथुराइ रह्यो।
> गयो जो तन तें बहुरि न आयो, लै गोपाल गह्यो॥
> इन नैनन को भेद न पायो, केहु भेदिया कह्यो।
> राख्यो रूप चोरि चित-अंतर सोइ हरि खोज लह्यो॥
> आए जोगन ता बिन ऊधो मनि दै मठ्ठ मह्यो।
> निर्गुन साटि गोविंदहि माँगत, क्यों दुख जात सह्यो॥
> जेहि आधार आजु लौं यह तनु ऐसे ही निबह्यो।
> सोइ छिड़ाय लेत सुनु सूरज, चाहत हृदय दह्यो॥१०१॥

शब्दार्थ—खोज लह्यो—पता लग गया। मह्यो—मट्ठा। साटि—बदले में। छिड़ाय लेत—छीन लेते हैं।

व्याख्या—कोई गोपी कहती है कि मेरा मन अब भी मथुरा में श्री कृष्ण के साथ ही रहता है। वह हमारा शरीर छोड़कर चला गया और वहाँ उसे गोपाल ने पकड़ लिया। हमारे नेत्रों के इस रहस्य को कोई नहीं जानता था कि उन्होंने श्री कृष्ण के रूप को चुरा लिया था परन्तु किसी भेद जानने वाले ने यह भेद खोल दिया। मैंने जो उनके रूप को अपने चित्त के भीतर छिपा लिया था उसका पता श्री कृष्ण ने पा लिया। उसी को वापिस ले जाने के लिए शोर मचाते हुए ऊधो यहाँ आये हैं। वे हमसे रूप-रूपी मणि देकर निराकार रूपी मट्ठा लेने को कह रहे हैं। वे हमसे निराकार के बदले में गोविन्द को चाहते हैं। हा ! इस दुःख को हम कैसे सहन कर सकती हैं। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि इस विरह की असह्य दशा में भी जो रूप हमारे शरीर के लिए किसी न किसी दशा में निर्वाह का अवलम्ब रहा है उसे हमसे छीनकर ये उद्धव जी महाराज हमें भस्म करने के इच्छुक हैं।

विशेष—इस पद में रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

> लोग सब देत सुहाई बातें।
> कहतहि सुगम करत नहिं आवै, बोलि न आवत तातें॥
> पहिले आगी सुनत चंदन सी सती बहुत उमहै।
> समाचार तातें अब सीरे पीछे कौन कहै॥

कहत सबै संग्राम सुगम अति कुसुमलता करवार।
सूरदास सिर दिए सूरमा पाछे कौन बिचार ?॥३०७॥

शब्दार्थ—सुहाई—सुहावनी। करवार—तलवार। उमँहै—उमंगित होना।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव पर कटाक्ष करती हुई कहती हैं कि लोगों को चिकनी चुपड़ी बातें करने की आदत हुआ ही करती है। योग की साधना बस कहने में ही बड़ी सुगम है, करने पर पता लगता है कि कितनी कड़ी है। देखो न अब इसीलिए उद्धव मौन धारण किये हैं, उनसे उत्तर नहीं बन पा रहा है। पहले अग्नि को चन्दन जैसी शीतल सुन-सुनकर सती होने वाली स्त्री प्रसन्न होती है किन्तु जब वह जल कर भस्म हो जाती है तब बताने वाला रहा ही कौन जो यह बतावे कि आग ठण्डी थी या गर्म। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि ये सभी कहते हैं कि सच्चे वीर के लिए युद्ध एक खिलवाड़ है और तलवार फूलों की लता है। लेकिन जब वीर भी उससे अपना सिर कटा लेता है तो फिर बात ही क्या रही ?

विशेष—(i) इस पद में अन्योक्ति अलंकार है।

(ii) गई पूतरी नौन की थाह सिंधु की लैन।
पैठत ही घुल मिल गई, पलट कहै को बैन ॥

बिछुरत श्री ब्रजराज आज सखि ! नैनन की परतीति गई।
उड़ि न मिले हरि-संग-बिहंगम ह्वै न गए घनस्याम-मई॥
यातैं क्रूर कुटिल सह मेचक बृथा मीन छबि छीनि लई।
रूप रसिक लालची कहावत, सो करनी कछु तौ न भई॥
अब काहे सोचत जल मोचत, समय गए नित सूल नई।
सूरदास याही ते जड़ भए जब तें पलकन दगा दई॥३०८॥

शब्दार्थ—बिहंगम—पक्षी, यहाँ खंजन से तात्पर्य है। मेचक—कालापन लिए।

व्याख्या—अपने शोभाविहीन नेत्रों पर आक्षेप करती हुई गोपियाँ आपस में कहती हैं कि हे सखी ! आज ब्रजराज श्रीकृष्ण के बिछुड़ जाने पर इन नेत्रों का विश्वास जाता रहा है। ये यदि खंजन हैं तो पक्षी होकर भी ये हरि के साथ उड़कर क्यों न लग गये ? ये घनश्याममय क्यों न बन गये ? इन दुष्ट कुटिलों ने व्यर्थ ही मछलियों के कालेपन की शोभा को धारण किया है। उन मछलियों की करनी तो इन्होंने कुछ भी न कर पायी। व्यर्थ में ही घनश्याम के रूप को प्यार करने वाले कृष्ण रूप के लोभी कहलाने लगे। यदि इन्होंने मछलियों की सुन्दर श्यामलता ली थी तो इन्हें उनके सदृश ही प्रेमी बनकर दिखाना चाहिये था। कृत्रिम प्रेम करने वालों को वस्तुतः यही दण्ड मिलना चाहिये। अब क्यों ये सोच में मग्न रह कर पानी की वर्षा करते रहते हैं। समय बीत जाने के कारण नित्य नयी व्यथा का अनुभव करते हैं। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि जब से पलकों ने इन्हें धोखा दिया है तब से ये जड़ बन गये हैं।

विशेष—इस पद में हेतांगरूपक अलंकार है।

को कहै हरि सों बात हमारी ?
हम तौ यह तब तें जिय जान्यों अब भए मधुकर अधिकारी॥
एक प्रकृति, एकै कंतव-गति तेहि गुन अस जिय भावै।
प्रगटत है नव कंज मनोहर, व्रज किसुक कारन कत आवै॥
कंजतोर चम्पक-रस-चंचल, गति सब ही तें न्यारी।
ता अलि की संगति बसि मधुपुरि सूरदास प्रभु सुरति बिसारी॥३०६॥

शब्दार्थ—कंतव-गति—छल की चाल। चंपक—चंपा।

व्याख्या गोपियाँ निराशात्मक स्वर में परस्पर कह रही हैं कि हमारे मन की बात हरि से कौन कहे ? हमने यह बात तभी से जान ली है जब से उनके यहाँ भ्रमर न हाताय अधिकारी बने हैं। दोनों का एक-सा स्वभाव और एक-सी ही विश्वासघात करने की आदत है। उनके गुणों को सोचकर हमारे मन में तो यही निश्चय आता है कि हमारी कहने वाला कोई है ही नहीं। वहाँ मथुरा में नया कमल खिलता है फिर यहाँ व्रज में यह टेसू के फूल के पास क्यों आने लगा ? ये तो भ्रमर हैं कहीं भी स्थिर होकर नहीं रहते। आज कमल के लिए किंशुक को ही छोड़ा है। कमल के पास रहकर भी मन में चम्पा की भी सोचते रहते हैं, भले ही वह उनके काम का न हो। पर इससे उन्हें क्या ? ऐसे ही भौंरों के निकट रहकर सूर के स्वामी श्रीकृष्ण ने हमें विस्मृत किया है।

विशेष—इस पद में अन्योक्ति अलंकार है।

हमारे स्याम चलन चहत हैं दूरि।
मधुवन बसत आस ही सजनी ! अब मरिहैं जो बिसूरि॥
कौने कही, कहाँ सुनि आई ? केहि दिसि रथ की धूरि।
संगति सबै चलो माधव के नातरु मरिबो झूरि॥
पच्छिम दिसि एक नगर द्वारका, सिंधु रह्यो जल पूरि।
सूर स्याम क्यों जीवहि बाला, जात सजीवन मूरि॥३१०॥

शब्दार्थ—ही—थी। नातरु—नहीं तो। मूरि—जड़ी।

व्याख्या—कृष्ण के द्वारिका जाने का समाचार सुनकर कोई गोपी अन्य गोपियों से कहती है कि सुना है कि अब हमारे प्रियतम श्याम दूर जाना चाहते हैं। हे सखी ! मथुरा रहते हुए तो कुछ मिलन की आशा थी भी पर अब तो बस रो-रोकर ही मर जायेंगी। ऐसा सुनकर सारी सखियाँ क्षुब्ध हो जाती हैं और पूछने लगती हैं कि यह बात तुमसे किसने कही ? कहाँ से सुनकर आई हो तुम इस बात को ? तुमने रथ की धूल किस ओर उड़ते देखी है ? बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये हुए ही तीव्र उत्कण्ठा के साथ वे कहती हैं कि चलो भाई, सब मिलकर माधव के साथ चलें। नहीं तो हम सब बिरह में जलकर मर जायेंगी। वह सखी उनके प्रश्न का उत्तर देती हुई कहती है कि

पश्चिम की ओर एक द्वारिका नगरी है जो चारों ओर से समुद्र से घिरी हुई है। यह सुनकर गोपियों ने कहा कि हाय ! ये बालायें अब कैसे जीवेंगी ? इनकी संजीवनी जड़ी आप तो क्योंकि सदा के लिए बिछुड़ रहे हो।

विशेष—इस पद में रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

> उती दूर तें को आवै हो।
> जाके हाथ संदेस पठाऊं सो कहि कान्ह कहाँ पावै हो॥
> सिंधकूल एक देस कहत हैं, देख्यो सुन्यो न मन धावै हो।
> तहाँ रच्यो नव नगर नंद सुत पुरि द्वारका कहावै हो॥
> कंचन के सब भवन मनोहर, राजा रंक न तृन छावै हो।
> ह्याँ के सब बासी लोगन को ब्रज को बसिबौ नहिं भावै हो॥
> बहु बिधि करति बिलाप बिरहिनी बहुत उपाव न चित लावै हो।
> कहा करौं कहँ जाउँ सूर प्रभु, को मोहि हरि पै पहुँचावै हो॥३११॥

शब्दार्थ—को—कौन। मन धावै—कल्पना। तृन छावै—छप्पर बनाना।

व्याख्या—कृष्ण के द्वारिका चले जाने पर गोपियाँ निराश होकर कहती हैं कि इतनी दूर से भला कोई क्यों आवेगा ? हे कृष्ण ! अपने वियोग का सन्देश भेजने के लिए भी अब हमें कहाँ और कौन मिल सकेगा ? मतलब यह है कि इतनी दूर जाने के लिए तो कोई भी तैयार नहीं होगा। सुना है कि समुद्र के किनारे कोई देश है जिसके बारे में न हमने कभी सुना और न देखा। उसकी दूरी के विषय में केवल कल्पना ही की जा सकती है। वहाँ नन्दनन्दन ने एक नगर बसाया है जिसे द्वारिका कहते हैं। वहाँ सभी के घर सोने के बने हैं। राजा से लेकर रंक तक कोई भी घास-फूस का छप्पर नहीं बनाता। वे यह भी कहते हैं कि वहाँ के रहने वालों को ब्रज में रहना नहीं भाता। सूर कहते हैं कि विरहिणी गोपियाँ अनेक प्रकार से विलाप करती हैं और उपाय भी करती हैं पर उनका चित्त नहीं लगता। अतः वे व्यथित होकर कहती हैं कि कहाँ जायें और क्या करें ? कोई हमें यदि हरि के पास पहुंचा दे तो उसका बड़ा उपकार हो।

विशेष—मथुरा जाने पर ही गोपियों के दुःख का पारावार न था अब वे बेचारी कैसे रहेंगी, वस्तुतः उनकी चिन्ता का विषय है।

> हमैं नँदनंदन को गारो।
> इंद्र कोप ब्रज बह्यो जात हो, गिरिधारि सकल उबारो॥
> रामकृष्न बल बदति न काहू, निडर चरावत चारो।
> सगरे बिगरे को सिर ऊपर बल को ओर रखवारो॥
> तब तें हम न भरोसो पायो केसि मुवावत मारो।
> सूरदास प्रभु रंगभूमि में हरि जीतो, नृप हारो॥३१२॥

शब्दार्थ—गाढ़ी—गई। बीर—भाई। रंगभूमि—युद्धभूमि।

व्याख्या—श्रीकृष्ण के विरह में पश्चात्ताप करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हमें तो [illegible] गर्व है। इन्द्र के कोप से जब ब्रज बहा जाता था तो उन्होंने ही गोवर्धन धारण करके इसकी रक्षा की थी। बलराम और कृष्ण की शक्ति पर भरोसा करके हम किसी की भी चिन्ता नहीं करती थीं। निडर होकर अपनी गायें चराती थीं। हमारे सब कार्यों के सम्भालने वाले श्रीकृष्ण हमारे संरक्षक थे। हमें उन पर पूर्ण विश्वास था किन्तु केशी और तृणावर्त राक्षसों के वध के बाद उनकी कोई विश्वास बंधाने वाली बात न हुई। शायद अब उन्हें हमसे और हमारे ब्रज से कोई प्रेम नहीं रहा। हाँ इतना अवश्य सुना गया है कि युद्ध में कंस पराजित हुए और सूर के स्वामी श्याम विजयी बने।

विशेष—(i) एक बार श्रीकृष्ण ने इन्द्र का अभिमान चूर्ण करने के हेतु लोगों से इन्द्र की पूजा करने को मना कर दिया। इन्द्र ने गुस्से में आकर मूसलाधार वर्षा की। किन्तु श्रीकृष्ण ने गोवर्धन धारण करके ब्रज को बचा लिया।

(ii) केशी एक राक्षस था। उसे कंस ने कृष्ण को मारने के लिए भेजा था। वह एक बलवान और महान् घोड़े के रूप में नन्द ग्राम में आया। उसके पैर जमीन में और मुख आसमान में था। उसने कृष्ण को अपने पैरों से कुचल कर मार डालना चाहा। किन्तु कृष्ण ने उसे मार गिराया।

(iii) तृणावर्त भी एक राक्षस था। वह भी कंस द्वारा ही बालकृष्ण को मारने के लिए भेजा गया था। यशोदा कृष्ण को गोदी में लिए हुए थी कि अचानक वह राक्षस एक महान् बवडर के रूप में आया और सारे ब्रज को धूल से भर दिया। वह कृष्ण को यशोदा की गोदी में से आकाश में उड़ा कर ले गया। किन्तु कृष्ण ने उसे भी मार डाला।

ऐसे माई पावस ऋतु प्रथम सुरति करि माधवजू आवें री।
बरन बरन अनेक जलधर अति मनोहर वेष।
यहि समय यह गगन-सोभा सबन तें सुविसेष॥
उड़त बक, सुक-बृंद राजत, रटत चातक मोर।
बहुत भाँति चित हित-रुचि बाढ़त दामिनी घनघोर॥
धरनि-तनु तृनरोम हर्षित प्रिय समागम जानि।
और द्रुम बल्ली बियोगिनी मिलीं पति पहिचानि॥
हंस, पिक, सुक, सारिका अलिपुंज नाना नाद।
मुदित मंगल मेघ बरसत, गत बिहंग-बिषाद॥

ऽऽ, कुब्ज, कुंद, कदंब, कोबिद, कनिकार, सु कंजु।
केतकी, करवीर, चिलक बसंत-सम तरु मंजु॥
सघन तरु कलिका-अलंकृत, सुकृत सुमन सुबास।
निरखि नयनन्ह होत मन माधव-मिलन की आस॥
मनुज मृग पसु पच्छि परिमित औ अमित जे नाम।
सुख स्वदेस बिदेस प्रीतम सकल सुमिरत धाम॥
ह्वै है न चित्त उपाय सोच न कछू परत बिचार।
नाहिं ब्रजवासी बिसारत निकट नंदकुमार॥
सुमरि दसा दयाल सुन्दर ललित गति मृदु हास।
चारु लोल कपोल कुंडल डोल बलित-प्रकास॥
बेनु कर कल गीत गावत गोपसिसु बहु पास।
सुदिन कब यहि आँखि देखें बहुरि बाल-बिलास॥
बार बारहिं सुधि रहित अति बिरह' ब्याकुल होति।
बात-बेग सो लगै जैसो दीन दीपक-ज्योति॥
सुनि बिलाप कृपालु सूरजदास प्रान प्रतीति।
बरस दै दुख दूर करिहैं, सहि न सकिहैं प्रीति॥२१३॥

शब्दार्थ—हित-रुचि—प्रेम का अभिलाष। घोर—बादल की गरज। कोबिद—कचनार। कनिकार—कनियारी का पेड़। करबीर—कनेर। चिलक—चमक। परिमित—तक। बात-बेग—हवा का झोंका। बलित—युक्त। मृग पसु—पशु जाति।

व्याख्या—श्रीकृष्ण-वियोग में वर्षा के आगमन पर दुखी होती हुई गोपियाँ आपस में *कह रही हैं कि हे सखी! वर्षा ऋतु का आगमन हो गया है। क्या कृष्ण* ऐसे समय में हमारी याद करके पहले की भाँति आवेंगे? रंग-बिरंगे अनेक बादल सुन्दर वेष धारण किये हुए उठ रहे हैं। इस समय आकाश की शोभा सब ऋतुओं की अपेक्षा अधिक है। बगुले उड़ रहे हैं, तोतों के झुण्ड के झुण्ड बहुत सुशोभित हैं। मयूर और चातक भी शोर कर रहे हैं। गर्जन करते हुए मेघों में विद्युतमाला की चमक देखकर अनेक प्रकार की मनोगत अभिलाषायें बढ़ रही हैं। पृथ्वी के शरीर पर प्रियतम के मिलने के कारण तृणरूपी रोमांच हर्षित हो रहा है। हंस, कोयल, तोता-मैना और मधुप-समूह नाना प्रकार का गुंजन कर रहे हैं। आनन्द से उमड़कर मेघ मंगलप्रद जल की वर्षा कर रहे हैं। पक्षी विषाद-रहित दिखाई पड़ते हैं। अनेक प्रकार के तरु वनस्पति कुब्ज, कुंद, कदम्ब, कचनार, कनियारी का पेड़, कमल, केतकी और कनेर आदि की प्रभा बसन्त काल के समान सुन्दर हो रही है। घने-घने वृक्षों पर कलियां अलंकृत हो रही हैं तथा सुन्दर पुष्पों की सुगंधि फैल रही है। इन सब हृदयहारिणी शोभाओं को देखकर मन में माधव से मिलने की आशा घर कर रही है। मनुष्य से लेकर पशु-पक्षियों

तक जिनके अनन्त नाम हैं उन सबके प्रियतम जो विदेश प्रवासी हैं इस ऋतु में स्वदेश का सुख याद करके अपने घर की ओर जा रहे हैं। सूर कहते हैं कि ब्रजवासियों के चित्त में और कोई उपाय नहीं दिखाई देता। अन्य कोई विचार कभी उनके दिल में उठता ही नहीं। यदि कोई उठता है तो केवल कृष्ण की समीपता का। उसे वे कभी नहीं भूल पाते। वे कृपालु कृष्ण की सुन्दर चाल तथा मृदुल हास को सदैव स्मरण करते हैं। उनके सुन्दर कपोल और चचल कुडलों का वृत्ताकार प्रकाश उनके मनों में घूमा रहता है। वे मनाती हैं कि श्याम अपने हाथ में मुरली लिए गाते हुए बहुत से ग्वाल-बालों को बटोर कर संग लिए हुए कब आवेंगे ? वह सौभाग्यशाली दिन कब आवेगा जब हम अपनी इन्हीं आँखों से उनकी बाल-लीलायें फिर देखेंगी। उनको बार-बार उनकी याद आती है जिससे वे बहुत व्याकुल हो उठती हैं। वर्षाकाल के हवा के झोंके से दीप-ज्योति के समान वे चचल और ज्योतिहीन हो जाती हैं। उनके विलाप को सुन कर परमभक्त सूरदास अपने प्राणों में श्रीकृष्ण की भक्तवत्सलता पर अत्यधिक विश्वास करके कह रहे हैं कि वे भक्तवत्सल दर्शन देकर इन दुखियारी गोपियों के कष्ट अवश्य ही दूर करेंगे। वे भक्त हृदय मे इस महान् प्रेम की पीर को कभी भी सहन नहीं कर सकते। भक्तों की दीनता पर द्रवित होना तो उनकी आदत है।

विशेष—(i) विनय के पदों में सूर ने कई स्थानों पर भगवान् की भक्तवत्सलता का वर्णन किया है जैसे एक स्थान पर—

भक्त विरह कातर करुनामय, डोलत पाछे लागे।
सूरदास ऐसे स्वामी कौं देहि पीठि सो अभागे।।

(ii) इस पद मे रूपक और उपमा अलंकार की छटा भी देखते ही बनती है।

चलहु धौं लै आवहिं गोपालै।
पाँय पकरि कै निहुरि बिनति कहि, गहि हलधर की बाँह बिसालै।।
बारक बहुरि आनि कै देखहि नंद आपने बालै।
गैयन गनत गोप-गोपी-सह सीखत बेनु रसालै।।
यद्यपि महाराज सुख-सपति कौन गनै मोतिन अरु लालै।
तदपि सूर आकरषि लियो मन उर घुंघचिन की मालै।।१।४।।

शब्दार्थ—धौं—वहाँ। निहुरि—निहारे करके। हलधर—बलराम।

व्याख्या—गोपियाँ परस्पर विचार करती हैं कि चलो हम सब मिलकर गोपाल को यहाँ लिवा लावें। उनके चरण पकड़कर हम लोग विनती करेंगी और बलदाऊ की की विशाल बाहें पकड़कर यहाँ ले आवेंगी जिससे नन्द फिर एक बार अपने बच्चों को देख लें। कृष्ण यहाँ आवेंगे और गोप-गोपीसहित गायों को गिनकर तथा सुन्दर सरस बंशी बजाकर अपना समय व्यतीत करेंगे। यद्यपि वे आजकल महाराजा हैं, रत्नों की उनके यहाँ गिनती नहीं है। पर सूरदास जी कहते हैं कि गोपियों को यह विश्वास है

कि वे अवश्यमेव आवेंगे क्योंकि उनका मन अब भी गुंजाओं की मालाओं की ओर आकर्षित है।

विशेष—कृष्ण उनके प्रार्थना करने पर अवश्य ही लौट आवेंगे तथा आने पर गोप-गोपियों को सरस वेणु की तान सुनावेंगे आदि कथनों से गोपियों का उनमें कितना अटूट विश्वास दिखाई देता है !

बलैया लैहौं, हो मोर बादर !
तुम्हर रूप सम हमरे प्रीतम गए निकट जल-सागर ॥
या लागौं द्वारका सिधारी विरहिनि के दुखदागर।
ऐसो संग सूर के प्रभु को करुनाधाम उजागर ॥३१५॥

शब्दार्थ—दागर—नाशक। बलैया लैहौं—बलिहारी जाती हूँ।

व्याख्या—विरहोन्माद में विरहिणी गोपियाँ मेघ द्वारा सन्देश भेजने के लिए उत्कंठित होकर कहती हैं कि हे भैया बादल ! हम तुम्हारी बलिहारी जाती हैं। तुम्हारे ही जैसे रूप के हमारे प्रियतम भी हैं जो आजकल समुद्र के किनारे बसी हुई द्वारिका में रह रहे हैं। तुम वहाँ जाओ और हम विरहिणियों का दुःख दूर करो। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि करुणानिधि कृष्ण का साथ ऐसा ही है।

विशेष—वस्तुतः भगवत प्रेम इसी प्रकार का होता है। तुलसी ने कहा है—
बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं। मिलत एक दारुन दुःख देहीं।

उपमा न्याय कही अंगन की।
गए मधुपुरी क्यों फिरि आवे, सोभा कोटि अनंगन की ॥
मोर मुकुट सिर सुरधनु की छवि दूरहि ते दरसावें।
जो कोउ करें कोटि कसेहू नेकहू नेकहु छुवन न पावें ॥
अलक-भ्रमर अलि भ्रमत सदा बन बहु-बेली रस चाखें।
कमल-कोस-बासी कहियत पं बंस-बग अपनो मन राखें ॥
कुंडल मकर, नयन मीरज से, नासा सुक कविकुल गावें।
थिर न रहैं, सकुचें निसि बस हूँ, पंजर रहिहैं बेनु सुनावें ॥
भूषन प्रान-हरन-दसनावलि हीरक, अधर सुबिंब।
सहज कठिन, संगति बुधि-हर्ता, तहँ कीन्हों अवलंब ॥
भुजा भुजंग महा-रिपु मारन यम सो क्यों ठहराय।
तामें रूप-छिद्र-युत मुरली मनहर अब पराय ॥३१६॥

शब्दार्थ—न्याय—ठीक, उचित। बंस बग—बाँसों का कुल या समूह। अनंग—कला।

व्याख्या—विरहावस्था में कृष्ण के सौन्दर्य का स्मरण करके कहती हैं कि उनके अंग-प्रत्यंगों के लिए कवियों ने जो उपमान प्रस्तुत किये हैं वे न्यायसंगत ही हैं। वे

कहते हैं कि श्रीकृष्ण के अंगों की उपमाएँ कवियों ने ठीक ही प्रस्तुत की हैं। करोड़ों अनंगों की शोभा वाले वे मधुरा चले गये। वे अब वहाँ से भला क्यों लौटने लगे? भाव यह है कि यदि कोई कुरूप होता तो उससे प्रेम करने वाला कोई न होता और वह लौट कर फिर यहीं आ जाता। पर परमात्मा ने हमारे प्रियतम को तो रूपनिधि दी है अतः वे भला लौटकर क्यों आने लगे? उनके सिर पर विराजमान मयूर मुकुट है जो दूर से ही इन्द्रधनुष की शोभा दिखा देता है। यह उपमा भी किसी ने ठीक ही दी है क्योंकि करोड़ों उपाय करने पर भी कोई उस मुकुट को स्पर्श भी नहीं कर सकता। उनके केश-पाशों को भी भ्रमर की संज्ञा देना नितान्त उचित है क्योंकि वे भौंरे के समान ही चक्कर काट-काटकर अनेक बेलों के रस को चखते फिरते हैं और कमल की कलियों में रहते हुए भी अपने वनरूपी बाग की ओर ध्यान लगाये रहते हैं। उनके कुण्डलों को मकर से उपमा देना भी उचित ही है। क्योंकि मकर के समान वे भी सदा चंचल रहते हैं। उनके नेत्रों को भी कमल कहना ठीक ही है क्योंकि जैसे कमल रात्रि में संकुचित रहते हैं उसी प्रकार उनके नेत्र भी हमारे बुरे दिन आने पर संकुचित हो रहे हैं। यहाँ रहकर प्रेम जताना और अलग हो जाने पर सुध भी न लेना श्रीकृष्ण का तोताचश्म होना ही प्रगट करता है। उनकी नासिका को शुक कहना भी यथार्थ ही है क्योंकि जिस प्रकार तोता पिंजड़े में रहकर अपनी मीठी बोली से लोगों को मोहित करता है उसी प्रकार उनकी नासिका भी शरीर-पिंजर में निवास करती हुई वेणु को बजाकर लोगों को मोहित करती है। उनकी भ्रूलता प्रेक्षकों के प्राण हरण करने के कारण यथार्थ ही है। स्वभावतः कठिन होने के कारण उनके दाँतों को हीरा कहना भी युक्तिसंगत ही है। उनके अधर को बिम्बाफल की संज्ञा देना भी न्यायोचित ही है क्योंकि दोनों के सेवन से बुद्धि का नाश ही होता है। ये सब उनके आश्रय में ही निवास करते हैं। उनके उद्दण्ड भुजदण्ड शत्रुओं के नाशक हैं। फिर भला वे हमारे कन्धों पर किस प्रकार कब तक ठहर सकते हैं। और फिर उन भुजाओं में सात छिद्रों से युक्त मुरली दूसरों के मन को वशीकरण मन्त्र पढ़ाती है। पहले तो उनके अंग-प्रत्यंग ही अत्यधिक मनमोहक हैं फिर उस पर मुरली का संयोग! सोचो तो फिर कोई किस प्रकार अपने को नियन्त्रण में रख सकेगा?

विशेष—इस पद में रूपक, उपमा और श्लेष अलंकार है।

> बारक जाइयो मिलि माधौ।
> को जानै कब छूटि जायगो स्वाँस, रहै जिय साधौ॥
> पहुनेहु नंद बबा के आवहु देखि लेहुँ पल आधौ।
> मिलें ही में विपरीत करी विधि, होत दरस को बाधौ॥
> सो सुख सिव सनकादि न पावत जो सुख गोपिन साधौ।
> सूरदास राधा बिलपति है, हरि को रूप अगाधौ॥३१७॥

शब्दार्थ—साधौ—उत्कण्ठा। मिल ही मे—सब बातें बन जाने पर भी। साधो—लब्ध किया, पाया।

—वियोग-व्यथा से पीड़ित गोपियाँ तथा राधा श्रीकृष्ण से मिलने की उत्कण्ठा प्रगट करती हुई कहती हैं कि हे माधव ! तुम कम से कम एक बार मिल जाओ। कौन जानता है कि ये प्राण-पखेरू कब उड़ जाएँगे ? यदि वे हमें न मिले तो हमारे मन की अभिलाषा मन में ही रह जायगी। और भी नहीं तो तुम नन्द बाबा के यहाँ अतिथि बनकर ही आ जाओ। हम तुम्हें आधे पल के लिए ही देख लें। हाय ! सब बातें बन जाने पर भी भाग्य ने तख्ता ही पलट दिया। हमें तुम्हारे दर्शन ही नहीं होते। सूर कहते हैं कि जो सुख गोपियों ने प्राप्त किया उसके लिए प्रसिद्ध भगवत-भक्त शिव और सनकादि भी सदा तरसते रहते हैं। राधा आज उनके दर्शनों के लिये विलाप कर रही हैं। वस्तुतः कृष्ण की रूपमाधुरी अथाह है जो विश्वविमोहिनी राधा की भी यह दशा बन गई है।

विशेष—कृष्ण की रूप माधुरी की अधिकता की इससे बड़ी नाप क्या हो सकती है कि राधा भी जो विश्वविमोहिनी कही जाती हैं, विलाप कर रही हैं। उसे भी वे दर्शन नहीं देते।

निसिदिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहित पावस ऋतु हम पै जब तें स्याम सिधारे।।
दृग अंजन लागत नहिं कबहूँ, उर-कपोल भए कारे।
कंचुकि नहिं सूखत सुनु सजनी! उर-बिच बहत पनारे।।
सूरदास प्रभु अंबु बढ्यो है, गोकुल लेहु उबारे।
कहँ लौं कहौं स्यामघन सुंदर बिकल होत अति भारे।।३१८।।

शब्दार्थ—निसिदिन—रात-दिन। पनारे—प्रवाह। अंबु—जल।

व्याख्या—अपनी विरह-व्यथा का वर्णन करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हमारे नेत्र तो श्रीकृष्ण के वियोग में रात-दिन बरसते रहते हैं। जब से श्रीकृष्ण गोकुल से गये हैं हमारे यहाँ सदा वर्षा ऋतु लगी रहती है। अविरल आँसुओं की धारा प्रवाहित होने के कारण हमारी आँखों में कभी अंजन ही नहीं लग पाता। आँसुओं के साथ बहकर उसने हमारे कपोलों और वक्षस्थल को भी काला बना दिया है। हमारे वक्षस्थल पर आँसुओं के प्रवाह सदा प्रवाहित होते रहते हैं जिसके कारण हमारी चोली भी कभी नहीं सूख पाती। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि आँसुओं की लगातार वर्षा होने के कारण गोकुल में पानी की बाढ़ आ रही है। हे स्वामिन ! अब आकर इसका उद्धार कर दीजिए। वस्तुतः घनश्याम के वियोग में गोकुल-निवासी बहुत ही व्याकुल हैं।

विशेष—रूपक एवं सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार [illegible] दर्शनीय है।

आछे कमल-कोस-रस लोभी द्वै अलि सोच करे।
कनक बेलि औ नवदल के दिग बसते उभकि परे।।

कबहुँक पच्छ सकोचि मौन ह्वै अंबप्रवाह ढरै।
कबहुँक कंपित चकित निपट ह्वै लोलुपता बिसरै॥
बिधु-मंडल के बीच बिराजत अमृत अंग भरै।
एतेउ जतन बचत नहि तलफत बिनु मुख सुर उचरै॥
कीर, कमठ, कोकिला, उरग-कुल देखत ध्यान धरै।
आपुन क्यों न पधारो सूर प्रभु देखे कह बिगरै॥३११॥

शब्दार्थ—पच्छ—पंख। कीर—नासिका। कमल—मुख। कोकिला—वाणी। अलि—भौंरे अर्थात् नेत्र की पुतलियाँ। उमकि परे—उचट कर चले गये। बिधु-मंडल—चन्द्रमण्डल अर्थात् मुख। उरग-कुल—सर्प-समूह अर्थात् केश।

व्याख्या—कृष्ण-वियोग में अपनी दशा का वर्णन करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि एक सुन्दर कमल की कली के आनन्द के लोभी अर्थात् श्रीकृष्ण के मुख-कमल के दर्शनों के लिए उत्कंठित ये दो भ्रमर अर्थात् दोनों पुतलियाँ सदैव चिन्तित रहती हैं। स्वर्णलता और नवीन पंखड़ी के पास रहने वाले ये भ्रमर उचट कर चले गये। स्वर्णलता से गोपियों की गौर शरीर यष्टियाँ और नवीन पंखड़ी से तात्पर्य उनके कमल-नेत्रों से है। कभी-कभी ये भ्रमर अपने पंखों को समेटकर आंसुओं के प्रवाह की वर्षा करते रहते हैं। कभी-कभी काँपते हुए नितान्त चकित होकर वे अपनी लोलुपता में विलीन हो जाते हैं। यद्यपि ये चन्द्रमण्डल अर्थात् मुख के बीच मे निवास करते हैं और इनके अंग-प्रत्यंग अमृत में डूबे हैं किन्तु तो भी इनकी रक्षा सम्भव नहीं हो रही है। ये व्यथा से सदा तड़फते ही रहते हैं और मुंह न होते हुए भी ये अपनी कहानी कहते रहते हैं। इनकी इस प्रकार की व्यथापूर्ण दशा को देखकर नासिका, मुख, वाणी तथा केशपाश सभी खोये हुए-से रहते हैं। आँखों के खिन्न होने के कारण हमारी प्रत्येक अंगमाधुरी फीकी हो गई है। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हे माधव! आप स्वयं आकर क्यों न देख जाओ? आपका इसमें बिगड़ ही क्या जायगा?

विशेष—इस पद में रूपकातिशयोक्ति तथा विभावना अलंकार है।

सबन अवध, सुंदरी बधै जनि।
मुक्तामाल, अनंग! गंग नहि, नवसत साजे अर्ध-स्यामघन॥
भाल तिलक उडुपति न होय यह, कबरि-ग्रंथि अहिपति न सहस-फन।
नहि बिभूति दधिसुत न भाल जड़! यह मृग मद चंदन-चर्चित तन॥
न गजचर्म यह असित कंचुकी, देखि बिचारि कहाँ नंदीगन।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस बिनु बरयन काम करत हठ हम सन॥३५०॥

शब्दार्थ—अवध—अवध्य। नवसत—सोलह शृंगार। सन—साथ।

व्याख्या—श्रीकृष्ण-विरह मे कामदेव के प्रहारों से पीड़ित होकर गोपियाँ काम से कहती हैं कि स्त्रियाँ तो सब के लिए अवध्य हैं अतः तू उनका वध मत कर। तू हमें शिवजी न समझ। हमारे सिर पर तो यह मोतियों की माला है, गंगा की धारा नहीं

है। तुम इसे गलती से गंगा की धारा समझ कर शिव का धोखा खाकर हम पर निरन्तर वार कर रहे हो। विरहावस्था में भी सुन्दरियों ने आज सोलह शृंगार इसलिए कर रखे हैं क्योंकि आज उन्हें श्रीकृष्ण के आगमन की आशा है। हमारे माथे पर तिलक देखकर तुम शायद इसे चन्द्रमा समझ बैठे हो और हमें मारे डाल रहे हो। हमारे सिर पर जो यह जूड़ा है इसे आप सहस्रफण वाला शेषनाग मत समझो। हमारे इस कस्तूरी और चन्दन से भूषित शरीर को तुम भभूत और चन्द्र की सफेदी मत समझो। वक्षस्थल पर पहनी हुई यह काली चोली है तुम इसे शिव के हाथी की खाल मत समझो। तनिक सोचो तो यदि हम शिव होतीं तो हमारे नंदी गण न होता। इतना कहने पर भी सूर कहते हैं कि काम उन्हें नहीं छोड़ता। अतः वे व्यथा से पीड़ित होकर श्याम को पुकारती हैं और कहती हैं कि हे स्वामिन् ! तुम्हारी अनुपस्थिति में कामदेव हमें तंग कर रहा है।

विशेष—(i) इस पद का मूलभाव निम्न श्लोक से लिया गया है—

जटा नेयं वेणी कृतकच कलापोन्तरलं,
गले कस्तूरीयं शिरसिशशिलेखा न कुसुमम्।
इयं भूतिर्नाङ्गे प्रिय विरह जन्मा धवलिमा,
पुराराति भ्रान्त्या कुसुमशर ! किं मां व्यथयसि॥

(ii) इस पद में अपह्नुति अलंकार है।

कोकिल ! हरि को बोल सुनाव।
मधुबन तें उपटारि स्याम कहँ या ब्रज लै कै आव॥
जाचक सरनहि देत सयाने तन, मन, धन, सब साज।
सुजस बिकात बचन के बदले, क्यों न बिसाहत आज॥
कीजै कछु उपकार परायो, यहै सयानो काज।
सूरदास प्रभु कहु या अवसर बन बन बसंत बिराज॥३२१॥

शब्दार्थ—उपटारि—उचाट कर। सरनहि—शरण में आये याचक को।

व्याख्या—वियोगावस्था में उद्दीपक कोकिल की वाणी सुनकर गोपियाँ उससे प्रार्थना करती हैं कि तुम श्रीकृष्ण के निवास-स्थान के निकट जाकर बोलो। सम्भवतः उनमें भी उत्कण्ठा का जागरण हो जाय और वे यहाँ आ जावें। हे कोकिल ! तुम अपनी स्वरमाधुरी कृष्ण को ही जाकर सुनाओ और उन्हें मथुरा से उचाट कर ब्रज में ले आओ। हम तुम्हारी शरण में आकर याचक बन गई हैं। ऐसी अवस्था में तुम्हारा यह कर्तव्य हो जाता है कि तुम सब प्रकार से हमारी रक्षा करो क्योंकि चतुर लोग याचक को अपना तन, मन, धन सब कुछ दे डालते हैं और उसकी रक्षा करते हैं। तुम्हें तो आज अपनी बोली के बदले में दुष्प्राप्य यश मिल रहा है, उसे तुम क्यों नहीं खरीद लेते ? हीरों के मूल्य की वस्तु आज कौड़ियों में मिल रही है फिर तुम ऐसा अवसर क्यों खो रही हो ? यहाँ तक बन सके परोपकार करना ही ठीक

है। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि तुम जाकर श्रीकृष्ण को बताओ कि आज वन-व
में ऋतुराज बसन्त विराजमान है।

विशेष—प्रस्तुत पद में गोपियों ने कोकिल के सामने जो याचना प्रस्तुत की है वह वस्तुतः अत्यधिक मर्मस्पर्शी है।

कहाँ रह्यो, माई ! नंद को मोहन।
यह मूरति जिय तें नहिं बिसरति गयो सकल-जग-सोहन॥
कान्ह बिना गोसुत को चारे, को ल्यावै भरि दोहन ?
माखन खात संग ग्वालन के, और सखा सब गोहन॥
ज्यों-ज्यों सुरति करति हौं सखि री! त्यों त्यों अधिक मनमोहन।
सूरदास स्वामी के बिछुरे क्यों जीवहिं इन छोहन॥३२२॥

शब्दार्थ—गोहन—साथ। छोहन—क्षोभ से। सोहन—शोभा।

व्याख्या—श्रीकृष्ण को स्मरण करती हुई वियोग व्यथित गोपियाँ कहती हैं कि हाय री मैया ! नन्दनन्दन कहाँ रह रहे हैं ? हमारे चित्त से उनकी वह मनमोहक मूर्ति क्षण-भर को भी नहीं भूलती। हा ! वह सारे संसार की शोभा के केन्द्र हमें छोड़कर चले गये। अब कृष्ण के बिना इन बछड़ों को कौन चरायेगा तथा दूध दुहाकर कौन लायेगा ? हमें स्मरण हो उठता है कि वे किस प्रकार अपने ग्वाल मित्रों को साथ लेकर माखन खाते डोलते थे। कोई गोपी किसी अन्य गोपी से कहती है कि अरी सखी ! मैं जैसे-जैसे उनकी याद करती हूँ तैसे-तैसे मेरा मन और भी अधिक मोहित हो जाता है। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि श्रीकृष्ण के बिछुड़ जाने पर इन क्षोभों से पीड़ित होकर भला हम किस प्रकार जीवित रह सकेंगी ?

विशेष—गोपियों को कृष्ण की जितनी भी याद सताती है उतना ही उनका मन और भी अधिक मोहित होता जाता है, यह वस्तुतः प्रेमी हृदय का एक अनिवार्य लक्षण है।

परमचतुर सुंदर सुख-सागर तन को प्रिय प्रतिहार।
रूप-लकुट रोके रहतो, सखि ! अनुदिन नदकुमार॥
अब ता बिनु उर-भवन भयो है सिव-रिपु को सचार।
दुख आवत मन, हटक न मानत, सूनो देखि अगार॥
असु स-उसास जात अंतर तें करत न सकुच बिचार।
निसा निमेष-कपाट लगे बिनु मसि सत सत सर मार॥
यह गति मेरी भई है हरि बिनु नाहिं कछू परिहार।
सूरदास प्रभु बेगी मिलहु तुम नागर नंदकुमार॥३२३॥

शब्दार्थ—प्रतिहार—पहरेदार। रूप-लकुट—अपने सुन्दर रूप की लाठी से। सिव-रिपु—काम। हटक—मना करना। असु—प्राण। स-उसास—साँस के साथ। निमेष-कपाट—पलक रूपी किवाड़।

व्याख्या—श्रीकृष्ण वियोग में उत्पन्न संकटों पर प्रकाश डालती हुई कोई गोपी किसी दूसरी गोपी से कहती है कि हे सखी ! श्रीकृष्ण की उपस्थिति में हमें कोई दुःख नहीं था पर आज अनेक दुःख हैं। कारण यह कि परम चतुर, अत्यन्त सुख और शोभा के केन्द्र तथा विश्वविमोहन रूप की छड़ी लेकर हमारे शरीर के सुन्दर पहरेदार थे। अब उनके वियोग में इस सूने हृदय-भवन में काम का आना-जाना आरम्भ हो गया है। मन में दुःख प्रवेश कर जाता है वह किसी से भी नहीं रुकता। माने भी कैसे, घर तो सूना है। अतः उसे डर भी किसका ? हमारे तो प्राण भी अब निरंकुश हो गये। वे उच्छ्वासों के साथ निशंक होकर भीतर से निकल जाते हैं। रात्रि में पलक-कपाटों से खुले रहने के कारण चन्द्रमा सैकड़ों बाण मारता है। श्रीकृष्ण के बिना मेरी यह दशा हो गई है। इससे छुटकारा पाने की कोई तरकीब ही नहीं है। अतः सूर कहते हैं कि व्यथित गोपियाँ कृष्ण को पुकारती हुई कहती हैं कि हे चतुर रसिक नन्दकुमार ! तुम हमारे स्वामी हो। हमारी ऐसी अवस्था में तुम हमें तुरन्त आकर दर्शन दो।

विशेष—इस पद में रूपक तथा अतिशयोक्ति अलंकार है।

ऐसो सुनियत है द्वै सावन !
बहै बात फिरि फिरि सालति है, स्याम कह्यो है आवन।।
तब तौ प्रीति करी, अब लागीं अपनो कीयो पावन।
यहि दुख सखी निकसि उत जैये जितै सुनै कोउ नाँव न।।
एकहि बेर न्जो इन्ह, लागे मथुरा नेह बढ़ावन।
सूर सुरति कत होति हमारी, लागीं नीकी भावन।।३२४।।

शब्दार्थ—नीकी—अच्छी या सुन्दरी स्त्रियाँ। पावन—पा रही हैं।

व्याख्या—गोपियाँ परस्पर कह रही हैं कि सुना है कि अब की साल दो श्रावण हैं। हमें वही बात बार-बार दुःखित कर रही है कि श्रीकृष्ण ने तो आने को कहा था पर अब तक नहीं आये। हम बिना सोचे-विचारे उनसे प्रेम कर बैठीं और अब उसी का यह फल भुगत रही हैं। इस दुःख के मारे तो हम कहीं ऐसे स्थान पर पहुँच जाती जहाँ कहीं कोई हमारा नाम भी न सुन पाता तो अच्छा होता। उन्होंने तो एक ही बार में वहाँ जाकर हमें सदैव के लिए विस्मृत कर दिया और मथुरा से प्रेम बढ़ाने लगे ! सूर कहते है कि गोपियों ने कहा कि भला अब उन्हें हमारी याद क्यों आने लगी ! अब तो उन्हें हम से भी कहीं अधिक रूपवती स्त्रियाँ प्रेम करने को मिल गई हैं न।

विशेष—सूर ने एक अन्य स्थान पर भी यही बात कही है—

स्याम विनोदी रे मधुबनियाँ।
अब हरि गोकुल काहे को आवहिं चाहत नव जोबनियाँ।।

कहा होत अब के पछताने ?
खेलत खात हँसत अप-संग रहि, हम न स्याम-गुन जाने।।

समान बन गई है। सूर कहते हैं कि गोपी ने कहा कि राधा के शरीर की सम्पत्ति तो सब भगवान् कृष्ण ने हर ली तथा उसके बदले में विपत्ति दे दी है।

विशेष—इस पद में उत्प्रेक्षा, उपमा एवं परिवृत्ति अलंकार है।

> कराव रे, सारंग ! स्यामहिं सुरति कराव।
> पौढ़े होहिं जहाँ नँदनदन, ऊँची टेर सुनाव॥
> गयो ग्रीषम, पावस ऋतु आई, सब काहू चित चाव।
> उन बिनु ब्रजबासी यों सोहत ज्यों करिया बिनु नाव॥
> तेरो कह्यो मानिहै मोहन, पाँय लागि लै आव।
> अबकी बेर सूर के प्रभु को नैनन आनि दिखाव॥३२७॥

शब्दार्थ—सारंग—पपीहा। करिया—मल्लाह। कराव—कराओ।

व्याख्या—चातक से कृष्ण को मिलाने की विनम्र प्रार्थना करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे पपीहे ! तुम श्याम को हमारी याद दिला दो। जिस स्थान पर श्रीकृष्ण लेटे हों वहाँ जाकर उन्हें अपनी ऊँची पुकार सुना दो जिससे कि उन्हें ज्ञात हो जाय कि ग्रीष्म ऋतु समाप्त हो गई और वर्षा ऋतु आ गई है और फलस्वरूप सबके चित्त में उत्कंठा का जागरण हो गया है। जो दशा बिना कर्णधार के नाव की हो जाती है बिल्कुल वैसी ही दशा श्रीकृष्ण के बिना ब्रजवासियों की हो गई है। चातक ! हमें पूर्ण विश्वास है कि वे तुम्हारा कहना अवश्य मानेंगे। तुम उन्हें निहोरे करके लिवा लाओ। सूर के स्वामी कृष्ण का एक बार दर्शन और करा दो।

विशेष—दृष्टान्त अलंकार है।

> सखी री ! हरि आवैं केहि हेत ?
> वे राजा तुम ग्वाल, बुलावत यहै परेखो लेत॥
> अब सिर छत्र कनक-मनि राजै, मोरचंद नहिं भावत।
> सुनि ब्रजराज पीठि दै बैठत, जदुकुल-बिरद बुलावत॥
> द्वारपाल प्रति पौरि बिराजत, दासी सहज अपार।
> गोकुल गाय-दुहन-दुख कब लौं, सूर, सहै सुकुमार॥३२८॥

शब्दार्थ—मोरचद—मोर की चन्द्रिका। परेखो—सोच। पौरि—द्वार।

व्याख्या—श्रीकृष्ण के वर्तमान वैभव पर व्यंग्य करती हुई गोपियाँ परस्पर कह रही हैं कि अरी सखी ! कृष्ण भला अब यहाँ क्यों आने लगे ? वे राजा हैं और तुम ठहरे ग्वाल। तुम उसे बुलाने का साहस कैसे कर रही हो, हमें तो यही सोच है। तुम शायद उन्हें अब भी पहले जैसा ही जानती हो किन्तु अब तो उन्होंने सिर पर छत्र धारण कर रखा है तथा स्वर्ण और मणियों के मुकुट सजे हुए हैं। अब उन्हें अपना वह पुराना मोर-मुकुट नहीं भाता। क्या तुम्हें ज्ञात नहीं है कि अब वे पुरानी उपाधि ब्रजराज सुन कर पीठ फेर लेते हैं। वे अब तो यदुकुल सम्बन्धी उपाधियाँ कहलवाते हैं। यदि तुम्हारी वहाँ जाने की इच्छा हो तो तुम्हारे मार्ग में अनेक बाधायें हैं। उनके महल के प्रत्येक द्वार

पर द्वारपाल रहते हैं और उनके यहाँ अनेक सहस्र दासियां हैं। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि ऐसे वैभव में रहकर वे अब बहुत सुकुमार हो गये हैं। गोकुल में गायों के दुहने की पीड़ा को वे कहां तक सहन कर सकेंगे ?

विशेष—इस पद में कृष्ण की पहले की दशा से वर्तमान वैभव की तुलना बड़ी उपयुक्त बन पड़ी है। प्रेम वस्तुतः बराबर वालों में ही ठीक होता है—'सम ही सों कीजिये व्याह, वैर और प्रीति'।

परम सुखद सिसुता को नेहु।
सो जनि तजहु दूर के वासे, सुनहु, सुजान ! जानि गति येहु॥
भँवर, भुजंग, काक अरु कोकिल जनि पतियाहु चित्तं तुम देहु।
ऊधो अरु अक्रूर क्रूरकृत उपबन कुटिल किए रचि गेहु॥
मे द्वै बिनती लिखी कृपानिधि सो आदर करि लेहु।
सूरदास प्रभु क्यों न मिलहु अब तौ तन मन फागुन के मेहु॥३२६॥

शब्दार्थ—येहु—यह। फागुन के मेहु—न रहने वाला, बिना जल या जीवन वाला।

व्याख्या—कृष्ण को सम्बोधित करती हुई गोपियां कहती हैं कि हे कृष्ण ! आपको ज्ञात होना चाहिये कि बचपन का स्नेह बड़ा सुखदायी होता है। हे सुजान ! तुम इसे जानकर भी दूर चले जाने के कारण छोड़ रहे हो किन्तु यह उचित नहीं है। भ्रमर, सांप तथा काक और कोकिल की प्रेम-पद्धति को तुम मत अपनाओ। उद्धव और अक्रूर के कार्य अत्यन्त क्रूर हैं जिनके कारण घर-वन सब ऊजड़ हो गये हैं। तुम इन्हें बढ़ावा देकर हमारा सत्यानाश न करो। हम तुमसे दो प्रार्थनायें लिखित रूप में कर रही हैं, आप इन पर सावधानी से ध्यान दीजिये। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हे प्रभु ! किसी प्रकार आकर दर्शन दे दो नहीं तो तन-मन सभी निर्जीव हो जायेंगे।

विशेष—उपर्युक्त दो प्रार्थनायें ये हैं—(१) जनि तजहु दूर के बासे। (२) क्यों न मिलहु अब।

बिनु घर वह उपराग गह्यो।
ना जानौं यह राहु उमापति कित ह्वै सोच सह्यो॥
ताके बीच नीच नयनन में खंजन-रूप रह्यो।
बिरह-सिपु-बल पाय प्रगट भयो नाहिंन परत कह्यो॥
दुसह दसन-दुख दसि मनन बल परस न परत सह्यो।
मानहुं स्रवत सुधा अंतर तें, उर पर आत बह्यो॥
अब मुखससि ऐसो लागत क्यों बिन मासनहिं मह्यो।
सूरदास-हरि दान दिए बिनु सुख-प्रकास निबह्यो॥३३०॥

शब्दार्थ—घर—धड़। उपराग—ग्रहण, राहु। परस—स्पर्श। निबह्यो—नष्ट हो गया है। उमापति—शिव।

व्याख्या—विरह-व्यथित राधा की क्षीण कान्ति को देखकर गोपियां कहती हैं कि इस राहु (कामदेव) ने धड़ (अंग) न होते हुए भी उस मुखचन्द्र को डस लिया है। न जाने इस राहु ने अपने शत्रु शिव (मुख) को कहां से खोज निकाला। शायद यह उसी के मध्य नेत्रों में अंजन के रूप में पहले से ही रहता रहा है। आज विरहरूपी सागर से बल पाकर इतनी तीव्रता से प्रगट हुआ है कि कुछ कहते नहीं बनता। यह आज असह्य वेदना देकर अपने दांतों से उस मुख को कुछ ऐसा काट रहा है कि नेत्रों से आंसू प्रवाहित होने लगते हैं जिन्हें स्पर्श भी नहीं किया जा सकता। आसुओं के रूप मे मानो मुखचन्द्र का अमृत भीतर से निकल-निकलकर वक्षस्थल पर प्रवाहित हो रहा है और इस प्रकार अमृत के निकल जाने से क्षीण हुआ मुखचन्द्र मदखनरहित मट्ठे के समान सारहीन हो गया है। सूर कहते हैं कि इस प्रकार की ग्रहणावस्था मे हरि-दर्शन का दान किये बिना इसका सुखमय प्रकाश नष्ट हो गया है। भाव यह है कि यदि हरिदर्शन का दान किया जाय तो ग्रहण से छुटकारा हो जाय तथा इस मुखचन्द्र को सुखदायी प्रकाश फिर से मिल जावे।

विशेष—इस पद में ग्रहण का सागरूपक दर्शनीय है। साथ ही रूपकातिशयोक्ति तथा उत्प्रेक्षा अलंकार भी है।

गोपालहि बालक ही तें टेव।
जानति नाहिं कौन पै सीखे चोरी के छल-छेव॥
माखन-दूध धरयो, जब खाते सहि रहती करि कानि।
अब क्यों सही परति, सुनि सजनी! मनमानिक की हानि॥
कहियो, मधुप! संदेस स्याम सों राजनीति समुझाय।
अजहुं तजत नाहिं वा लोभै, जुगुत नहीं जदुराय॥
बुधि बिबेक सरबस या ब्रज को लै जो रहे मुसकाय।
सूरदास प्रभु के गुन अवगुन कहिए कासों जाय॥३३१॥

शब्दार्थ—जुगुत—उचित। टेव—आदत। छेव—दावपेंच।

व्याख्या—कृष्ण द्वारा मन चुरा लेने की शिकायत उद्धव से करती हुई गोपियां कहती हैं कि चोरी करना तो गोपाल की बचपन की आदत है। न मालूम ये चोरी के दावपेंच किससे सीखे हैं? पहले तो ये माखन और दूध ही चुराया करते थे और हम उनकी इस चोरी को सहन कर लिया करती थीं किन्तु हे सखी! अब जब ये मनरूपी मणि चुराने लग गये तो हम इतनी बड़ी क्षति कैसे सहन कर सकती हैं? हे मधुप! श्याम से हमारा संदेश राजनीति को समझाकर कह देना कि तुम यदुराज होकर भी अपनी पुरानी आदत नहीं छोड़ते। अब तुम ब्रजवासियों के बुद्धि-विवेकादि सर्वस्व को चुराकर उन्हें चकमा देकर मुस्करा रहे हो। हे मधुप! तुम्हीं बताओ हम प्रभु के गुण-

अवगुणों की शिकायत किससे जाकर करें ?

विशेष—(i) इस पद में रूपक अलंकार है।

(ii) जब राजा ही चोरी करने लगे तो न्याय के लिए किसके पास जावे ? ठीक ही है—"राजा ह्वै चोरी करे न्याय कौन पै जाय।"

> जदपि मैं बहुतै जतन करे।
> तदपि-मधुप ! हरि-प्रिया जानि कै काहु न प्रान हरे॥
> सौरभ-युत सुमनन लै निज कर संतत सेज धरे।
> सनमुख होति सरद-ससि, सजनी ! तऊ न अंग जरे॥
> चातक, मोर, कोकिला मधुकर सुर सुनि स्रवन भरे।
> सादर ह्वै निरखति रतिपति को नेंक न पलक परे॥
> निसिदिन रटति नँदनंदन, या उर तें छिन न टरे।
> अति आतुर चतुरंग चमू सजि अनंग न सर सँचरे॥
> जानति नाहिं कौन गुन या तन जातें सबै डरे।
> सूरदास सकुचन श्रीपति के सुभटन बल बिसरे॥३३२॥

शब्दार्थ—सँचरे—चलाये। रतिपति—कामदेव। चमू—सेना। अनंग—कामदेव।

व्याख्या—राधा उद्धव से कह रही है कि मैंने बड़े-बड़े उपाय किये कि मेरा मरण हो जाय किन्तु मैं अपने इस कार्य में सफल नहीं हुई। हे मधुप ! मुझे हरि की प्रियतमा समझकर किसी ने मेरे प्राण ही नहीं लिये। उन्हीं उपायों की चर्चा करती हुई वे कहती हैं कि मैंने अपने हाथों से सुगन्धित पुष्पों को अपनी शय्या पर रखा था। अब वह अपनी सखी से कह रही है कि हे सखी ! शरद काल के चन्द्रमा से मेरे अंग नहीं जले। चातक, मयूर, कोकिल और भ्रमर की स्वर-माधुरी को मैंने अनेक बार अपने कानों में उँडेला तथा अपलक नेत्रों से सावधानी के साथ कामदेव के प्रहारों को परखती रही किन्तु फल तब भी कुछ न निकला। शायद इसका कारण यही रहा कि मैं रात-दिन नन्दनन्दन को रटती रही। वे इस हृदय से क्षणभर को भी पृथक् न हो सके। इसीलिए यद्यपि कामदेव ने आतुरता के साथ अपनी चतुरंगिनी सेना सजाकर मेरे ऊपर चढ़ाई की आयोजना कर दी किन्तु वह एक बाण भी न चला सका। मुझे नहीं मालूम कि इस शरीर में ऐसी कौनसी विशेषता है जिससे सब डरते हैं। सूर कहते हैं कि राधा ने कहा कि मेरी समझ में तो इसका बस एक ही कारण आता है कि बड़े-बड़े भारी योद्धा श्रीकृष्ण के भय से ही मेरा कुछ न कर सके।

विशेष—(i) इस पद में काव्यलिंग अलंकार है।

(ii) इस पद का मूलभाव अर्जुन के निम्न श्लोक से लिया गया है—

> [illegible]
> [illegible]

दावप्रेम्णा सरसबिसनीपत्रमात्रोत्तरीयः,
ताम्यन्मूर्तिः श्रयतिबहुशो मृत्यवेचन्द्र पादान्॥

माधव सों न बनें मुख मोरे।
जिन्ह नयनन्ह ससि स्याम बिलोक्यो तें क्यों जात तरनि सों जोरे?
मुनि-मन-रमन ये जोग, कमठ तन मंदर-भार सहै क्यों भोरे!
तरुनी-हृदय-कुमुद के बंधन कुंजर क्यों न रहत बिनु तोरे॥
नीलांबर-घनस्याम नीलमनि पंयत है क्यों धूम के भोरे।
सूर भृंग कमलन के बिरही चंपक मन लागत कहुँ थोरे॥३३३॥

शब्दार्थ—तरनि—सूर्य। क्यों—कैसे। भोरे—धोखे में। कुंजर—हाथी।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हमारा कार्य माधव से मुख मोड़कर नहीं चल सकता। जिन नेत्रों ने चन्द्र के समान आह्लादकारी श्रीकृष्ण का दर्शन किया है वे न सूर्य से किस प्रकार मिलाये जा सकते हैं? योग तो मुनियों के मन में रहा करता है। भला मोथो मन्दराचल के भार को कछुए के शरीर के अलावा भला और कौन सहन कर सकता है? तरुणियों के हृदय के कुमुद जैसे सुकुमार बन्धनों को हाथी बिना तोड़े कैसे रहेगा? घनश्याम और धूम्र में वर्णसाम्य है किन्तु घनश्याम के स्थान पर धुएँ से मिलकर श्याम के भक्तों को सन्तोष नहीं हो सकता। सूर कहते हैं कि गोपियों ने उद्धव से कहा कि कमल से प्रेम करने वाले भौंरों का मन चंपक के पुष्पों पर नहीं बहल सकता।

विशेष—इस पद में निदर्शना अलंकार की छटा दृष्टव्य है।

और सकल अंगन तें, ऊधो! अँखियाँ अधिक दुखारी।
अतिहिं पिरानि, सिरानि न कबहूँ, बहुत जतन करि हारी॥
एकटक रहति, निमेष न लावति, बिथा बिकल भइ भारी।
भरि गईं बिरह-बाय बिनु दरसन चितवति रहति उघारी॥
रे रे अलि! गुरु ज्ञान सलाकहिं क्यों सहि सकति तुम्हारी।
सूर सुअंजन आनु रूप-रस आरति हरन हमारी॥३३४॥

शब्दार्थ—उघारी—खुली। सलाका—सलाई। आरति—दुःख।

व्याख्या—अपने नेत्रों की व्याकुलता की कथा कोई गोपी उद्धव से कह रही है कि हे ऊधो! मेरे सारे अंगों में नेत्र ही सबसे अधिक दुखी हैं। मैंने अनेक उपाय किये परन्तु ये नेत्र बहुत व्यथित रहते हैं। इनका सन्ताप कभी भी शान्त नहीं होता है। ये सदा निर्निमेष रूप में व्यथा से अत्यन्त व्याकुल रहते हैं। श्रीकृष्ण के दर्शनों के अभाव में ये विरह की वायु से भर गये हैं और क्रमशः वे खुले रह गये हैं और निर्निमेष देखते रहते हैं। अरे भौंरे! ये व्यथित नेत्र . की सलाका को कैसे सहन कर सकते हैं? सर ारे नेत्रों की

अथवा हरण करने वाले श्रीकृष्ण के रूप रूपी अंजन को लाकर दे दो जिससे ये शीतल हो जायें।

विशेष—दर्शन हरण की ही संज्ञा से अच्छा होगा,
आयो पहलू में जो बराएर-ममीहाई है।

भूलति हो कत मीठी बातन।
ये अलि हैं उन ही के संगी, चंचल चित, साँवरे गातन॥
वे मुरली धुनि कै जग मोहत, इनकी गुंज सुमन-मन पातन।
वे उठि प्रात आन मन रंजत, ये उड़ि अनत रंग-रस-रातन॥
वे नवतनु मानिनि-गृह-वासी, ये निसिदिवस रहत जलजातन।
ये षटपद, वे द्विपद चतुर्भुज, इनमें नाहिं भेद कोउ भाँतन॥
स्वारथ-निपुन सर्वरस-भोगी जाने पतियाहु विरह-दुख-दातन।
ये माधव, ये मधुप, सूर सुनि, इन दोउन कोऊ घटि घाट न॥३३५॥

शब्दार्थ—मन पातन—मन आकर्षित करने वाले। दुख-दातन—दुख देने वाले। घटि घाट—घट कर।

व्याख्या—कोई गोपी अन्य गोपियों से कहती है कि अरी तुम इनकी चिकनी-चुपड़ी बातों के भुलावे में मत आओ। ये भ्रमर महाशय उन्हीं के साथी हैं। देखते नहीं ये वैसे ही चंचल चित्त और श्यामल शरीर हैं। वे मुरली के नाद से संसार को अपने वश में करते हैं और ये भ्रमर महाशय अपने मधुर गुंजन से पुष्पों का मन हरते हैं। वे नित्य उठकर दूसरों के मन को प्रसन्न करते हैं तथा ये उड़कर अन्यत्र रंगरेलियां करते हैं। वे नयी नवेली मानिनियों के घर में रहते हैं तो ये दिन-रात कमलों में रहते हैं। इनके छः पैर हैं तो कृष्ण के भी दो पैर और चार भुजायें मिलकर छः हो जाते हैं। इन दोनों में इस प्रकार किसी प्रकार का भी भेद नहीं है। दोनों ही अपनी स्वार्थसिद्धि में बड़े चतुर हैं। सभी के साथ रंगरेलियां करके आनन्द उड़ाते हैं। विरह में तड़पाने वाले इन दोनों का तनिक भी विश्वास मत करो। सूर कहते हैं कि गोपी ने कहा कि वे माधव और ये मधुप दोनों में कोई भी किसी से कम नहीं है।

विशेष—यहां दो अनुरूप वस्तुओं का सम्बन्ध है अतः सम अलंकार है।

हरि सों कहियो, हो, जैसे गोकुल आवैं।
दिन दस रहे सो भली कीन्हीं, अब जनि गहरु लगावैं॥
नाहिन कछू सुहात तुमहिं बिनु, कानन भवन न भावैं।
देखे जात आपनी आँखिन्ह हम कहि कहा जनावैं?
बाल बिलख, मुख गउ न चरति तृन, बछरा पीवत पय नहिं धावैं।
सूर स्याम बिनु रटत रैनि दिन, मिलेहिं भले सचु पावैं॥३३६॥

शब्दार्थ—गहरु—विलम्ब। सचु—सुख। जनावैं—बतावैं।

व्याख्या—गोपियां उद्धव से निवेदन करती हुई कहती है कि हे ऊधो ! श्रीकृष्ण से जाकर कह देना कि जैसे भी बने गोकुल चले आवे । दस दिन अर्थात् कुछ दिन वहा रह लिये, अच्छा किया। परन्तु अब देर न लगाओ। तुम्हारे बिना हमें कुछ भी अच्छा नहीं लगता। न तो हमें घर ही सुहाता है और न वन ही अच्छा लगता है। यह सब तो तुम अपनी आखों से देख रहे हो। हम अपने मुख से इस बात का कथन क्या करें ? तुम तो स्पष्ट देख रहे हो कि ये बच्चे बिलख रहे हैं, गाएँ मुह से घास नही चरती और बछड़े दूध पीने के लिए नही दौड़ते। सूर कहते है कि गोपियों ने उद्धव से कहा कि कृष्ण के बिना हम सब रात-दिन विलाप करती फिरती है। ऐसी अवस्था में उनके दर्शन से ही सुख प्राप्त हो सकता है।

विशेष—(i) इस पद मे अतिशयोक्ति अलकार है।

(ii) इसी भाव का एक पद पहले भी आ चुका है—'ऊधो ! तुम कहियो ऐसे गोकुल आवें'।

सखी री ! मथुरा में द्वै हंस।
एक अक्रूर और ये ऊधो, जानत नीके गंस॥
ये दोउ छीर नीर पहिचानत, इनहि बधायो कंस।
इनके कुल ऐसी चलि आई, सदा उजागर बंस॥
अजहूं कृपा करो मधुबन पर जानि आपनो अंस।
सूर सुयोग सिखावत अबलन्ह, सुनत होय मन भ्रंस ॥३३७॥

शब्दार्थ—गंस—गाँठ, मन की कुटिलता। मन भ्रंस—व्याकुलता। हं[illegible]—परमहंस, ब्रह्मज्ञानी।

व्याख्या—उद्धव की हँसी उड़ाती हुई कोई गोपी अन्य गोपियो से कह रही है कि हे सखी ! मथुरा मे दो हंस है एक तो अक्रूर तथा दूसरे ये उद्धव। दोनों ही मन के गंसों को भली भांति पहचानने वाले हैं। क्षीर-नीर विवेक मे भी ये दोनों बहुत निपुण हैं। इन्होने ही कंस को मरवाया है। यह इनके कुल की तो परम्परा बन गई है। इनका वंश सदा से ही इसके लिए प्रसिद्ध है। महाराज ! मथुरा पर तो कृपा करो। वहां भी आखिर तुम्हारा ही वंश है। सूर कहते हैं कि गोपी ने वहा कि [illegible] ! देखा तुमने, ये अबलाओं को योग की पाटी पढ़ाने आये है। भला इनके इस योगोपदेश को सुन कर ऐसा कौन होगा जिसका मन खिन्न न हो।

विशेष—इस पद मे काकु वक्रोक्ति अलकार है।

बारक कान्ह करो किन फेरो ?
बरसन द्वै मधुबन को सिधारो, सुख इतनो बहुतेरो॥
भलेहिं मिले बसुदेव देवकी जननि जनक निज कुटुंब घनेरो।
केहि अवलंब रहैं हम ऊधो ! देखि दुःख नंद-जसुमति केरो॥

तुम बिनु को अनाथ-प्रतिपालन, जाजरि नाव कुसंग सबेरौं।
गए सिंधु को पार उतारै, अब यह सूर थक्यो ब्रज-बेरौ ॥३३८॥

शब्दार्थ—जाजरि—जर्जर, जीर्ण । सबेरौं—सब । गए—श्रीकृष्ण के चले जाने पर।

व्याख्या—विरह-व्यथित गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि श्रीकृष्ण इधर एक बार भी क्यों नहीं आ जाते ? हमें दर्शन देकर आप शौक से फिर मथुरा चले जाना। हमारे लिए इतना ही सुख पर्याप्त होगा। श्याम यहाँ से जाकर वहाँ अपने माँ-बाप देवकी और वसुदेव तथा अन्य बहुत से परिवार के लोगों से मिल गये। यह तो चलो ठीक हुआ किन्तु यह तो बताओ, हे ऊधो, कि नन्द और यशोदा के दुःख को कैसे सहन करें ? इन अनाथों का हे श्रीकृष्ण, तुम्हारे बिना है ही कौन ? हमारी यह नाव जर्जर हो गई है और सब के सब यहाँ कुसंग ही हैं। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि तुम्हारे चले जाने पर हमे दुःख सागर से कौन पार उतारेगा ? यह ब्रज का बेड़ा बहुत शिथिल है।

विशेष—मथुरा से एक बार तनिक आकर भी कृष्ण यदि दर्शन दे दें तो बेचारी गोपियों का मन कुछ सन्तोष तो प्राप्त कर ही लेगा !

मानौ ढरे एक ही साँचे ।
नखसिख कमल-नयन की सोभा एक भृगुलता-बाँचे ॥
दारुजात कैसे गुन इनमें, ऊपर अतर स्याम ।
हमको धूम गंयद बतावत, बचन कहत निरभाम ॥
ये सब असित देह धरे जेते ऐसेई, सखि ! जानि ।
सूर एक ते एक आगरे वा मथुरा की खानि ॥३३९॥

शब्दार्थ—कैसे—समान । आगरे—बढ़ कर । भृगुलता-बाँचे—भृगु की लात के चिन्ह छोड़कर । दारुजात—भौंरा । धूम गयंद—धूएँ का हाथी, धोखे की वस्तु अर्थात् निर्गुण ब्रह्म ।

व्याख्या—गोपियाँ व्यंग्य करती हुई उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव ! कृष्ण और तुम दोनों एक ही साँचे में ढालकर बनाये गये हो। एक भृगु की लात के चिन्ह के अतिरिक्त और सारे गुण तुम में हैं। तुम दोनों में ही भौंरे के समान गुण विद्यमान हैं। भौंरे के समान तुम लोग तन के ही काले नहीं हो अपितु दोनों हृदय से भी उसी के समान काले हो। दोनों ही हमें निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देते हैं जो कोरी बकवास है तथा स्पष्ट धोखा है। अपनी किसी सखी से गोपियाँ कहती हैं कि हे सखी ! ये सब जितने भी काले शरीर वाले हैं उन्हें तू ऐसा ही समझ। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि मथुरा में इन कालों की खान है। वहाँ एक से एक बढ़ कर है।

विशेष—इस पद में उत्प्रेक्षा अलंकार है।

बातें कहत सयाने की सी।
कपट तिहारो प्रगट बेखियत ज्यों जल नाए सीसी॥
हों तो कहत तिहारे हित की काहे को तू भरमत।
हमहूँ मया तिहारी हैं कछु, थोरी सी है मैमत॥
छाय बसाय गए सुफलकसुत नेकहु लागो बार न।
सूर कृपा करि श्राए ऊधो तापै ढेवा ढारन॥३४०॥

शब्दार्थ—मैमत—ममता, स्नेह। ढेवा—लेप। भरमत—भ्रम मे फँसा हुआ है।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे ऊधो! बात तो तुम चतुर मनुष्यो की भाँति करते हो। तुम्हारा इस प्रकार का कपटपूर्ण व्यवहार स्पष्ट रूप से वैसा ही थोथा ज्ञात हो रहा है जैसा कि जल मे शीशी डालने पर बुलबुले उठते हैं और स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि शीशी खाली है। हे उद्धव! हम तो ये सारी बातें तुम्हारी भलाई के लिए ही कह रही हैं पर तुम भ्रम मे फँसे हुए हो। आखिर हमे भी तो तुम्हारा कुछ माया-मोह है। पहले तो यहाँ अक्रूर जी महाराज आये और अपनी करतूतों की झोंपड़ी छा दी और अब हे उद्धव! तुम उस झोंपड़ी की दीवाल उठाने के हेतु मिट्टी की एक लेप और ले आये हो।

विशेष—इस पद मे उत्प्रेक्षा अलंकार है।

आए नंदनदन के नेव।
गोकुल आय जोग बिस्तारयो, भली तुम्हारी टेव॥
जब बृंदाबन रास रच्यो हरि, तबहिं कहाँ तू हेव।
अब जुवतिन को जोग सिखावत, भस्म अधारी सेव॥
हम लगि तुम क्यों यह मत ठाग्यो ज्यों जोगिन को भोग।
सूरदास प्रभु सुनत अधिक दुख, आतुर बिरह-बियोग॥३४१॥

शब्दार्थ—नेव—नायब, मन्त्री। हेव— तू था। सेव—सेवन।

व्याख्या—उद्धव को ताना देती हुई गोपियाँ परस्पर कह रही हैं कि उद्धव जी कृष्ण के मन्त्री बनकर यहाँ आये हैं। गोकुल आकर उन्होंने जो योग की चर्चा फैलायी है, वह भी एक विचित्र बात है। हे उद्धव! उस समय तुम कहाँ थे जब कृष्ण ने वृन्दावन में हमारे साथ रास-लीलायें की थी। हटो यहाँ से अब तो तुम हमसे भस्म और अधारी के सेवन को कह रहे हो, तुम हमे जोग की शिक्षा दे रहे हो। तुमने हमारे सामने यह दुष्कर मत क्यों फैलाया है? यह तो हमारे लिए ऐसा ही है जैसा जोगियों के लिए भोग। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हे उद्धव! हमे यह चर्चा सुनकर अधिक दुःख हो रहा है। इसे सुनकर तो हम वियोग की वेदना से और भी व्याकुल हो जाती हैं।

विशेष—इस पद में उपमा अलंकार है।

मनौ दोउ एकहि मते भए।
ऊधो अरु अक्रूर बधिक दोउ ब्रज आखेट ठए॥
बचन-पास बाँधे माधव-मृग, उनरत घालि लए।
इनहीं हती मृगी-गोपीजन सायक-ज्ञान हए॥
बिरह-ताप को दवा देखियत चहुँ दिसि लाय दए।
अबधौं कहा कियो चाहत हैं, सोचत नाहिन ए॥
परमारथी ज्ञान उपदेसत बिरहिन प्रेम-रए।
कैसे जियहि स्याम बिनु सूरज चुंबक मेघ भए॥३४२॥

शब्दार्थ—पास—पाश। सायक—बाण। दवा—दावानल। ठए—ठाना। *उनरत—उछलते हुए। परमारथी ज्ञान—ब्रह्मज्ञान। रए—रगे।*

व्याख्या—गोपियाँ व्यंग्य करती हुई उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव! तुम्हारी और *अक्रूर की दोनों की सलाह एक-सी ही है। तुम दोनों बहेलिये हो और तुम दोनों ने* परस्पर मन्त्रणा करके ब्रज में शिकार की ठान ली है। तुम दोनों ने ही अपनी बातों के *जाल में माधव रूपी मृग को फँसा लिया है और उसके उछलते ही उस पर चोट कर दी* है। तुम्हीं ने ज्ञान के बाणों की चोट से गोपी रूपी हिरणियों को मारा है। तुम्हारी ही *लगायी हुई विरह की तापाग्नि रूपी दावानल चारों ओर दृष्टिगोचर हो रही है। किन्तु* इतने पर भी आप लोगों को सन्तोष नहीं है। न जाने अब आप और क्या करना चाहते *हैं। आपको किसी बात का सोच तो है नहीं इसीलिए निर्भय रूप अत्याचार करने के* आदी बने हुए हो। आप अपने उल्टे ढंग तो देखो। आप प्रेम में रंगे हुओं को ज्ञानोपदेश *दे रहे हैं। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हम बिना श्याम के कैसे जी सकती हैं?* क्या मेघों के नष्ट हो जाने से चातक जीवित रह सकता है?

विशेष—(i) अन्तिम पंक्ति में चुम्बक के स्थान पर चातक करने से ही अर्थ स्पष्ट होता है।

(ii) इस पद में रूपक एवं निदर्शना अलंकार है।

(iii) लै गये अक्रूर क्रूर तब सुख सूर कान्ह।
आये तुम आज प्रान ब्याज उगहन को॥ (रत्नाकर)

या ब्रज सगुन-दीप परगास्यो।
सुनि ऊधो! भृकुटी त्रिवेनी तर निसिदिन प्रगट अभास्यो॥
सब के उर-सरवनि सनेह भरि सुमन तिली को बास्यो।
गुन अनेक ते गुन कपूर सम परिमल बारह मास्यो॥
बिरह-अगिनि अंगन सब के, नहिं बुझत परे चौमास्यो।
ताके तीन फुंकैया हरि से, तुम से, पंचसरा स्यो॥
प्रान-भजन तुन सम परिहरि सब करती जोत उपास्यो।
साधन भोग निरंजन तें रे अंधकार सम नास्यो॥

जा दिन भयो तिहारो आवन बोलत हौ उपहास्यो।
रहि न सके तुम, सींक रूप ह्वै निगुन काठ उकास्यो।।
बाढ़ी जोति सो केस-देस लौं, टूट्यो ज्ञान-मवास्यो।
दुरबासना-सलभ सब जारे जे छे रहे अकास्यो।।
तुम हो निपट निकट के बासी, सुनियत हुते खवास्यो।
गोकुल कछु रस-रीति न जानत, देखत नाहिं तमास्यो।।
सूर, करम की खीर परोसी, फिरि फिरि चरत जवास्यो।।२४३।।

शब्दार्थ—प्रभास्यो—प्रकाशित हुआ। सुमन—सुगंधित तेल। रहि—न ठहरे। निरंजन—निर्लिप्त। त्रिवेदी—त्रिपाई, चौकी। उर-सरवनि—हृदय रूपी शराव या पात्र। गुन—धागा, बत्ती। चोमास्यो—चौमासे या वर्षा में। फूंकैया—फूंककर आग दहकाने वाले। पचसरा—कामदेव। उकास्यो—उकसाया। केस देस—ब्रह्मांड, मस्तक। मवास्यो—गढ़, किला। खवास्यो—मन्त्री।

व्याख्या—व्रज में निर्गुण के लिए कोई स्थान न बताती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे ऊधो ! इस व्रज में तो सगुणभक्ति के दीपक प्रकाशित हो रहे हैं। हमारी भृकुटि की तिपाई पर दिन-रात इसी का प्रकाश चमकता रहता है। यहाँ सभी के हृदय रूपी शरावों अर्थात् सकोरों में स्नेह रूपी तिली का सुगन्धित तेल भरा है। प्रियतम के अनेक गुण इस दीप की बत्ती के समान हैं जिसके जलने से सदा कपूर की-सी सुगन्ध चारों ओर फैल रही है। भाग्य की बात है कि अब सबके अंगों में विरह की अग्नि ऐसी लगी है कि वर्षाकाल के आगमन पर भी यह नहीं बुझती। इस आग को फूंक-फूंककर तीव्र करने वाले तुम तीन व्यक्ति हो—कृष्ण, कामदेव और आप। भला जब आप तीव्र फूंक मारने वाले हैं तो फिर यह बुझ भी कैसे सकती है ? अन्य सब भजनों को तिनके के समान तुच्छ समझ कर हमने छोड़ दिया और इसी सगुण दीप की ज्योति की उपासना की। हमने निर्लिप्त भोगों के साधन से अन्तस के अन्धकार को नष्ट कर दिया। जब से आपने यहाँ आकर अपने उपहासास्पद प्रवचन का प्रारम्भ किया है उसी दिन से यह ज्योति और भी तीव्र हो गई है। निर्गुण के लिए प्रेरणा देने वाले आप उस दीपक के लिए उकसाने वाले बन गये हैं जिससे बत्ती ऊपर को बढ़ गई है। वह इतनी ऊपर बढ़ी कि सिर तक पहुँच गई जिससे मस्तिष्क का ज्ञान-गढ़ भस्मसात हो गया। इसकी इस प्रचण्ड लौ से गगन में आच्छादित दुर्वासना रूपी पतंगे नष्ट हो गये। भाव यह है कि तुम्हारे उपदेशों ने हमारे प्रेम को वासनाओं से मुक्ति दिलाकर शुद्ध बना दिया है। आप तो उनके बिल्कुल निकट के रहने वाले हैं। सुना है आप तो उन महाराज (कृष्ण) के मन्त्री हैं। फिर भी आपने गोकुल की प्रेममार्गीय पद्धति को न पहचाना। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हे ऊधो ! तुम भाग्यहीन हो। पता नहीं कि किन पुण्यों के बल से तुम्हें खीर परसी हुई मिली पर तुम बार-बार जवासे चरने के लिए लपकते रहते हो। भाव यह कि तुम्हें कृष्ण का सान्निध्य तथा गोकुलवासियों का सम्पर्क प्राप्त हुआ। यदि तुम चाहते तो आनन्ददायक भक्ति-पथ को ग्रहण करके अपने जीवन को सफल बना लेते। परन्तु नहीं

तुम तो बार-बार पीके निर्गुण पर ही मुग्ध हुए जा रहे हो।

विशेष—रूपक एवं विभावना अलंकार की छटा देखते ही बनती है। रूपक तो सूरदास जी राजा कहे जा सकते हैं।

> सब जल तजे प्रेम के नाते।
> तऊ स्वाति चातक नहिं छाँड़त प्रकट पुकारत ताते॥
> समुझत मीन नीर की बातें तऊ प्रान हठि हारत।
> सुनत कुरंग नादरस पूरन, जदपि ब्याध सर मारत॥
> निमिष चकोर नयन नहिं लावत, ससि जोवत जुग बीते।
> कोटि पतंग जोति वपु जारें, भए न प्रेम-घट रीते॥
> अब लौं नहिं बिसरीं वे बातें संग जो करीं ब्रजराज।
> सुनि ऊधो! हम सूर स्याम को छाँड़ि देहिं केहि काज?॥३४४॥

शब्दार्थ—रीते—खाली। ताते—उसको। कुरंग—हिरण। जोवत—निहारते हुए।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हम प्रेम-पथ को छोड़कर प्रेम के देवता का अपमान नहीं कर सकतीं। देखो, चातक अपने प्रेम की एकाग्रता के कारण सब जलों को त्याग देता है और स्वाति के जल के लिए ही मरता रहता है। वह रात-दिन उसी को पुकारता रहता है। मीन जल की उदासीनता को समझती हुई भी अपने को उसी पर बलिदान किये रहती है। उसके विछोह में वह अपने प्राणों को त्याग देती है। हिरण बाजे की स्वरमाधुरी से मतवाला हो जाता है यद्यपि उसी दशा में शिकारी उसे बाणों से मार डालता है। चकोर चन्द्रमा से प्रेम करता है और युगों से निर्निमेष उसी की ओर देखता रहता है यद्यपि चन्द्रमा ने उसके प्रेम की महिमा आज तक नहीं पहचानी। असंख्य पतंगों ने दीपक की प्रेम-वेदी पर अपने आपको बलिदान कर दिया और उनके प्रेम-घट आज तक भी खाली नहीं हुए। प्रियतम की कठोरता उसके प्रेम को शिथिल न कर सकी। सूर कहते हैं कि गोपियों ने उद्धव से कहा कि श्रीकृष्ण ने यहाँ रह कर जो वार्तालाप हम से किया था उसे हम आज तक नहीं भूलीं। तुम्हीं बताओ हम श्याम को क्यों त्याग दें? क्या हम इन कीट-पतंगों-जैसी भी नहीं हैं। जब ये ही विरह के संकट से घबड़ा कर अपने प्रेम का परित्याग नहीं करते तो फिर हम ही कैसे कर दें?

विशेष—प्रस्तुत पद में चातक, मीन, मृग, चकोर तथा पतंगे का एक ही धर्म बताया गया है अतः यहाँ तुल्ययोगिता अलंकार है।

> ऊधो! मन की मन ही माँझ रही।
> कहिए जाय कौन सों, ऊधो! नाहिंन परति सही॥
> अवधि अधार आवनहि की तन, मन हो बिथा सही।
> चाहति हुती गुहार जहाँ तें तंहहि तें धार बही॥

अब यह दसा देखि निज नयनन सब मरजाद बही।
सूरदास प्रभु के बिछुरे तें दुसह बियोग-दही ॥३४५॥

शब्दार्थ—धार बही—तलवार चली। गुहार—रक्षा के लिए दौड़ना। देखि—तू देख।

व्याख्या—प्रेम के कष्टों को अवर्णनीय बताती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे उद्धव! हमारी व्यथा मन की मन में ही रही है। यद्यपि यह हमसे नहीं सही जाती किन्तु हम इसका वर्णन भी किसके सामने करें? अपने प्रियतम के आगमन की अवधि के आश्रय से ही हम इन दैहिक और मानसिक सन्तापों को सहन करती रही हैं। आश्चर्य की बात तो यह हुई कि जहाँ से हम रक्षा की आशा करती थीं वहीं से संकट की धारा बह निकली। हे उद्धव! आज तुम अपने ही नेत्रों से यहाँ की दशा देख रहे हो। व्यथा ने उमड़कर सारी सीमाओं को ढा दिया है और अब यह असीमित बन गई है। अब सूर के स्वामी कृष्ण के चले जाने से हम दुःसह विरह में जल रही हैं।

विशेष—गोपियाँ अपने मन की व्यथा को अपने मन में ही छिपाये हुए हैं। रहीम के मतानुसार उन्होंने ठीक ही किया है—

रहिमन निज मन की व्यथा, मन ही राखो गोय।
सुनि अठिलैहें लोग सब बाँटि न लैहे कोय॥

वस्तुतः मन की व्यथा को सहन करके मुस्कराते रहना बड़ा कठिन है—

हम अपना राजे मुहब्बत छिपाये जाते हैं।
बला का ग़म है मगर मुस्कराये जाते हैं॥

स्याम को यहै परेखो आवै।
कत वह प्रीति चरन जावक कृत, अब कुब्जा मन भावै॥
तब कत पानि धरयो गोबर्धन, कत ब्रजपतिहि छुड़ावै?
कत वह बेनु अधर मोहन धरि लै लै नाम बुलावै?
तब कत लाड़ लड़ाय लड़ैते हँसि हँसि कंठ लगावै?
अब वह रूप अनूप कृपा करि नयनन हू न दिखावै।
जिन मुख-संग समीप रैनि-दिन सोई अब जोग सिखावै॥
जिन मुख बए अमृत रसना भरि सो कैसे बिष प्यावै?
कर मीड़ति पछताति हियो भरि, कम कम मन समुझावै।
सूरदास यहि भाँति बियोगिनी तातें अति दुख पावै॥३४६॥

शब्दार्थ—परेखो आवै—ख्याल आता। कृत—किया। रैनि—रात।

व्याख्या—गोपियाँ कृष्ण की निष्ठुरता पर प्रकाश डालती हुई उद्धव से कहती हैं कि हमें तो श्याम का यही सोच आता है कि कहाँ तो उन्होंने यहाँ रहकर हमसे इतना प्रेम किया था कि अपने हाथों से हमारे पाँवों में महावर लगाते थे और कहाँ अब कुब्जा ही मन भायी है कि हमें बिल्कुल ही विस्मृत कर दिया। वे तो ब्रजपति कहलाते हैं,

यदि उन्हें अपनी इस गंगा को स्थिर नहीं रखना था तो फिर गोवर्धन पहाड़ को उठा कर इस ब्रज की रक्षा उन्होंने क्यों की थी ? उस समय मुरली अधरों पर रखकर बजा-बजाकर वे नाम ले-लेकर क्यों पुकारा करते थे ? उस समय तो यहाँ रह कर हमारे साथ इतना लाड़ प्यार करते थे और अब इन नैनों को अपना वह अनुपम दिखाने तक नहीं। रात-दिन जिस मुख से प्रेम की बातें करते थे उसीसे आज योग का उपदेश दे रहे हैं। जिस मुख ने हमारी रसनाओं को मधुर का आस्वादन कराया वही आज विष का काम क्यों कर रहे हैं ? सूर कहते हैं कि गोपियाँ हाथ मल-मलकर पछताती हैं और धीरे-धीरे अपने मन को समझाती हैं किन्तु इससे वे वियोग से और भी सन्तप्त हो जाती हैं।

विशेष—इस पद में प्रतिवस्तूपमा अलंकार है।

सखी री ! मो मन धोखे जात।
ऊधो कहत, रहत हरि मधुपुरि, गत आगत न थकात॥
इत देखौ तौ आवे मधुकर मत्त-ज्यौं बतरात।
फिरि चाहौं तौ माननाथ उत सुनत कथा मुसकात॥
हरि साँचे आनौ सब झूठे जे निर्गुन-जस गात।
सूरदास जेहि सब जग बहकयो तें इनको बहकात॥३४७॥

शब्दार्थ—गत-आगत—आतेजाते। बतरात—बड़बड़ाना। फिरि चाहौं—फिरकर जो मथुरा की ओर देखती हूँ। जस—यश। बहकयो—ठगा।

व्याख्या—निर्गुणोपदेश की हँसी उड़ाती हुई कोई गोपी अपनी सखी से कहती है कि अरी सखी ! मेरा मन यों ही धोखे से उस मथुरा की ओर चला जाता है। वहाँ पर ऊधो के कहने के अनुसार हरि रहते हैं। वहाँ से यह मन फिर इधर आ जाता है। और इस प्रकार आते-जाते यह थकता नहीं है। इधर आकर देखने पर तो ये मधुकर महाराय पागलों की भाँति बड़बड़ाते दीखते हैं और जब उधर देखते हैं तो दिखाई देता है कि श्रीकृष्ण इनके भाषण को सुनकर मुस्करा रहे हैं। वास्तविकता यह है कि केवल हरि ही सत्य हैं और निर्गुण के यशोगान करने वाले सब झूठे हैं। सूर कहते हैं कि गोपी ने कहा कि जिस मायावी ने इस संसार को ठगा है वही इन्हें भी बहका रहे हैं।

विशेष—वस्तुतः कृष्ण ने बहकाकर ही ऊधो को गोपियों के पास भेजा है। वे तो इनका ज्ञान-गर्व चूर-चूर करवाना चाहते थे न !

ब्रज तें द्वै ऋतु पै न गई।
पावस अरु ग्रीषम प्रचंड, सखि ! हरि बिनु अधिक भई॥
ऊरध स्वास समीर, नयन घन, सब जलजोग जुरे।
बरषि जो प्रगट किए दुख-दादुर हुते जे दूरि दुरे॥

विषम वियोग दुसह दिनकर सम दिन प्रति उदय करे।
हरि विधु बिमुख भए कहि सूरज को तनताप हरे ॥३४८॥

शब्दार्थ—द्वै—दो। पावस—वर्षा। दुरे—छिपे। विधु—चन्द्रमा।

व्याख्या—अपनी वियोग दशा का वर्णन करती हुई गोपियाँ परस्पर कह रही हैं कि हे सखी! कृष्ण जी के चले जाने के कारण दोनों ऋतुओं ने ऐसा अड्डा जमाया है कि जाने का नाम भी नहीं लेतीं। एक तो ग्रीष्म और दूसरी वर्षा ऋतु हरि के बिना बड़ा प्रचण्ड रूप धारण किये रखती हैं। लम्बी-लम्बी साँसों का झंझावात तथा नयनों के बादलों का उमड़ना ये सभी वर्षा के योग जुड़ रहे हैं। इन्होंने वर्षा करके पीड़ा रूपी मेंढ़क लाकर खड़े कर दिये हैं। ये मेंढ़क पहले कहीं दूर छिपे थे। प्रचण्ड दिनकर की भाँति सन्तापदायी असह्य वियोग दिन-प्रतिदिन असह्य रूप में उदय होता है। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि चन्द्र श्रीकृष्ण के अतिरिक्त भला अब कौन हमारे इस शारीरिक सन्ताप को दूर कर सकता है?

विशेष—इस पद में रूपक अलंकार है।

तुमहिं मधुप! गोपाल-दुहाई।
कबहुँक स्याम करत ह्याँ को मन, किधौं निपट चित सुधि बिसराई?
हम अहीरि मतिहीन बापुरी हटकत हू हठि करहिं मिताई।
वै नागर मथुरा निरमोही, अँग अँग भरे कपट चतुराई॥
साँची कहहु देहु स्रवनन सुख, छाँड़हु जिया कुटिल धूताई।
सूरदास प्रभु बिरद-लाज मेटहु ह्याँ को नेकु हँसाई॥३४९॥

शब्दार्थ—हटकत हू—मना करते हुए भी। धूताई—धूर्तता। दुहाई—शपथ। बापुरी—बेचारी। मिताई—मित्रता। बिरद—कीर्ति।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से पूछती हैं कि हे मधुप! तुम्हें श्रीकृष्ण की ही शपथ है। सच-सच बताना कि वे कभी यहाँ आने के लिए कहते भी हैं या हमें बिल्कुल विस्मृत ही कर दिया है? हम तो निर्धन अहीरिन हैं। मना करते हुए भी बरबस उनसे प्रेम करने लगी हैं। परन्तु वे मथुरा के रहने वाले शहरी आदमी ठहरे। बड़े निर्मोही हैं, इनके अंग-अंग में कपट और चतुरता भरी पड़ी है। हे उद्धव! तुम बिल्कुल सच बताना और हमारे मन की बात कहकर हमारे कानों को सुख दो। अब बहुत हो चुका, अपने हृदय की कुटिलता तथा शठता को दूर कर दो। सूर कहते हैं कि गोपियों ने व्यथित होकर कहा कि स्वामी अपनी कीर्ति की लज्जा रखकर यहाँ जो हमारी लोक हँसी हो रही है उसे समाप्त कर दो।

विशेष—हे प्रभो! हम भक्त हैं और भक्तवत्सल आप हैं।
भक्तवत्सलता विरद अपना निभाते क्यों नहीं॥

बिरही कहँ लौं आपु सँभारै ?
जब तें गंग परी हरिपद तें बहिबो नाहिं निवारै ॥
नयनन तें रवि बिछुरि, भँवत रहै, ससि अजहूँ तन गारै।
नाभि तें बिछुरे कमल कंट भए, सिंधु भए जरि छारै ॥
बैन तें बिछुरी बानि अबिधि भई बिधि हो, कौन निवारै।
सूरदास सब अंग तें बिछुरो केहि बिधा उपचारै ॥३५०॥

शब्दार्थ—तन गारै—शरीर को क्षीण करता है। कंट—कंटक। अबि[illegible]
बिधि हो—ब्रह्मा की पुत्री होकर विधि के विरुद्ध उनकी स्त्री हो गई। परी—गि[illegible]

व्याख्या—भगवत्-वियोगी की असाध्य दशा का वर्णन करती हुई ग[illegible]
उद्धव से कहती हैं कि भगवान् के विरही भला अपने को कैसे संभाल सकते हैं ?
गंगाजी ही जब से विष्णु के चरणों से अलग हुई हैं तब से इधर-उधर बहती फि[illegible]
हैं। उसे अब तक भी कोई ठहरने के लिए स्थान न मिल सका। भगवान् की नेत्र-[illegible]
से अलग होकर सूर्य और चन्द्र जैसे प्रतापशाली भी अपनी स्थिति को संभाल नहीं[illegible]
हैं। सूर्य प्रतिदिन भटकता रहता है और शशि अपने शरीर को क्षीण करता रहत[illegible]
हरि की नाभि से निकलकर कमल काँटों से भर गया तथा उनके वियोग में समु[illegible]
जल बड़वानल से खारा हो गया। उनकी वाणी से अलग होकर श्री शारदा भी [illegible]
दीवानी बन गई कि विधि के विरुद्ध अपने पिता ब्रह्मा की पत्नी बन गई। सूर[illegible]
हैं कि गोपियों ने कहा कि हे उद्धव ! जब एक-एक अंग से बिछुड़ने वालों की ऐसी
बन गई तो उनके सर्वांगीण आलिंगन से अलग होने वालों की औषधि हो ही
सकती है ?

विशेष—*(i) इस पद में अर्थान्तरन्यास तथा हेतुत्प्रेक्षा अलंकार है।*

(ii) इस पद की कल्पनायें वैदिक वचनों और पौराणिक गाथाओं पर आ[illegible]
हैं। वेदानुसार सूर्य और चन्द्र ईश्वर के नेत्र हैं। गंगा भी विष्णु पद से निकली है,
भी एक पौराणिक तथ्य है। विष्णु की नाभि से कमल की उत्पत्ति हुई, इसी[illegible]
उनका नाम पद्मनाभ है। सागर में विष्णु का शयन तथा सरस्वती का मूल रूप में [illegible]
वान् की वाणी में निवास, ब्रह्मा से उसकी उत्पत्ति एवं विवाह आदि ये सब प्रस[illegible]
प्रसिद्ध पौराणिक गाथायें हैं। अतः ये सब कल्पनायें संगत हैं।

(iii) कबीर के मतानुसार भी रामवियोगी का जीवित रहना बड़ा कठि[illegible]
है—

राम बियोगी न जियें, जिएँ तो बौरा होहिं। (कबीर)

(iv) प्रस्तुत पद की कल्पनाओं से मिलती-जुलती कल्पनायें तुलसी के निम्न[illegible]
में भी दर्शनीय है—

सुन मन मूढ़ सिखावन मेरो।
हरिपद बिमुख लह्यो न काहु सुख, सठ, यह समुझ सबेरो॥

बिछुरे ससि रविमन नैननि तें, पावत दुख बहुतेरो।
भ्रमित भ्रमित निस दिवस गगन महँ तहँ रिपुराहु बडेरो॥
यद्यपि अति पुनीत सुर सरिता, तिहूँ पुर सुजस घनेरो।
तजे चरन अजहूँ न मिटत नित बहिबो ताहू केरो॥

हे गोपाल गोकुल के बासी।
ऐसी बातें सुनि सुनि ऊधो! लोग करत हैं हाँसी।
मथि मथि सिंधु-सुधा सुर पोषे संभु भए विष-ग्रासी॥
हनि हति कंस, राज दै औरनि, आपु चाहि लई दासी।
बिसरयो सूर विरह-दुख अपनो सुनत चाल औरासी॥३५१॥

शब्दार्थ—ग्रासी—खाने वाले। पोषे—दे दिया। औरासी—बेढंगी, विचित्र।

व्याख्या—श्रीकृष्ण के चचल चित्त का वर्णन करती हुई गोपियां उद्धव से कहती हैं कि हे ऊधो तथा गोपाल, तुम्हारे लच्छनो को सुन-सुनकर लोग यहाँ तुम्हारी हँसी उडाते हैं। पहले समय मे तुमने सागर का मथन करके अमृत निकाला और सुरों का पालन किया। बेचारे भोले बाबा को विष देकर लक्ष्मी को स्वय हड़प लिया। इसी प्रकार *तुमने अब भी वैसा ही कार्य किया है। कंस को मार कर राज्य तो दूसरों* को दे दिया तथा स्वय कुब्जा को हथिया लिया। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हम तो आपकी विचित्र बातों को सुन-सुनकर अपने विरह के दुःख को भी भूल जाती हैं।

विशेष—सागर मंथन, शिव द्वारा विषपान तथा स्वय लक्ष्मी को हड़पने की बात के उदाहरण से गोपियों के इस कथन के प्रमाण के लिए कि श्रीकृष्ण चचल चित्त हैं तथा उन्होंने कुब्जा को भी इसी प्रकार हड़प लिया है, बहुत बल मिला है।

बदले को बदलो लै जाहु।
उनकी एक हमारी द्वै, तुम सबै जनैया आहु॥
तुम तौ हमें जानि कै भोरो, सोई सारो दाँव।
हमरी बेर मुकरि कै भागत, हिये चौगुनो चाव॥
अब तुम सखा बेगी ही जैयो, मेटहु उनको दाहु।
सूरदास ब्योहार भए तें हम तुम दोऊ साहु॥३५२॥

शब्दार्थ—द्वै—दो। सारो दाँव—चाल चलना। मुकरि कै—इन्कार करके। आहु—हो। भोरो—ठगते हो। साहु—साधु, महाजन।

व्याख्या—ईंट का उत्तर पत्थर से देती हुई गोपियां ऊधो से कहती हैं कि अपनी बातों के बदले में हमारी बातें भी सुन लो। उनकी ओर से तो तुम एक ही (निर्गुणोपदेश) लाये हो। इसके बदले में हमने तुम्हें कितनी ही सारी बातें सुना दी हैं अतः मय सूद के उन्हें दे देना। तुम बहुत समझदार हो और सब बातें जानते हो। हमें भोला समझकर तुमने तो अपनी चाल चलने मे कोई कसर रखी ही नहीं है। अब जब हमारा

अक्षर ज्ञाता हो इस प्रकार मना करके तीव्र गति से क्यों भागे जा रहे हो ? ठहरो, बदले में ये हमारी वस्तुएँ लेकर शीघ्र ही अपने मित्र (कृष्ण) को जाकर दे देना जिससे उनकी छाती ठंडी हो जाय । सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हे ऊधो ! यह व्यवहार की बात है । तुमने एक बात कह दी और हमने उसके बदले में अनेक खरी-खोटी कह दीं । हम और तुम दोनों महाजन हैं, अब किसी का किसी पर कुछ नहीं चाहिये ।

विशेष—इस पद में परिवृत्ति अलंकार है ।

> ऊधो ! तुमें नेकु निहारो ।
> हम अबलनि को सिखवन आए, सुन्यो सयान तिहारो ॥
> निर्गुन कह्यो ; कहा कहियत है ! तुम निर्गुन अति भारी ।
> सेवत सगुन स्यामसुंदर को लई मुक्ति हम चारी ॥
> हमें सालोक, सरूप, सयुज्यो रहत समीप सदाई ।
> सो तजि कहत और की और, तुम अलि ! बड़े अताई ॥
> हम मूरख तुम बड़े चतुर हौ, बहुत कहा कहिए ।
> बे ही काज सदा भटकत हौ, अब मारग गहिए ॥
> अहो अज्ञान ! ज्ञान उपदेसत ज्ञान रूप हम ही ।
> निसिदिन ध्यान सूर प्रभु को अलि ! देखत जित तितहीं ॥२५३॥

शब्दार्थ—सयान—चतुराई । अताई—दुष्ट । बे—बिना । चारी—चारों मुक्ति ।

व्याख्या—उद्धव को झेंपता हुआ देखकर गोपियां उनसे कहने लगीं कि हे ऊधो ! झेंपते क्यों हो ? तनिक हमसे आँखें मिलाकर बातें करो । आपके ज्ञान का अनुमान तो इसी बात से लग गया है कि आप हम अबलाओं को ज्ञान की शिक्षा देने आये हो । आपने यहां आकर जो निर्गुण पर भाषण दिया है, क्या कहने हैं आपके ? आप तो बड़े भारी निर्गुणोपासक हैं । पर हमने तो सगुण श्याम की सेवा करके चारों प्रकार की मुक्ति (सालोक्य, सारूप्य, सायुज्य तथा सामीप्य) प्राप्त कर ली है । तब भी आप कुछ और की और कह रहे हो । अरे मधुप ! तुम तो बड़े दुष्ट हो । हम मूर्ख हैं भाई अब तो आप बड़े बुद्धिमान हैं । खैर अब हम अधिक क्या कहें ? आप सदा बिना कार्य के ही इधर-उधर भटकते रहते हो, अब तो आप अपना घर का मार्ग पकड़ो । हाय ! इससे बड़ा अज्ञान और क्या हो सकता है कि ज्ञान की चरम सीमा पर पहुँचे हुए हमें तुम ज्ञान की बारहखड़ी सिखाने आ गये हो । हम तो जिधर भी देखती हैं उधर ही हमें तो सूर के स्वामी श्याम की मूर्ति दिखाई देती है । हमारे लिए तो सब कुछ श्याममय है ।

विशेष—जिस प्रकार ज्ञान की चरमावस्था में ज्ञाता और ज्ञेय का कोई भेद नहीं रहता उसी प्रकार प्रेम या भक्ति की चरमावस्था में उपास्य और उपासक का

कोई भेद नहीं रहता है। इसीलिए गोपियों ने अपने-आपको ज्ञान-रूप कहा है।

जा जा रे भौंरा! दूर दूर।
रंग रूप अौ एकहि मूरति, मेरो मन कियो चूर चूर॥
जौ लौं गरज निकट लौ लौ रहै, काज सरे पै रहै धूर।
सूर स्याम अपनो गरजन कों कलियन रस लै घूर घूर॥३५४॥

शब्दार्थ—धूर—ऊपर, ऊँचे। लै—लेय, लेता है। घूर-घूर—घूम-घूमकर।

व्याख्या—कृष्ण की निष्ठुरता पर व्यंग्य करती हुई गोपियाँ भौंरे को सम्बोधन करके ऊधो से कहती हैं कि अरे मधुप! तू जा यहाँ से कहीं बहुत दूर चला जा। तेरा रंगरूप और आकार भी उन्हीं के समान है। तूने मेरा मन मोहकर चूर-चूर कर दिया है। जब तक स्वार्थ रहता है तब तक तो निकट रहते हो और स्वार्थ-पूर्ति होने पर ऊँचे उड़ जाते हो। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हे भौंरे, तुम अपने स्वार्थ से कलियों का रस चूसने के लिए ही चक्कर काटते हो।

विशेष—(i) आधुनिक प्रसिद्ध कवयित्री महादेवी वर्मा ने भी भौंरे की स्वार्थ-पूर्ण प्रीति पर, देखिये, निम्न पंक्तियों में कितना सुन्दर तुलनात्मक प्रकाश डाला है—

जिसको मरुभूमि समुद्र हुआ उस मेघव्रती की प्रतीति नहीं।
जो हुआ जल दीपकमय उससे कभी पूँछी निबाह की नीति नहीं॥
मतवाले चकोर से सीखी कभी उस प्रेम के राज्य की नीति नहीं।
तू अकिंचन भिक्षुक है मधु का, अलि, तृप्ति कहाँ जब प्रीति नहीं॥

(ii) प्रस्तुत पद में अन्योक्ति अलंकार है।

ऊधो! धनि तुम्हरो व्यवहार।
धनि वे ठाकुर, धनि वै सेवक, धनि तुम बर्तनहार॥
आम को काटि बबूर लगावत, चंदन को कुरवार।
सूर स्याम कैसे निबहैगी अंधधुंध सरकार॥३५५॥

शब्दार्थ—कुरवार—खोदकर। धनि—धन्य है। ठाकुर—स्वामी।

व्याख्या—व्यंग्य करती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि तुम्हारा व्यवहार धन्य है। तुम्हारे सेवक और स्वामी सब धन्य हैं। आप जैसे भी उनकी नीतियों को कार्य रूप देते हैं धन्यवाद के पात्र हैं। आप तो आम को कटवाकर तथा चन्दन के वृक्षों को खुदवाकर उनके स्थान पर बबूल लगाने का प्रयत्न कर रहे हो। सूर कहते हैं कि गोपियाँ इस अनरीति को देखकर उद्धव से कहती हैं कि आखिर यह निरंकुश सरकार कैसे निभेगी?

विशेष—इस पद में अन्योक्ति अलंकार है।

जाहु जाहु ऊधो ! जाने हौ पहिचाने हौ।
जैसे हरि तैसे तुम सेवक, कपट-चतुराई-साने हौ॥
निर्गुन ज्ञान कहां तुम पायो, केहि सिखए ब्रज आने हौ।
यह उपदेस देहु लै कुबजहि जाके रूप लुभाने हौ॥
कहँ लगि कहौ योग की बातें, बाँचत नैन पिराने हौ।
सूरदास प्रभु हम हैं खोटी तुम तो बारह बाने हौ॥३५६॥

शब्दार्थ—साने—युक्त। सिखए—सिखाये में आकर। आने—लाये हो। बारह बाने—बारह बानी के अर्थात् खरे।

व्याख्या—निर्गुण पर व्यंग्य करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे उद्धव ! आप यहाँ से चले जाओ। हम तुम्हें खूब जानती और पहचानती हैं। जैसे श्रीकृष्ण हैं वैसे ही तुम उनके सेवक हो। दोनों ही छल और कपट से युक्त हो। अच्छा यह बताओ कि तुम्हें यह निर्गुण ज्ञान कहाँ से मिला। तुम इसे किसके सिखाने से यहाँ लाये हो। इसे तुम कुब्जा को जाकर दे दो, उसके रूप पर तो तुम्हारे स्वामी अर्थात् श्रीकृष्ण निछावर हो रहे हैं। हम तुमसे योग की बातें कहाँ तक करती रहें। योग का सन्देश पढ़ते पढ़ते तो हमारे नेत्र दुखने लगे हैं। पर इतने पर भी हम बुरी हैं। पर चलो तुम तो बारह बानी के हो अर्थात् खरे हो।

विशेष—गोपियों का उद्धव से यह कहना कि जिस कुब्जा के रूप पर उपदेशक महोदय (श्रीकृष्ण) मोहित हैं, उसी को उनका उपदेश देना चाहिये, सार्थक एवं उपयुक्त है।

मधुबन सब कृतज्ञ धर्मीले।
अति उदार परहित डोलत हैं, बोलत बचन सुसीले॥
प्रथम आय गोकुल सुफलकसुत लै मधुपुरिहि सिधारे।
वहाँ कंस हर्यो हम दीनन को दूनो काज सँवारे॥
हरि को सिखै सिखावन हमको अब ऊधो पग धारे।
ह्याँ दासी-रति की कीरति कै, यहाँ जोग बिस्तारे॥
अब या बिरह-समुद्र सबै हम बूड़ी चहति नहीं।
लीला सगुन नाव हौ, सुनु अलि, तेहि अवलंब रही॥
अब, निर्गुनहि गहे जुवतीजन पारहि कहो गई को।
सूर अक्रूर छपद के मन में नाहिन त्रास दई को॥३५७॥

शब्दार्थ—ही—थी। छपद—भ्रमर। दई—ईश्वर। गही—चुनी हुई।

व्याख्या—गोपियाँ योगोपदेश पर व्यंग्य करती हुई उद्धव से कहती हैं कि भाई ! मथुरा में तो सभी धर्मात्मा और कृतज्ञ हैं। वे सभी बड़े दयालु हैं। परोपकार में इधर-उधर भटकते फिरते हैं और अत्यन्त सुशील वचन कहते हैं। पहले तो अक्रूर जी महाराज गोकुल आये और कृपा करके उन्हें मथुरा लेकर चले गये। किन्तु वहाँ जाकर उधर कंस

का और इधर हमारा दोनों का काम तमाम कर दिया। अब हरि की सीख लेकर हमें योग की शिक्षा देने के लिए महाराज उद्धव जी यहाँ आये हैं। वे वहाँ कुब्जा के साथ प्रेम की कीर्ति का विस्तार करके यहाँ योग का प्रचार कर रहे हैं। अब हम विरह के समुद्र मे निरवलम्ब डूबना चाहती हैं। आज तक तो हम लोगो के लिए सगुण की लीला रूपी नाव थी। उसी का आश्रय लेकर अब तक हम समुद्र को पार करती रही किन्तु आज तुम उसे छुड़ाकर हमें निर्गुण थमा रहे हो। बताओ फिर यह समुद्र किस प्रकार पार किया जायगा? सूर कहते हैं कि गोपियो ने कहा कि हाय अक्रूर और इन भ्रमर महाशय (उद्धव) को दैव का भय भी तो नही है।

विशेष—चौथी पंक्ति मे काकुवक्रोक्ति तथा कंस और गोपियो को एक ही धर्म 'सँवारे' कहा गया है इसलिए तुल्ययोगिता अलकार है। इसके अतिरिक्त इस पद मे अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यध्वनि तथा रूपक अलकार है।

ऊधो! भूलि भले भटके।
कहत कही कछु बात लईते तुम ताही अटके॥
देख्यो सकल सयान तिहारो, लिन्हें छरि फटके।
तुमहिं दियो बहराय इतै कों, वै कुबजा सों अटके॥
लीजो जोग सभारि आपनो जाहु तहाँ टटके।
सूर स्याम तजि कोउ न लैहे या जोगहि कटुके॥३५८॥

शब्दार्थ—सयान—चतुराई। छरि फटके—झाड़-फटक कर अर्थात् खूब जाँच कर। कटुके—कटु जोग को।

व्याख्या—उद्धव को बनाती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे ऊधो! तुम भी खूब भूलभुलैयो मे भटक रहे हो। उन प्रियतम ने कुछ बात वैसे ही प्रसंगवश कह दी थी पर तुम उसी मे अटक गये। बस, हमने तुम्हारी चतुरता भी देख ली। खूब झाड़-फटक कर अर्थात् जाँच कर देख ली। उन महाशय ने तुम्हें तो योग देकर इधर को बहका कर भेज दिया और स्वयं उधर कुब्जा से अटक रहे हैं। खैर, अब भी सम्भल जाओ; अपना यह योग लेकर ठीक-ठाक घर चले जाओ। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि यहाँ श्याम को त्यागकर इस कड़वे योग को कोई ग्रहण नहीं करेगा।

विशेष—श्याम ने ऊधो को खूब बनाया; नीरस योग सिखाने उन्हें तो यहाँ ब्रज में भेज दिया और स्वयं कुब्जा के साथ आनन्द मे फँसे रहे।

जोग सँदेसो ब्रज में लावत।
थाके चरन तिहारे, ऊधो! बार बार के धावत॥
सुनिहै कथा कौन निर्गुन की, रचि पचि बात बनावत।
सगुन सुमेर प्रगट देखियत, तुम तृन की ओट दुरावत॥

हम जानत परपंच स्याम के, बातन ही बहरावत।
देखी सुनी न अबलौं कबहूँ, जलमथे माखन आवत॥
जोगी जोग-अपार सिन्धु में ढूँढे हू नहिं पावत।
ह्याँ हरि प्रगट प्रेम जसुमति के ऊखल आप बँधावत॥
चुप करि रहौ, ज्ञान ढँकि राखौ; कत ही बिरह बढ़ावत।
नंदकुमार कमलदल लोचन कहि को जाहि न भावत?
कहि को बिपरीत बात कहि सबके प्रान गँवावत?
सो है सो किन सूर अबलनि ओहि निगम नेति कहि गावत?॥१२६॥

शब्दार्थ—पचि—हैरान होकर। दुरावत—छिपाते हो। बहरावत—बहकाते हो।

व्याख्या—योगोपदेश की निरर्थकता पर प्रकाश डालती हुई गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि हे उद्धव! तुम योग का सन्देश व्रज में लाये हो। बार-बार के दौड़ने से तो तुम्हारे पैर थक गये होंगे। तुम जो बड़े हैरान होकर गढ़-गढ़कर बातें बना रहे हो किन्तु तुम्हारे इस निर्गुण की कथा यहाँ कौन सुनेगा? यहाँ तो सगुण सुमेरु पर्वत की भाँति प्रत्यक्ष रूप में दिखाई दे रहा है किन्तु तुम उसे निर्गुण के तिनके की ओट में छिपाना चाहते हो। हम श्याम के सब दाँव-पेचों को जानती हैं। वे तो यों ही बातों में बहलाया करते हैं। हमने तो आज तक पानी को मथकर नवनीत निकालने की बात न तो देखी है और न सुनी है। योगी योग के अथाह समुद्र में बैठकर आजन्म खोजते रहने पर भी जिसे प्राप्त नहीं कर सके वही सगुणोपासना से प्रसन्न होकर तथा यशोदा के प्रेम के वशीभूत होकर अपने को ऊखल में बँधवा लेता है। अतः अब तुम चुप रहो और ज्ञान को ढँके रखो। इसको व्यर्थ में ही खोलकर हमारी विरह-वेदना को तुम क्यों बढ़ाते हो? तुम्हीं बताओ, कमलनयन नन्दलाल भला किसे अच्छे नहीं लगते? तुम उल्टी-उल्टी बातें करके हम सबको क्यों मारे डालते हो? सूर कहते हैं कि गोपियों ने उद्धव से कहा कि तनिक सोचो तो जिसे उपनिषद् आदि शास्त्र नेति-नेति कहकर वर्णन करते हैं वह हम अबलाओं के लिए कैसे उपयुक्त हो सकता है?

विशेष—(i) इस पद में रूपक एवं निदर्शना अलंकार है।

(ii) भेद पा सके हैं नहीं वेद औ पुरान वाले,
श्रुति और स्मृति जिसही के गुन गाती हैं।
पर्वतों की कन्दरों में मुनि लोग ढूँढते हैं,
जिसकी कहानियाँ सब ज्ञानियों को भाती हैं।
'सुकवि' सुजान और निपट गँवारों को भी,
जिसे याद कर आँखें आँसू ढलकाती हैं।
मेरी है कसम तुझे तू भी चल देख आज,
चुटकी बजाके उसे गोपियाँ नचाती हैं॥

कहा भयो हरि मथुरा गए।
अब, अलि ! हरि कैसे सुख पावत तन द्वै भाँति भए ॥
यहाँ अटक अति प्रेम पुरातन, ह्वाँ अति नेह नए।
ह्वाँ सुनियत नृप-भेष, यहाँ दिन देखियत बेनु लए ॥
कहा हाथ परचो सठ अक्रूरहिं वह ठग-ठाट ठए।
अब क्यों कान्ह रहत गोकुल बिनु जोगन के सिखए ॥
राजा राज करौ अपने घर माथे छत्र दए।
चिरंजीव रहौ, सूर नंद सुत, जीजत मुख चितए ॥३६०॥

शब्दार्थ—द्वै भाँति भए—दो रूपों का एक ही साथ निर्वाह करना पड़ता है। दिन—प्रतिदिन, सदैव।

व्याख्या—श्रीकृष्ण-कुब्जा प्रेम पर कटाक्ष करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे ऊधो ! कृष्ण ने मथुरा जाकर क्या लाभ कर लिया ? हे मधुकर ! अब तो उन्हें दो शरीरों का एक साथ ही निर्वाह करना पड़ता है। अतः उन्हें अब सुख ही क्या प्राप्त होता होगा ? यहाँ का वह पुरातन प्रेम और वहाँ की यह नयी प्रीति भला दोनों का निर्वाह कैसे होता होगा ? और फिर यह भी सुना है कि वे राजवेष में रहते हैं और यहाँ हम उन्हें प्रतिदिन वेणु लिए देखती हैं। पता नहीं ठगने का यह जाल रचने से उस अक्रूर को क्या मिल गया ? अब भला वे बिना योग सिखाये गोकुल में क्यों रहेंगे ? सूर कहते हैं कि गोपियों ने निराश होकर श्रीकृष्ण के लिए शुभकामनायें प्रगट करते हुए कहा कि वे राजा हैं, अपने घर पर सिर पर छत्र धारण करके राज्य करें। हमारे तो नन्दसुत ही यहाँ चिरंजीवी हों जिनका मुख देखकर हम जी रही हैं।

विशेष—देखिये, कवि पद्माकर ने भी कुछ ऐसा ही कहा है—
ऊधौ वे गोविन्द कोई और मथुरा में यहाँ।
मेरो तो गोविन्द मोहि मोहि में रमत है ॥

तुम्हारी प्रीति, ऊधो ! पूरब जनम की अब तो भए मेरे तनहू के गरजी।
बहुत दिनन तें बिरमि रहे हो, संग तें बिछोहि हमहिं गए बरजी ॥
जा दिन तें तुम प्रीति करी हो घटति न, बढ़ति तूल लेहु नरजी।
सूरदास प्रभु तुम्हरे मिलन बिनु तन भयो ब्योंत, बिरह भयो दरजी ॥३६१॥

शब्दार्थ—करी हो—की थी। तूल—लम्बाई। लेहु नरजी—नाप लो।

व्याख्या—उद्धव को उपालम्भ देती हुई गोपियाँ कहती हैं कि हे उद्धव ! कृष्ण से जो हमारा प्रेम हुआ है वह हमारे पूर्व जन्म का संस्कार है। किन्तु अब तो वे हमारे प्राणों के ग्राहक बन रहे हैं। हाय ! वे तो जाकर वहीं रमे रहे। हमारा तो साथ छोड़कर चल दिये और हमें वहाँ चलने के लिए मना कर दिया। इतना होने पर भी जिस दिन से उन्होंने प्रेम किया है वह प्रेम घटने का नाम नहीं लेता, बढ़ता ही रहता है। यदि विश्वास न हो तो गज लेकर नाप लो। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हे कृष्ण

ओ ! तुम्हारे विरह में यह शरीर तो एक बाण बन गया है और

विशेष—प्रस्तुत पद में सांगरूपक अलंकार है।

गोपालहिं लै आवहु मनाय।

अब की बेर कैसेहु करि, ऊधो ! करि छल बल ग

बीजो उनहिं सुभाई उरहनो सौंपि सपथ

जिनहिं छाँड़ि बढ़िया महँ आए ते बिरस भए

तुमसों कहा कहौं, हो मधुकर ! बातें बहुत

कहियो पकरि सूर के प्रभु को नंद की सौंह दि

शब्दार्थ—सुभाई—समझाकर कहकर । बढ़िया—बाढ़,

बाढ़।

व्याख्या—विरहातुर होकर ऊधो से प्रार्थना करती हुई गोपियाँ

हे उद्धव ! तुम गोपाल को मनाकर लिवा लाओ । अबकी बार किसी न

उन्हें छल-बल से लिवा ही लाओ। तुम उन्हें खूब समझा-समझाकर हमा

देना कि तुम जिन्हें विरह की बाढ़ में छोड़ आये थे वे गोपियाँ आज व्याकुल

हे उद्धव ! बस हम तुमसे अधिक बातें बना-बनाकर क्या कहें, तुम भगवान कृ

पकड़कर तथा नन्द की शपथ दिलाकर यहाँ लिवा ही लाओ।

विशेष—रूपकातिशयोक्ति अलंकार है।

कै तुम सों झूटैं लरि, ऊधो, कै रहिए गहि मौन।

एक हम जरैं जरे पर जारत, बोलहु कुबचो कौन ?

एक अंग मिले दोऊ कारे, काको मन पतियाए ?

तुम सो होय सो तुम सों बोलैं, लोने जोगहि भाए॥

जा काहू को जोग चाहिये सो लै भस्म लगावै।

जिन्ह उर ध्यान नंदनदन को तिन्ह क्यों निर्गुन भावै ?

कहो सँदेस सूर के प्रभु को, यह निर्गुन अँधियारो ?

अपनो बोयो आप लूनिए, तुम आपुहि निरवारो॥३६३॥

शब्दार्थ—कुबचो—बुरी बात कहने वाला। निरवारो—सुलझाओ। लूनिए—

ख्या—उद्धव के निराकार ब्रह्म के उपदेश से परेशान होकर गोपियाँ कहती

व ! इस समय हम तुमसे या तो लड़कर या मौन धारण करके ही छुटकारा

। हम तो पहले ही विरह में जल रही है और फिर ऊपर से तुम यह निर्गुण

पदेश दे रहे हो, जले पर और जला रहे हो।

दोनों ही (

सकती है। तुम्हारे इस योग को तुम जैसा ही समझ सकता है। जिनके हृदय में नन्द-नन्दन बसे हुए हैं उन्हें भला निर्गुण ब्रह्म की उपासना क्यों अच्छी लगेगी ? सूर के प्रभु से हमारा यह सन्देशा कह देना कि यह निर्गुण ब्रह्म कोरा अन्धकारमय है, इससे अज्ञान दूर नहीं हो सकता। अतः तुम अपना बोया हुआ अपने आप ही काटो। इस उलझन को अपने आप ही सुलझाओ।

विशेष—उद्धव के निराकार के उपदेश से गोपियों को कितनी परेशानी हुई होगी, इसका अनुमान कोई सगुणोपासक ही लगा सकता है।

ऐसो माई! एक कोद को हेतु।
जैसे बसन कुसुंभ-रंग मिलि कै नेकु चटक पुनि सेत॥
जैसे करनि किसान बापुरो नौ नौ बाहैं देत।
एतेहु पै नीर निठुर भयो उमगि आय सब लेत॥
सब गोपी भाखैं ऊधो सों, सुनियो बात सचेत।
सूरदास प्रभु जन तें बिछुरें ज्यों कृत राई रेत॥१६४॥

शब्दार्थ—माई—सखी। कोद—ओर, तरफ। बाहैं देत—कई बाँह जोतना। ज्यों कृत राई रेत—जैसे रेत या बालू में राई कर दी गई हो। कुसुंभ—हल्का लाल। करनि—अपने हाथों।

व्याख्या—कोई गोपी अपनी सखी से कहती है कि हे सखी! एक तरफ का प्रेम इस प्रकार का है जैसा कि वस्त्र हल्के लाल रंग में रंगते समय थोड़े में ही चटक और थोड़े ही में सफेद हो जाता है और जैसा कि कृषक अटूट परिश्रम द्वारा अपने खेत को कई बार जोतता है ताकि कुछ उत्पन्न हो जाय, किन्तु जल की घोर वृष्टि उसके सब कार्य पर पानी फेर देती है। गोपियों ने ऊधो से कहा कि तनिक सावधानी से सुनो कि सूर के प्रभु से बिछुरकर मनुष्य अपने मन को ठीक उसी प्रकार अलग नहीं कर सकता जिस प्रकार कि रेत में मिली हुई राई अलग नहीं हो सकती।

विशेष—इस पद में उदाहरण अलंकार है।

मधुकर, मन सुनि जोग डरै।
तुमहू चतुर कहावत अति हौ इतो न समुझि परै॥
और सुमन जो अनेक सुगंधित, सीतल रुचि जो करै।
क्यों तू कोकनद बसहि सरै को और सबै अनरै?
दिनकर *महाप्रतापपुंज-वर,* सबको तेज हरै।
क्यों न चकोर छाँडि मृग-अंकहि वाको ध्यान धरै?
उसटोइ ज्ञान सबै उपदेसत, सुनि सुनि जीव जरै।
अंबु-कुल कहौ क्यों, लंपट! कमलहु सब परै॥
सुपना अवधि मराल प्रान है जौं लगि ताहि धरै।
निपटत निपट, सूर, ज्यों जल बिनु व्याकुल मीन मरै॥१६५॥

शब्दार्थ—सरै—जाता है। भमरै—अनादर करता है। मृग-अंक—चन्द्रमा।

व्याख्या—उद्धव की निराकारोपासना को तर्क की कसौटी पर रखती हुई गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि हे मधुकर! तुम्हारा यह योग सुनकर हमें मन में डर लग रहा है। ठीक है कि तुम अत्यन्त चतुर और विद्वान् कहलाते हो परन्तु हमारी समझ में कुछ बात नहीं आ रही है। शीतलता उत्पन्न करने वाले दूसरे भाँति-भाँति के पुष्पों को त्यागकर हे भ्रमर! तू कमल के वन में ही क्यों जाता है? ज्योति के सभी श्रेष्ठ समूहों में ज्योतिर्मान सर्वश्रेष्ठ सूर्य जो सबके तेज को हरने वाला है, चन्द्रमा को छोड़कर चकोर उसका ध्यान क्यों नहीं करता? हे ऊधो! तुम सबको जो यह उल्टा उपदेश दे रहे हो उसे सुनकर हमारा हृदय जल उठता है। हे धूर्त भ्रमर! हमें तनिक बता तो दे कि जामुन के वृक्ष में आम का श्रेष्ठ फल कैसे लग सकता है? कृष्ण की उपासना करने वाली गोपियों को योग का नीरस उपदेश भला कैसे भा सकता है? हंस जीवित रहते हुए बस मोतियों को ही चुगता है, अन्यथा मरना अच्छा समझता है। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा, मछली भी निष्ठुर जल की समाप्ति पर व्याकुल होकर अपने प्राण त्याग देती है। भाव यह है कि हम भी कृष्ण के बिना मर जाना ही उचित समझती हैं।

विशेष—(i) कबीर ने भी कुछ ऐसा ही कहा है, देखिए—

विरहिन देय संदेसरा, सुनो हमारे पीव।
जल बिन मच्छी क्यों जिये, पानी में का जीव॥

(ii) इस पद में निदर्शना अलंकार है।

बिरचि मन बहुरि राच्यो आय।
टूटी जुरै बहुत जतनन करि तऊ दोष नहिं जाय॥
कपट हेतु की प्रीति निरंतर मोइ चोखाई गाय।
दूध फटे जैसे भइ काँजी, कौन स्वाद करि खाय?
केरा पास ज्यों बेर निरंतर हालत दुख दै जाय।
स्वाति-बूँद ज्यों परे फनिक-मुख परत विषै ह्वै जाय॥
ऐसी बेली तुम जो उनकी कही बनाय बनाय।
सूरजदास दिगंबर-पुर में कहा रजक-व्यौसाय॥१११॥

शब्दार्थ—बिरचि—विरक्त होकर। राच्यो—अनुरक्त हुआ। मोइ—नीर रस्सी से बाँधकर। चोखाई—दुही। दोष—जोड़ की त्रुटि। काँजी—खट्टा। दिगंबर—नंगे लोग। रजक—धोबी।

व्याख्या—गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि एक बार विरक्त होकर फिर अनुरक्त होने में कुछ आनन्द नहीं रहता। टूटी हुई रस्सी बहुत परिश्रम करने से जुड़ तो जाती है किन्तु रहती है फिर गाँठ-गठीली ही। कपटपूर्ण स्नेह और रस्सी बाँधकर दुही हुई गाय या खटाई से फटे हुए दूध को खाने में भला किसे स्वाद आता है? जिस प्रकार केले के पास बेर की निकटता दुखदायी होती है उसी प्रकार हे उद्धव! तुम्हारी निकटता हमें

दुःखदायी हो रही है। बेर तो बार-बार हिल-हिलकर आनन्द लेती है किन्तु केले के अंग जीर्ण हो जाते हैं। इसी प्रकार तुम भी बार-बार निर्गुण का उपदेश देकर आनन्द ले रहे हो पर हम दग्ध हुई जा रही हैं। सर्प के मुख में स्वाति की बूँद पड़कर विष हो जाती है। इसी प्रकार तुम्हारे अमृत के समान वचन भी हमारे अन्तस मे जाकर घातक बन जाते हैं। तुम जितनी भी बातें कृष्ण के विषय मे बना-बनाकर कह रहे हो वे सब निरर्थक हैं। सूर कहते हैं कि गोपियो ने कहा कि तनिक सोचो तो नंगे रहने वालों की नगरी में धोबी का धन्धा कैसे चल सकता है ?

विशेष—(i) देखिए, केले और बेर के संग के विषय में रहीम ने भी यही कहा है—

कहु रहीम कैसे निभे, बेर केर को संग।
वे डोलत रस आपने, उनके फाटत अंग॥

(ii) इस पद में समुच्चय, प्रतिवस्तूपमा तथा विषम अलंकार है।

कहत कत परदेसी की बात ?
मंदिर-अरध-अवधि बदि हम सों, हरि-अहार चलि जात॥
ससि-रिपु बरष सूर-रिपु युग वह, हर-रिपु किए फिरै घात।
मघ-पंचक लै गए स्यामघन, आय बनी यह बात॥
नखत, बेद, ग्रह जोरि अर्ध करि को बरजै हम खात।
सूरदास प्रभु तुमहिं मिलन कौं कर मीड़ति पछितात॥३६७॥

शब्दार्थ—मंदिर-अरध-अवधि—मन्दिर, घर, उसका आधा भाग पाख अर्थात् एक पक्ष की अवधि। हरि-अहार—शेर का भोजन मांस अर्थात् माह। ससि-रिपु—दिन। सुर-रिपु—रात। हर-रिपु—कामदेव। मघ-पंचक—मघा से लेकर पाँचवां नक्षत्र चित्रा अर्थात् चित्त। नखत, बेद, ग्रह जोरि अर्ध करि—नक्षत्र २७, वेद ४, ग्रह ६, योग हुआ ४० इसका आधा बीस अर्थात् विष।

व्याख्या—निराश होकर गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि तुम हम से उस परदेशी की बातें क्यों कह रहे हो ? उन्होंने तो जाते समय एक पक्ष की अवधि बतायी थी पर अब तो मास बीत गये। हमारे लिए यहाँ दिन वर्ष के समान तथा रात्रियाँ युगों के समान हो रही हैं। कामदेव हमे मारने के लिए घूम रहा है। हमारा चित्त घनश्याम अपने साथ ले गये हैं अतः अब हम विष खाने को तैयार है। देखें भला हमें ऐसा करने से कौन रोकता है ? सूर कहते है कि हे स्वामी, तुमसे मिलने के लिए गोपियाँ हाथ मल-मलकर पछता रही हैं।

विशेष—यह कवि का दृष्टकूट पद है। जहाँ सीधे-सादे ढंग से अर्थ न निकलकर पहेली के ढंग से अर्थ निकलता है, वहाँ वह पद दृष्टकूट कहलाता है। काव्य में इसकी गणना अधम काव्यों मे की जाती है।

ऊधो ! मन माने की बात।
दाख छुहारा छाँड़ि अमृत-फल विष-कीरा विष खात ॥
जो चकोर को दै कपूर कोउ तजि अंगार अघात ?
मधप करत घर कोरि काठ में बँधत कमल के पात ॥
ज्यों पतंग हित जानि आपनो दीपक सों लपटात।
सूरदास जाको मन जासों सोई ताहि सुहात ॥२६८॥

शब्दार्थ—दाख—किशमिश। कीरा—कीड़ा। कोरि—कुरेदकर।

व्याख्या—गोपियाँ ऊधो से कहती हैं कि यह तो अपने मन के मानने की बात है। देखो, विष का कीड़ा दाख, छुहारे आदि अमृत फलों को त्याग कर विषपान ही करता है। यदि कोई चकोर को कपूर खिलाये तो वह उससे तृप्त नहीं हो सकता। वह तो अंगार खाकर ही सन्तुष्ट होगा। भौंरा काठ को कुरेद कर अपना घर बनाता है परन्तु कमल के पत्तों में बँध जाता है। पतंगा अपना हित दीपक से आलिंगन करने में ही समझता है। सूर कहते हैं कि गोपियों ने कहा कि हे उद्धव ! जिसका मन जिससे लगा होता है, उसे वही सुहाता है। भाव यह है कि हमें तो सगुण भाता है, निर्गुण नहीं। अतः आपको बुरा मानने की आवश्यकता नहीं।

विशेष—हुआ लैला पे मजनूं, कोहकन शीरीं पे शैदाई।
मोहब्बत दिल का सौदा है कि जिसको जिससे बन आई॥

कर कंकन तें भुज टॉड भई।
मधुबन चलत स्याम मनमोहन आवन-अवधि जो निकट दई ॥
जोहति पंथ मनावति संकर बासर निसि मोहिं गनत गई।
पाती लिखत बिरह तन व्याकुल कायर ह्वै गयो नीरमई ॥
ऊधो ! मुख के बचनन कहियो हरि सों सूल नितप्रतिहि नई।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस को बिरह बियोगिनि बिकल भई ॥२६६॥

शब्दार्थ—कंकन—कंकण (आभूषण)। टॉड—बरा। गनत—गिनते हुए।

व्याख्या—अपनी विरह कृशता का वर्णन करती हुई उद्धव से कोई गोपी निवेदन करती है कि हम विरह के कारण इतनी दुर्बल हो गई हैं कि हाथ का कंकण बाँहों के लिए बरा का कार्य देता है। मथुरा जाते समय कृष्ण ने शीघ्र ही वापिस लौटने को कहा था परन्तु इतना लम्बा समय बीत गया, उन्होंने आने का नाम तक न लिया। मैं प्रतिदिन उनका मार्ग देखती रहती हूँ। शंकर की मनौती मनाते और दिन तथा रात गिनती गिनने में व्यतीत करती हूँ। यदि कभी उन्हें पत्र लिखने बैठ गई तो वियोग में इतनी अधीर हो उठती हूँ कि कागज आँसुओं के पानी में भीग जाता है। अतः हे उद्धव ! मैं तुम्हें लिखित सन्देश देने में भी असमर्थ हूँ। अतः तुम मेरा सन्देश मौखिक रूप में यही कह देना कि हमें यहाँ प्रतिदिन नयी व्यथा भोगनी पड़ रही है। हे सूर के स्वामी स्याम ! तुम्हारे दर्शनों के लिए यह आपकी विरह-वियोगिनी बहुत ही व्याकुल है।

विशेष—(i) 'कर-कंकन ते भुज टॉड भई' में सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार है।

(ii) राम की अंगूठी भी सीता के वियोग से कंकण का काम देने लगी थी। देखिये, तुलसी ने हनुमान द्वारा सीता से क्या कहलवाया है—

तुम पूछत कहि मुद्रिके मौन होत यहि नाम।
कंकन की पदवी दई तुम बिन या कहँ राम॥

(iii) इस विषय में फारसी-शैली की अस्वाभाविकता भी उर्दू में दर्शनीय है—

हुआ हूँ इस कदर बेज़ार मैं तेरी जुदाई से।
कि चींटी खींच ले जाती है मुझको चारपाई से॥

फूल बिनन नहिं जाउँ सखी री! हरि बिन कैसे बीनौं फूल।
सुन री, सखी! मोंहि राम दोहाई फूल लगत तिरसूल॥
वे जो देखियत राते राते फूलन फूली डार।
हरि बिन फूल भार से लागत झरि झरि परत अँगार॥
कैसे के पनघट जाउँ सखी री! डोलौं सरिता तीर।
भरि भरि जमुना उमडि चली है इन नैनन के नीर॥
इन नैनन के नीर सखी री! सेज भई घर नाउँ।
चाहति हौं याही पै चढ़ि कै स्याम-मिलन को जाउँ॥
प्रान हमारे बिन हरि प्यारे रहे अधरन पर आय।
सूरदास के प्रभु सों सजनी कौन कहै समुझाय॥३७०॥

शब्दार्थ—भार—अग्नि की ज्वाला। घर नाउ—बाँस में उल्टे घड़े बाँधकर बनाई हुई नाव।

व्याख्या—राधा अपनी सखी से वियोग दशा का वर्णन करती हुई कहती है कि हे सखी! मैं फूल बीनने कैसे जाऊँ। हरि के बिना मैं फूल कैसे बीन सकती हूँ? मैं राम की सौगन्ध खाकर कहती हूँ कि मुझे फूल त्रिशूल की भाँति दुखदायक प्रतीत होते हैं। वे जो सामने लाल-लाल फूल डालियों पर दिखाई दे रहे हैं, हरि के वियोग में ये मुझे ज्वाला के समान लग रहे हैं और जब ये गिरते हैं तो ऐसा लगता है जैसे अंगारे गिर रहे हों। मैं तो उनके वियोग में पनघट पर भी नहीं जाती। यदि मैं नदी के किनारे घूमने जाती हूँ तो मेरे नेत्रों के आँसुओं से यमुना में बाढ़ आ जाती है। और तो क्या कहूँ सखी! आँसुओं के प्रवाह से मेरी शय्या भी घड़नई बन जाती है। उस समय मेरे मन में इच्छा होती है कि इसी पर चढ कर श्याम से मिलने जाऊँ। प्रिय कृष्ण के विरह में मेरे प्राण ओठों पर आ गये हैं। किन्तु हे सखी! मेरी इस असाध्य अवस्था को सूर के प्रभु से कौन समझाकर कहेगा?

विशेष—इस पद में विरहात्युक्ति है।

ऊधो जू! मैं तिहारे चरनन लागों बारक या ब्रज करबि भाँवरी।
निसि न नींद आवै, दिन न भोजन भावै, मग जोवत भई दृष्टि झाँवरी॥

अस्वाभाविकता कुछ नहीं।

मैं जान्यो मोको माधव हित है कियो।
प्रति प्रावर अलि ज्यों मिलि कमलहि मुख-मकरंद लियो॥
प्रब वह भली पूतना जाको पय-संग प्रान पियो।
मनमधु प्रंचं निपट सूने तन यह दुख अधिक दियो॥
हेति प्रचेत अमृत अवलोकनि, चालि जु सींचि हियो।
सूरदास प्रभु या प्रधार के नाते परत जियो॥३७५॥

शब्दार्थ—पय-संग—दूध पीने के साथ-साथ। हियो—हृदय।

व्याख्या—श्रीकृष्ण के प्रेम का उपालम्भ देती हुई राधा कहती है कि मैंने तो यह समझा था कि वे मुझसे प्रेम करते हैं। परन्तु उन्होंने तो मेरे साथ भ्रमर जैसा व्यवहार किया है। जैसे भौंरा कमल का मधु पीकर उसे छोड़ देता है उसी प्रकार मेरे मुख मकरन्द का पान करके उन्होंने मुझे त्याग दिया है। इस विरह-व्यथा से तो अच्छा यही होता कि हमारा यह जीवन उसी आनन्द का अनुभव करते-करते समाप्त हो जाता। इससे तो वह पूतना ही अच्छी रही जिसके स्तनपान करते-करते ही प्राणों को भी श्रीकृष्ण पी गये थे। हमारे मन रूपी मधु का पान करके उन्होंने हमारा तो यह शून्य शरीर छोड़ दिया और इस प्रकार हमारे लिए यह अत्यन्त दुःखदायी हो गया। जाते समय हमें अचेत देखकर तुमने अपनी अमृत रूपी दृष्टि से जो हमारे हृदय को सिक्त किया था उसीसे अभी तक हम जीवित चल रही हैं।

विशेष—दूसरी पंक्ति में उपमा, चौथी-पाँचवीं पंक्ति के 'मनमधु' तथा अमृत अवलोकनि में निरंगरूपक और जीवित रहने का युक्ति-सहित कारण बताने के कारण काव्यलिंग अलंकार है।

अब या तनहि राखि का कीजै ?
सुनि री सखी! स्यामसुंदर बिन बाटि विषम बिष पीजै॥
कै गिरिए गिर चढ़ि कै, सजनी, कै स्वकर सीस सिव दीजै।
कै दहिए दारुन दावानल, कै तो जाय जमुन धँसि लीजै॥
दुसह वियोग बिरह माधव के कौन दिनहि दिन छीजै ?
सूरदास प्रीतम बिन राधे सोचि सोचि मन ही मन खीजै॥३७६॥

शब्दार्थ—बाटि—घिसकर। का—क्या। खीजै—खीझती है।

...वियोग की असह्य व्यथा से पीड़ित राधा अपनी सखी से कहती है कि ...को रखकर क्या करूँगी? श्रीकृष्ण-वियोग से पीड़ित होकर तो मेरे मन ...है कि विष घिसकर पी जाऊँ या पर्वत से गिरकर मर जाऊँ ...सिर अपने हाथों से काटकर शिवजी पर चढ़ा दूँ। या कठोर दावानल में ...प्राणान्त कर लूँ अथवा यमुना में डूब मरूँ। माधव के असह्य वियोग में दिन-

रात क्षीण होकर मरना तो बहुत दुःखदायी है। सब दिन की व्यथा को एक बार ही क्यों न सहन कर लिया जाय? सूर कहते हैं कि प्रिय कृष्ण के वियोग में राधा मन ही मन इन बातों को सोचकर खीझती रहती है।

विशेष—अब न पहला वलवला है औ' न अरमानों की भीड़।
अब फकत मिटने की ख्वाहिश यक दिले-बिस्मिल में है॥

यशोदा का वचन उद्धव-प्रति

संदेसो देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो॥
उबटन तेल और तातो जल देखत ही भजि जाते।
जोइ जोइ माँगत सोइ सोइ देती करम करम करि न्हाते॥
तुम तौ टेव जानतिहि ह्वै हौ तऊ मोंहि कहि आवै।
प्रात उठत मेरे लाल लड़ैतेहि माखन-रोटी भावै॥
अब यह सूर मोंहि निसिबासर बड़ो रहत जिय सोच।
अब मेरे अलक-लड़ैते लालन ह्वै हैं करत संकोच॥३७७॥

शब्दार्थ—तातो—गरम। करम करम—क्रमशः। धाय—दाई। अलक-लड़ैते—लाड़ले।

व्याख्या—देवकी के पास सन्देश भेजती हुई यशोदा उद्धव से कह रही हैं कि हे ऊधो! तुम देवकी से मेरा यह सन्देश कह देना कि मैं तो तुम्हारे पुत्र की धाय हूँ, मुझ पर सदैव कृपादृष्टि रखना। कृष्ण की आदत है कि वे उबटन, तेल और गर्म जल को देखते ही स्नान के भय से दूर भाग जाते थे। मैं फिर जो-जो वे माँगते थे वही देकर उन्हें नहाने के लिए तैयार करती थी। तुम तो माँ होने के नाते उनकी आदतों से परिचित होगी ही किन्तु मेरा हृदय इन बातों को कहने में सन्तोष पा रहा है। सवेरे उठते ही उन्हें माखन-रोटी अच्छी लगती है। सूर कहते हैं कि यशोदा ने उद्धव से कहा कि मेरे मन में तो अब दिन-रात यही चिन्ता रहती है कि अब मेरे लाड़ले कृष्ण को वहाँ ये वस्तुएँ माँगने में संकोच होता होगा।

विशेष—स्वभावोक्ति अलंकार के साथ वात्सल्य रस की सुन्दर अभिव्यक्ति देखते ही बनती है।

जद्यपि मन समुझावत लोग।
सूल होत नवनीत देखि कै मोहन के मुख-जोग॥
प्रात-समय उठि माखन रोटी को बिन माँगे दैहै?
को मेरे बालक कुँवर कान्ह को छन-छन आगो लैहै?
कहियो जाय पथिक! घर आवैं राम स्याम दोउ भैया।
सूर कहाँ कत होत दुखारी जिनके मो सी मैया॥३७८॥

शब्दार्थ—मागो लैहै—सेवा की। राम—बलराम। नवनीत—माखन।

व्याख्या—यशोदा उद्धव जी से कह रही हैं कि यद्यपि सभी लोग मेरे मन को
भा रहे हैं किन्तु जब मैं दही बिलोकर माखन निकालती हूँ तो उसे मोहन-मुख के
य समझकर मेरे मन में पीड़ा हो उठती है। पता नहीं प्रातःकाल उठते ही बिना
। उन्हें कोई माखन-रोटी देता होगा या नहीं ? अब मेरे कुवर कन्हैया की क्षण-क्षण
ौन सेवा करता होगा ? अरे पथिक, तुम जाकर कह देना कि बलराम और श्याम
ों भाई घर चले आवें। सूर कहते हैं कि यशोदा ने उद्धव से कहा कि जब मुझ जैसी
ा अभी तक जीवित है तो वे व्यर्थ में ही वहाँ दुखी क्यों हो रहे हैं ?

विशेष—प्रस्तुत पद मे मातृ-हृदय की सुन्दर व्यंजना देखने योग्य है।

> जो पै राखति हौ पहिचानि।
> तौ बारेक मेरे मोहन को मोहिं देहु दिखाई आनि॥
> तुम रानी बसुदेव गिरहिनी हम अहीर ब्रजबासी।
> पठै देहु मेरो लाल लड़ैतो बारौं ऐसी हाँसी॥
> भलो करी कंसादिक मारे अवसर-काज कियो।
> अब इन गैयन कौन चरावै भरि-भरि लेत हियो॥
> खान, पान, परिधान, राजसुख जे तोउ लाड़ लड़ावैं।
> तदपि सूर मेरो यह बालक माखन ही सचु पावै॥३७१॥

शब्दार्थ—गिरहिनी—पत्नी (देवकी)। परिधान—वस्त्र। बारौं—जला दो।

व्याख्या—यशोदा देवकी को सन्देश भेजते हुए कह रही हैं कि हे ऊधो! उन
ह देना कि यदि वे मेरे और अपने परिचय को सुरक्षित रखना चाहती हैं तो
। एक बार मेरे मोहन को मुझे दिखाकर ले जायें। आप ठहरीं वसुदेव जी की
त्नी और हम हैं ब्रज के रहने वाले अहीर। हम आपसे विग्रह या आग्रह कर ही
सकती हैं ? किन्तु बस अब आप हमारे कृष्ण को भेज दो। हमारे तो प्राण निकल
और तुम्हें हँसी सूझ रही है। ऐसी हँसी चूल्हे में जाय। उन्होंने कंस को मारा था,
अच्छा किया था। यह कार्य तो समयानुकूल रहा। परन्तु अब वे वहाँ क्यों रह रहे हैं,
काम है अब उन्हें वहाँ ? यहाँ तो काम बहुत सारे हैं। यहाँ इन गायों को कौन
गा ? ये गायें भी उनके वियोग में हृदय भर लेती हैं। सूर कहते हैं कि यशोदा ने
कि ठीक है कि वहाँ किसी वस्तु का अभाव नहीं है परन्तु कृष्ण की तो माखन ही
त है। चाहे उन्हें खाने-पहनने को कितना ही भी मिल जाय और राजवैभव के
था लाड़-प्यार मिल जावें किन्तु मेरा बेटा तो माखन से ही चैन एवं सन्तोष प्राप्त
।

विशेष—इस पद में मातृ हृदय की कोमल भावनाओं की देखने योग्य व्यंजना

मथुरा लौटने पर उद्धव-वचन कृष्ण-प्रति

माधव जू! मैं अति सचु पायो।
अपने जानि सदेस-ब्याज करि ब्रजजन-मिलन पठायो॥
छमा करौ तौ करौं बीनती जो उत देखि हौं आयो।
श्रीमुख ज्ञानपंथ जो उचरयो तिन पै कछु न सुहायो॥
सकल निगम-सिद्धांत जन्म-स्रम स्यामा सहज सुनायो।
नहिं स्रुति, सेष, महेस, प्रजापति जो रस गोपिन गायो॥
कटुक कथा लागी मोहिं अपनी, वा रस-सिंधु समायो।
उत तुम देखे और भाँति मैं, सकल तृषाहि बुझायो॥
तुम्हरो अकथ-कथा तुम जानो हम जन नाहिं बसायो।
सूरदास सुंदर पद निरखत नयनन नीर बहायो॥३८०॥

शब्दार्थ—सचु—सुख। स्यामा—राधा। ब्याज—बहाने से।

व्याख्या—गोपियों की प्रेम भक्ति से प्रभावित उद्धव मथुरा आकर कृष्ण से कहते हैं कि हे कृष्ण! गोकुल मे मुझे बहुत सुख मिला है। आपने मुझे अपना समझकर संदेश देने के बहाने ब्रजवासियों से भेंट करने भेजा था। क्षमा करें, मैं उसे तुमसे निवेदन करना चाहता हूँ जो कुछ मैंने वहाँ देखा। आपने अपने मुख से जिस ज्ञानमार्ग का उपदेश दिया था उसका उन पर तनिक भी प्रभाव नहीं पडा। जीवन भर परिश्रम करने के पश्चात् वेद के जो सिद्धान्त समझ मे आ सकते हैं उन्हें राधा ने यों ही सुना दिया। जिस आनन्द का वेद वर्णन नहीं कर सकते, शेषनाग, शिव तथा ब्रह्मा प्राप्त नहीं कर सकते, वहाँ गोपियाँ उसका गान कर रही हैं। मैं वहाँ उस आनन्द के सागर मे डूब गया तथा उसके सामने मुझे अपनी कथा अर्थात् ज्ञानोपदेश कडुवा प्रतीत हुआ। वहाँ तो मैंने आपका कुछ और ही रूप देखा जिससे मेरी सारी ज्ञान-पिपासा शान्त हो गई। हे भगवान्! आपकी कथा अकथनीय है। उसे तो बस आप ही जान सकते हैं। हम जैसे व्यक्तियों की समझ से वह बाहर की वस्तु है। सूर कहते है कि इस प्रकार कहते-कहते भगवान् के सुन्दर चरणों को देखते ही उद्धव की आँखो से जल की वर्षा होने लगी।

विशेष—श्री जगन्नाथदास रत्नाकर ने भी इस अवसर पर ऊधो के मुख से कुछ इसी प्रकार के वचन कहलवाये है, देखिये—

रावरे पठाए जोग देन कौं सिधाए हुते,
ज्ञान गुन गौरव के अति उद्गार मैं।
कहै रत्नाकर पै चातुरी हमारी सबै,
कित धौं हिरानी दसा दारुन अपार मैं।
उड़ि उधिरानी किधौं ऊरध उसासनि मैं,
बहिधौं बिलानी कहूँ आँसुनि की धार मैं।

धूर ह्वै गई धौं मूरि दुख के दरेरनि में,
छार ह्वै गई धौं विरहानल की झार में ॥

दिन दस घोष चलहु गोपाल ।
गैयन को अवसेर मिटावहु भेंटहु भुज भरि ग्वाल ॥
नाचत नहीं मोर वा दिन तें आए बरषा-काल ।
मृग दूबरे दरस तुम्हरे बिनु सुनत न बेनु रसाल ॥
बृंदाबन भावतो तुम्हारो देखहु स्याम तमाल ।
सूरदास मैया जसुमति के फिरि आवहु नँदलाल ॥३८१॥

शब्दार्थ—अवसेर—हैरानी, दुःख । घोष—ग्वालों के गाँव । दूबरे—दुबले ।

व्याख्या—उद्धव जी कृष्ण से कह रहे हैं कि हे गोपाल ! दस दिन के लिए ग्वालों के गाँव चलिए । वहाँ चलकर आप गायों के कष्ट को दूर कर दो और ग्वालों से भुजा फैला कर भेंट करो । जिस दिन से आप वहाँ से आये हो उसी दिन से वर्षा आने पर भी मयूर नृत्य नहीं करते । वहाँ आपके दर्शनों के बिना मृग भी क्षीण हो गये हैं । वे अब वंशी की मधुर ध्वनि भी नहीं सुनते । हे तमाल के समान श्याम अंग वाले कृष्ण ! आप अपने प्रिय बृन्दावन को चलकर देख लो । सूर कहते हैं कि हे यशोदानन्दन ! आप पुनः ब्रज को लौट ही चलो ।

विशेष—गोप-गोपियों के सच्चे प्रेम का उद्धव पर कितना प्रभाव पड़ा है कि वे स्वयं कृष्ण को ब्रज लौट जाने की शिक्षा देने लगे ! गये थे ज्ञान सिखाने और सीख आये भक्ति ! गुरु जी शिष्य बनकर चले आये ।

कहँ लौं कहिए ब्रज की बात ।
सुनहु स्याम ! तुम बिनु उन लोगन जैसे दिवस बिहात ॥
गोपी, ग्वाल, गाय, गोसुत सब मलिन बदन, कृसगात ।
परमदीन जनु सिसिर हेम-हत अंबुजगन बिनु पात ॥
जो कोउ आवत देखति हैं सब मिलि बूझति कुसलात ।
चलन न देत प्रेम-आतुर उर, कर चरनन लपटात ॥
पिक, चातक बन बसन न पावहिं, बायस बलिहि न खात ।
सूर स्याम संदेसन के डर पथिक न वा मग जात ॥३८२॥

शब्दार्थ—हेम-हत—हिम या पाले के मारे हुए । कहँ लौं—कहाँ तक । बायस
। ।

...—उद्धव जी कृष्ण से कह रहे हैं कि मैं तुमसे ब्रज की दशा का वर्णन ... । हे श्याम ! सुनो, तुम्हारे बिना उन लोगों के दिन बड़ी कठिनता से ... है । ब्रज में गोपियाँ, ग्वाले, गौ और बछड़े सभी तुम्हारे बिना मलिन मुख और ... शरीर हो गये हैं । उनकी इस अत्यधिक दीनता को देखकर ऐसा लगता है मानो

कमलों के सुन्दर समूह पर शिशिर ऋतु में पाला पड़ गया हो और अब वे बिना पत्तों के रह गये हैं। जो कोई व्रज की ओर आता-जाता है वे गोपियाँ उसको ओर बहुत उत्सुकता से देखती हैं और सभी मिलकर उससे तुम्हारी कुशलता का समाचार पूछती हैं। प्रेम मे वशीभूत होने के कारण वे उस राहगीर को आगे नहीं चलने देती, उसके पैरों को अपने हाथों से जकड़कर पकड़ लेती हैं। कोयल और चातक अब व्रज में अच्छी दशा में नहीं हैं और कौआ भी अब बलि को नहीं खाता है। सूर कहते हैं कि उद्धव ने कृष्ण से कहा कि गोपियों द्वारा बार-बार तुम्हारे सन्देशों को पूछने के भय से अब पथिक व्रजमार्ग पर भी नहीं जाते हैं।

विशेष—प्रस्तुत पद मे उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति अलंकार है।

उनमें पाँच दिवस जो बसिये।
नाथ! तिहारी सौं जिय उमगत, फेरि अपनपो कस ये?
वह लीला बिनोद गोपिन के देखे हो बनि आवे।
मोको बहुरि कहाँ वैसो सुख, बड़भागी सो पावे।।
मनसि, बचन, कर्मना, कहत हौं नाहिन कछु अब राखी।
सूर काढ़ि डार्‌यो हौं व्रज तें दूध-माँझ की माखी।।३८३।।

शब्दार्थ—माखी—मक्खी। कस—कैसा। अपनपो—अपनापन।

व्याख्या—उद्धव कृष्ण जी से कह रहे हैं कि यदि व्रज की गोपिकाओं के बीच पाँच दिन भी रह लिया जावे तो हे नाथ! मैं आपकी सौगन्ध खाकर कहता हूँ कि हृदय आनन्द में विभोर हो जाता है और अपनापन नष्ट हो जाता है। उनकी अनेक प्रकार की लीलायें तथा मनोविनोद देखते ही बनते हैं। मुझे भला अब फिर वह सुख कहाँ मिल सकता है? वह सुख तो बड़े भाग्यशाली व्यक्तियों को प्राप्त होता है। मन, वचन और कर्म से अब मैं सत्य ही कहूँगा और कुछ गुप्त नहीं रखूंगा। सूर कहते हैं कि उद्धव ने श्रीकृष्ण से कहा कि व्रजवासियो ने मुझे व्रज से इस प्रकार निकाल कर फेंक दिया जैसे दूध से मक्खी को निकालकर फेंक दिया जाता है।

विशेष—उपमा एवं लोकोक्ति अलंकार है।

चित्त दै सुनो, स्याम प्रवीन!
हरि तिहारे बिरह राधे मैं जो देखी छीन।
कहन को सँदेस सुंदरि गवन मो तन कीन।।
छूटी छुद्रावलि, चरन अरुझे, गिरी बलहीन।
बहुरि उठी सँभारि, सुभट ज्यों परम साहस कीन।।
बिन देखे मनमोहन मुखरो सब सुख उनको दीन।
सूर हरि के चरन अंबुज रहीं आसा लीन।।३८४।।

शब्दार्थ—छुद्रावलि—क्षुद्र घंटिका, करधनी। गवन—जाना। छीन—क्षीण।

अरुझे—फँस गये।

व्याख्या—उद्धव जी कृष्ण से कह रहे हैं कि हे चतुर कृष्ण ! अब तनिक आपके विरह से व्यथित राधा की क्षीण दशा सुनो। जब वह सुन्दरी आपके लिए मेरे निकट अपना सन्देश लेकर आई तो उनकी करधनी गिर पड़ी और व्याकुलता में चरण फँस गये तथा वह शक्तिहीन होकर गिर पड़ी। उन्होंने अपनी इस दशा को उसी प्रकार सम्भालने का यत्न किया जिस प्रकार कि कोई योद्धा रण में थक कर फिर लड़ने का साहस एकत्रित करता है। सूर कहते हैं कि उद्धव ने कहा कि हे कृष्ण ! आपने उन्हें अपने सुंदर मुख के दर्शन नहीं दिये और मन्द मारे सुख उनके पास हैं। अतः बस अब वह आपके कमलरूपी चरणों के दर्शन पाने की आशा में डूबी हुई है।

विशेष—प्रस्तुत पद में रूपक, उपमा एवं अतिशयोक्ति अलंकार है।

माधव ! यह ब्रज को ब्योहार।
मेरो कह्यो पवन को भुस भयो, गावत नंदकुमार॥
एक ग्वारि गोधन लै रेंगति, एक लकुट कर लेति।
एक मंडली करि बैठारति, छाक बाँटि कै देति॥
एक ग्वारि नटवर बहु लीला, एक कर्म-गुन गावति।
कोटि भाँति कै मैं समुझाई नेकु न उर में ल्यावति॥
निसिबासर ये ही ब्रत सब ब्रज दिन-दिन नूतन प्रीति।
सूर सकल फीको लागत है देखत वह रस रीति॥१८४॥

शब्दार्थ—ब्योहार—व्यवहार। लकुट—लाठी। नेकु—तनिक। नूतन—नयी।

व्याख्या—ब्रजवासियों की दशा पर प्रकाश डालते हुए उद्धव कृष्ण जी से कहते हैं कि हे कृष्ण ! ब्रज में मेरे साथ बहुत ही विचित्र व्यवहार हुआ। मैंने उन्हें जो कुछ उपदेश सुनाया वह पवन में उड़ते भूसे के समान व्यर्थ हो गया और सारी गोपियाँ कृष्ण की ही गाथा गाती रहीं। एक ग्वालिनी को मैंने दही हाथ में लेकर धीरे-धीरे चलते देखा और एक को हाथ में लाठी लिए हुए। कोई ग्वालिनी सखाओं को घेरे में बैठाकर छाक की रोटी बाँट रही थी। कोई-कोई तो हे कृष्ण ! आपकी नाना प्रकार की लीलाएँ कर रही थी और कोई आपके गुण कर्मों के गीत गा रही थी। मैंने उन्हें अनेक प्रकार से समझाया परन्तु वे तनिक भी न समझीं। ब्रज बालाओं का हे कृष्ण ! यही व्रत है कि वे आपसे प्रतिदिन नई-नई प्रीति करें। सूर कहते हैं कि उद्धव ने कृष्ण से कहा कि हे कृष्ण, उनकी प्रेमयुक्त लीलाओं तथा प्रेम व्यवहारों को देखकर संसार में हमें सब कुछ फीका लगता है।

विशेष—प्रस्तुत पद में अतिशयोक्ति अलंकार है।

कहिबे में न कछू सक राखी।
बुधि बिबेक अनुमान आपने मुख आई सो भाखी॥

हौं पचि कहतो एक पहर में, वे छन मांहि अनेक।
हारि मानि उठि चल्यों दीन ह्वै छांडि आपनी टेक।।
कंठ वचन न बोलि आयो, हृदय परिहस-भीन।
नयन भरि जो रोय दीन्हों प्रसित-आपद दीन।।
श्रीमुख को सिखई ग्रथन को कथि सब भई कहानी।
एक होय तेहि उत्तर दीजे सूर उठी अबुहानी।।३८६।।

शब्दार्थ—भाखो—कहा। परिहस—खेद। उठी अबुहानी—प्रेत-सा सवार हो गया अर्थात् सब की सब एक साथ बोलने लगीं।

व्याख्या—उद्धव कृष्ण से कह रहे हैं कि हे कृष्ण ! मैंने गोपिकाओं से अपनी-सी कहने में कुछ कमी न रखी। उनसे मैंने अपनी बुद्धि, ज्ञान तथा अनुमान के अनुसार जैसे मेरे मुख में आया वैसा मैंने कहा। मैं तो थक-थककर उनसे एक पहर में थोड़ा बहुत ही कह पाता था किन्तु वे एक क्षण में कितनी ही बातें कह जाती थीं। अन्त में उनके इस व्यंगात्मक व्यवहार से तंग होकर तथा हार मानकर वहाँ से उठकर चला आया। उस समय मेरा गला रूँध गया और मेरे मुख से कोई वचन न निकला तथा मेरा हृदय उनके वश में हो गया। वे मेरे सामने अपनी आँखों में आँसू भर कर इस प्रकार रोने लगी जैसे *बड़ी भारी आपत्ति में फंस कर कोई दीन रोने लगता है।* हे कृष्ण ! तुम्हारे द्वारा सिखाये हुए सारे ग्रंथ उनके सामने कहानी बन गये। सूर कहते हैं कि उद्धव ने कृष्ण से कहा कि हे कृष्ण ! वहाँ पर कोई एक होता तो उसे उत्तर देकर समझा भी देते किन्तु वहाँ तो सब थीं और सभी एक साथ बोलती थीं। मुझे तो उस समय ऐसा लगता था कि जैसे कोई प्रेत उन पर चढ़ गया हो।

विशेष—उद्धव जी कृष्ण के सम्मुख गोपियों के प्रेम की महानता का प्रगटीकरण जिस सुन्दर ढंग से कर रहे हैं उससे यही स्पष्ट होता है कि उन पर गोपियों का रंग पक्का ही चढ़ा है।

अब अति पंगु भयो मन मेरो।
गयो तहाँ निर्गुन कहिबे को, भयो सगुन को चेरो।।
अति अज्ञान कहत कहि आयो दूत भयो यहि केरो।
निज जन जानि जतन तें तिनसो कीन्हों नेह घनेरो।।
मैं कछु कही ज्ञान गाथा ते नेकु न दरसति नेरो।
सूर मधुप उठि चल्यो मधुपुरी बोरि जोग को बेरो।।३८७।।

शब्दार्थ—नेरो—निकट। बेरो—बेड़ा, नाव। चेरो—शिष्य।

व्याख्या—गोपियों के प्रेम से प्रभावित ऊधो श्रीकृष्ण से मथुरा आने पर कह रहे हैं कि मेरा मन अब पंगु हो गया है। मैं गया था वहाँ निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देने किन्तु हो गया सगुण का सेवक। कहने को तो अपनी अज्ञानता के कारण उनसे मैं ज्ञान-गाथा कह ही आया। किन्तु थी मेरी यह गलती ही। मैंने उन्हें अपना ही समझकर

उनसे अपार स्नेह किया। मैंने उनसे जो कुछ ज्ञान-चर्चा की, उन्होंने उसे अपने निकट तक भी नहीं आने दिया। सूर कहते हैं कि ज्ञान का बेड़ा डुबाकर उद्धव जी मथुरा चले आये।

विशेष—उद्धव जी के कहने का तात्पर्य यह है कि गोपियों की प्रेम-दशा अत्यन्त प्रभावशालिनी थी। उसे देखकर बुद्धिमान व्यक्ति को चुप ही रहना चाहिये था। मैंने तो व्यर्थ ही उन्हें ज्ञानोपदेश दिया।

माधव ! सुनौ ब्रज को नेम।
बूझि हम षट मास देख्यौ गोपिकन को प्रेम॥
हृदय तें नहिं टरत उनके स्याम राम-समेत।
अलु-सलिल-प्रवाह उर पर अरघ नयनन देत॥
चीर अचल, कलस कुच, मनो पानि पदुम चढ़ाय।
प्रगट लीला देखि, हरि के कर्म, उठतीं गाय॥
देह गेह-समेत अर्पन कमललोचन-ध्यान।
सूर उनके भजन आगे लगै फीको ज्ञान॥३८८॥

शब्दार्थ—पानि—हाथ। षट—छः। पदुम—कमल।

व्याख्या—मथुरा वापिस आने पर उद्धव ने कृष्ण से कहा कि मैंने ब्रज के नियम को देखा और प्रश्नोत्तर द्वारा छः माह गोपियों के प्रेम को समझने का यत्न किया है। गोपियों के हृदय से बलराम और कृष्ण की याद नहीं मिटती। इसी स्मृति को ताजी बनाये रखने के हेतु वे अपने हृदय पर आँसुओं का जल प्रवाहित करती रहती हैं। उनके सजल नेत्र उस पर अर्घ्य चढ़ाया करते हैं। अंचल के चीर, कुचों के कलश तथा हाथों के कमल उस हृदय में स्थित स्मृति की मंगल-कामनायें करती रहती हैं। व्यथा में विभोर होकर वे आपकी लीलाओं को प्रगट रूप में देखती हैं और फिर आपके कार्यों का ध्यान करके आपकी कीर्ति के गीत गाने लगती हैं। अपने कमल रूपी नेत्रों में आपका ध्यान करके वे अपने शरीर और घर-बार सभी कुछ बलिदान कर देती हैं। सूर कहते हैं कि उद्धव ने कृष्ण से कहा कि उनकी आपके प्रति भक्ति को देखकर यह ब्रह्मज्ञान की चर्चा हमें फीकी ज्ञात होती है।

विशेष—इस पद में उत्प्रेक्षा तथा वाचक लुप्तोपमा अलंकार है।

सुनौ स्याम यह बात और कोउ क्यों समुझाय कहै।
दुहुँ दिसि की रति-विरह बिरहिनी कैसे कै जु सहै।
जब राधे तबहीं मुख माधौ माधौ रटनि रहै।
जब माधौ होइ जात सकल तनु राधा बिरह दहै।
उभय अग्र दौ दारुकीट ज्यों सीतलताहि चहै।
सूरदास अति बिकल बिरहिनी कैसेहु सुख न लहै॥३८९॥

शब्दार्थ—उभय—दोनों। प्रग—पंगों। लहै—प्राप्त करे।

व्याख्या—राधा के विरहोन्माद का वर्णन करते हुए उद्धव कहते हैं कि हे कृष्ण! इस बात को भला और कोई किस प्रकार समझा कर बता सकता है कि प्रेम की विरह-वेदना की दो भिन्न-भिन्न दशाओं को विरहिणी राधा किस प्रकार सहन करती है? विरह की एक दशा में तो उसे इस बात का ज्ञान है कि वह राधा है और वह कृष्ण-कृष्ण रटती रहती है। किन्तु जब विरह की दूसरी दशा होती है अर्थात् वह कृष्णमय हो जाती है तो वह कृष्ण होने पर राधा के विरह में जलने लगती है। उसकी दशा ठीक उसी प्रकार की है कि जैसे किसी लकड़ी के दोनों छोरों में आग लग जाने पर उसके अन्दर बैठा हुआ कोई कीट शीतलता प्राप्त करने के लिए इधर-उधर भड़भड़ाता है। सूर कहते हैं कि उद्धव ने श्रीकृष्ण से कहा कि विरहिणी राधिका को इस प्रकार किसी भी ढंग से सुख प्राप्त नहीं होता।

विशेष—सूर पर विद्यापति का प्रभाव है। देखिए, उन्होंने भी राधा का कुछ इसी प्रकार का चित्र निम्न पंक्तियों में खींचा है—

> राधा सयँ जब पुनतहि माधव माधव सयँ जब राधा।
> दारुन प्रेम तबहिं नहिं टूटत बाढ़त बिरहक बाधा॥
> दुहि दिसि दारु-दहन जैसे दगधई आकुल कीट पराग।

> उमँगि चले दोउ नैन बिसाल।
> सुनि सुनि यह संदेस स्यामघन सुमिरि तिहारे गुन गोपाल।
> आनन बपु उरजनि के अंतर जलधारा बाढ़ी तेहि काल।
> मनु जुग जलज सुमेर सृंग तें जाय मिले सम ससिहि सनाल।
> भीजे बिय आँचर उर राजित तिनपर बर मुकुतन की माल।
> मनो इंदु आए नलिनी-दलऽलंकृत-प्रमी-प्रोसकन जाल।
> कहँ वह प्रीति रीति राधा सों कहँ यह करनी उलटी चाल।
> सूरदास प्रभु कठिन कथन तें क्यों जीवै बिरहिनी बेहाल॥३६०॥

शब्दार्थ—बपु—शरीर। उरज—स्तन। अंतर—बीच। सनाल—मृणाल सहित। बिय—दोनों। आँचर—स्तन।

व्याख्या—उद्धव कृष्ण से कहते हैं कि हे कृष्ण! आपके सन्देश को सुनकर तथा आपके गुणों का स्मरण करके राधा की दशा अत्यन्त अधीर हो गई है तथा उनके दोनों विशाल नेत्रों से जल की धारा उमड़ पड़ी है। आपके सन्देश को कहते ही उनका मुख, शरीर तथा उरोज नेत्रों की जलधारा से भीग गये। उस समय वे ऐसे प्रतीत होने लगे मानो दो कमल सुमेरु पर्वत की चोटी के ऊपर खिले हुए हैं जो शशि से उन कमलों के सुन्दर नाल द्वारा जुड़े हुए हैं। कहने का भाव यह है कि पर्वतरूपी कुचों पर दो कमल रूपी नेत्र हैं जिनमें से आँसुओं की धारा प्रवाहित हो रही है और यही धारा सुन्दर नाल है जो मुख रूपी चन्द्रमा से कुच रूपी पर्वत के ऊपर दो कमल रूपी नेत्रों को मिला

रही है। मोनम में वे दोनों स्तन आँसुओं की धारा से भीग गये। उन पर मु मोतियों की माला शोभायमान थी। अश्रुओं से भीगा वक्षस्थल ऐसा लग रहा था मानो चन्द्रमा (मुख) के उदित होने पर उसके द्वारा टपके अमृत (आँसू) से मुँदे क (स्तन) धोनकमलों को धारण किये हुए शोभायमान हों। कहाँ तो राधा से आपकी प्रीति और कहाँ यह निर्गुणोपदेश का आदेश। वस्तुतः आपकी सब बातें उल्टी ही हैं सूर कहते हैं कि उद्धव जी ने कृष्ण से कहा कि आप ही सोचिये कि आपके इन कठ संदेशों से विरह व्यथित गोपियाँ किस प्रकार जीवित रह सकती हैं?

विशेष—उत्प्रेक्षा अलंकार की छटा देखते ही बनती है।

> नैन घट घटत न एक घरी।
> कबहुँ न मिटत सदा पावस ब्रज लागी रहति झरी।
> विरह इंद्र बरसत निसिवासर यह अति अधिक करी।
> उरध उसास समीर तेज जल उर भुवि उमंगि भरी।
> बूड़ति भुजा रोम द्रुम अंबर अरु कुच उच्च थरी।
> चलि न सकत थकि रहे पथिक सब चंदन कीच खरी।
> सब ऋतु मिटी एक भई ब्रजमहि यहि विधि उलटि धरी।
> सूरदास प्रभु तुम्हरे बिछुरे मिटि मर्याद टरी॥३६१॥

शब्दार्थ—घट—पानी से भरे घड़े। झरी—पानी की झड़ी। उर भुवि—छाती रूपी भूमि। भुजा—शाखा। रोम—रोम रूपी वृक्ष। अंबर—वस्त्र, आकाश। पथिक—यात्री, शरीर के विभिन्न अंग।

व्याख्या—राधा की विरह-दशा का वर्णन करते हुए उद्धव कृष्ण से कहते हैं कि राधा के घड़े के समान नेत्र जल से सदैव सम्पन्न रहते हैं। उनमें एक घड़ी के लिए भी पानी कम नहीं होता क्योंकि ब्रज में सदैव वर्षाऋतु रहती है और जल बरसता रहता है। विरह के कारण राधा के नेत्रों से दिन-रात जल बरसता रहता है। बरसने की कुछ अधिकता हो गई है। राधा की गहरी-गहरी साँसें पवन का तीव्र वेग है और इस प्रकार इस तीव्र वायु के साथ आँसुओं का जल हृदय रूपी भूमि पर उमंगित होकर बह रहा है जिससे चारों ओर जल ही जल दिखाई दे रहा है। आँसुओं की इसी जल-वृष्टि से शाखा रूपी भुजाएँ, भीगे वृक्षों के समान रोयें तथा ऊँचे स्थान की भाँति कुच आदि सभी डूब गये हैं। इसी भीषण वर्षा के कारण शरीर के सभी अंग रूपी पथिक थक गए हैं और वे उस कीचड़ के कारण जो कि संयोग के समय लगाये हुए चंदन के साथ आँसुओं से मिलकर बन गई थी अब मार्ग पर नहीं चल पाते। ब्रह्मा का चार ऋतुओं का विधान भी ब्रज में पलट गया। यहाँ तो केवल एक पावस ऋतु ही रहती है। सूर कहते हैं कि उद्धव ने कहा कि हे कृष्ण, तुम्हारे वियोग के कारण ही ब्रह्मा की यह ऋतु वाली मर्यादा मिट गई।

विशेष—(i) देखिए, निम्न पंक्तियों में रत्नाकर जी ने भी ब्रज में इस एक ही

ऋतु के रहने का वर्णन किया है—

> लागी रहै नैननि सों नीर की झरी औ
> उठै चित्त में चमक सो चमक चपला की है।
> बिनु घनश्याम धाम-धाम ब्रज मण्डल में
> ऊधो नित बसत बहार बरसा की है॥

(ii) सांगरूपक अलंकार की छटा भी दर्शनीय है।

> मैं समुझाई अति, अपनो सो।
> तदपि उन्हें परतीति न उपजी सबै लखो सपनो सो।
> कही तिहारी सबै कही मैं और कछू अपनी।
> श्रवन न बचन सुनत हैं उनके जो घट महँ झकनी।
> कोइ कहे बात बनाइ पचासक उनकी बात जु एक।
> धन्य धन्य जो नारी ब्रज की बिनु दरसन इहि टेक।
> देखत उमँग्यो प्रेम, वहाँ को धरी रही सब, रोयो।
> सूर स्याम हौं रह्यौं ठगो सो ज्यौं मृग चौंको भोयो॥३६२॥

शब्दार्थ—अपनो सो—भरसक प्रयास करके। घट—शरीर। झकनी—सुनकर भी। भोयो—धोखे में पड़ा हुआ।

व्याख्या—कृष्ण को समझाते हुए ऊधो जी कहते हैं कि हे कृष्ण ! मैंने राधा को अपना भरसक प्रयास करके समझाया किन्तु उन्हें मेरे कथन पर तनिक भी विश्वास नहीं हुआ। वह इस सबको स्वप्न समझकर सुनती रहीं। हे कृष्ण ! राधा के सामने मैंने आपकी तो सब बातें कही ही थीं साथ ही अपनी ओर से भी बढ़ा-चढ़ा कर बातें कहीं किन्तु जिस प्रकार कोई घड़े मे बोले तो घड़े से आवाज निकल कर बोलने वाले के ही कानों में पड़ जाती है और घड़े पर उसका कुछ प्रभाव नहीं रहता उसी प्रकार मेरी बातें राधा के कानों में पड़ीं और उस पर कोई असर न हुआ। कोई चाहे उन गोपियों से सहस्रों प्रकार की बातें बना-बना कर कहता रहे किन्तु धन्य हैं वे ब्रज की स्त्रियाँ क्योंकि उनकी तो बस एक ही प्रतिज्ञा है कि कृष्ण यदि एक बार दर्शन दे दें तो हम कुछ बात मानेंगी अन्यथा कुछ भी नहीं मान सकतीं। हे कृष्ण ! उन गोपियों की इस प्रकार की प्रेम की दृढ़ता को देखकर मेरा हृदय भी प्रेम से उमगित हो उठा और मैं मथुरा की राजनीति तथा अपने निर्गुण ब्रह्म के उपदेश पर बहुत पछताया। सूर कहते हैं कि उद्धव ने कृष्ण से कहा कि मैं तो अपनी इस चर्चा से ऐसा चकित होकर रह गया जैसे कोई धोखे मे पड़ा हुआ मृग अपने को धोखे में पड़ा हुआ समझकर चौंक पड़ता है।

विशेष—कैसे पन सूछम अमोल जो पठायो आप,
> ताको मोल तनक तुल्यो न तहाँ ताँठी तैं।
> त्याये पूरि पूरि-अंग संगनि तहाँ को जहाँ,
> मान गयौ सहित गुमान गिरि गाँठी तैं॥

शब्दार्थ—बारन—द्वार पर। सुफलकसुत—अक्रूर। आरति—आरती, सत्कार।]
तरक—तर्क।

व्याख्या—कृष्ण के यह कहने पर कि हे उद्धव ! तुम ब्रज फिर जाओ, उद्धव जी कह रहे हैं कि आप मुझे ही ब्रज में बार-बार भेजकर *क्यों दुःखी होते हो ? मेरी राय* में तो यही ठीक रहेगा कि अब किसी चतुर पुरुष को वहाँ भेजा जाय। जब पता लगेगा वह तो द्वार पर से ही लौटकर आ जायगा। मैंने तो गोपियों को प्रत्येक प्रकार के स्वार्थ और परमार्थ की बात समझायी थी किन्तु उन्हें हर बार क्रोध ही आया। मेरी राय में अब आप अक्रूर को ही फिर से भेज दें। उनसे प्रसन्न होकर गोपियाँ उनका कहना मान लेंगी तथा उनकी आरती उतार लेंगी। ऐसा मजा चखावेंगी जो वे भी ध्यान रखेंगे। उद्धव की इतनी बात सुनकर कमल के समान सुन्दर नेत्र वाले कृष्ण ने उन्हें अपनी भुजाओं में समेट लिया। सूर कहते हैं कि इस प्रकार कृष्ण ने अपने सखा उद्धव के हृदय की बात को अपने मन में समझकर मुसकरा दिया।

सुनहु स्याम जु वै ब्रज-बनिता बिरह तुम्हारे भई बावरी।
नाहिन नाथ और कहि आवत छाँड़ि जहाँ लगि कथा रावरी।
कबहुँ कहति हरि माखन खायो कौन बसे या कठिन गाँव री।
कबहुँ कहति हरि ऊखल बाँधे घर घर तें लै चलौ दाँवरी।
कबहुँ कहति ब्रजनाथ बन गये जोवत मग भई दृष्टि झाँवरी।
कबहुँ कहति या मुरली महियाँ लै लै बोलत हमरो नाँव री।
कबहुँ कहति ब्रजनाथ साथ तें चंद्र उग्यो है एहि ठाँव री।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस बिनु अब वह मूरति भई साँवरी॥३६८॥

शब्दार्थ—दाँवरी—रस्सी। झाँवरी—मलिन। महियाँ—में।

व्याख्या—उद्धव जी कृष्ण से कहते हैं कि हे कृष्ण ! *आपके विरह में सभी ब्रज* की स्त्रियाँ पागल हो गई हैं। वे तो बस आपकी कथा ही कहती रहती हैं, उनसे और कुछ कहते ही नहीं बनता। वे आपकी लीलाओं का स्मरण करती हैं। कभी कहती हैं कि कृष्ण ने हमारा सारा माखन खा लिया, ऐसे कठिन गाँव में कौन रहे ? कभी कोई गोपी दूसरी गोपियों से कहती है कि चलो सखियो, अपने घर से रस्सियाँ ले चलो, हम हरि को ऊखल से बाँध देंगी। कभी कहती हैं कि घनश्याम को वन गये बहुत विलम्ब हो गया है, मार्ग देखते-देखते हमारी दृष्टि धुंधली हो गई है। कोई कहती है कि देखो कृष्ण मुरली द्वारा हमारा नाम ले लेकर हमें पुकार रहे हैं। कभी कहती हैं कि यहाँ कृष्ण के साथ राधिका को साथ-साथ खेलते देखा था। कभी वे कहती हैं, सूर कहते हैं, कि हे कृष्ण ! तुम्हारे दर्शनों के बिना चन्द्रमा रूपी वही राधा मलीन हो गई है।

विशेष—इस पद में प्रकारान्तर से कृष्ण की बाल-लीला अंकित है।

हरि आए सो भली कीनी।
मोहिं देखत कहि उठी राधिका अंक तिमिर को दीनी॥
तनु अति कँपति विरह अति व्याकुल उर धुकधुकी खेद कीनी।
चलत चरन गहि रही गई गिरि स्वेद-सलिल भय भीनी॥
छूटी लट, भुज फूटी बलया, टूटो लर, फटि कंचुकी झीनी।
मनो प्रेम के परन परेवा याहो तें पढ़ि लीनी॥
अवलोकति यहि भाँति मानो छूटी आहमनि छीनी।
सूरदास प्रभु कहाँ कहाँ लगि है अयान मति हीनी॥३९९॥

शब्दार्थ—धुकधुकी—धड़कन। भीनी—युक्त। लट—केश। बलया—चूड़ी। लर—माला की लड़ी। कंचुकी—चोली। झीनी—पतली, महीन। परन—प्रण। परेवा—कबूतर।

व्याख्या—राधा की उन्माद दशा का वर्णन करते हुए उद्धव जी कृष्ण से कहते हैं कि हे कृष्ण! जब मैं व्रज पहुँचा तो राधा जी ने यह समझा कि कृष्ण जी आ गये और कहा कि कृष्ण जी आ गये तो अच्छा ही किया। मुझे देखते ही वह उठीं और उन्होंने आँखें बन्द किये ही अन्धकार में चुम्बन किया। विरह से वह बहुत व्याकुल थीं और उनका हृदय धड़क रहा था। मेरे चलते ही उन्होंने चरण पकड़ लिये और गिर पड़ीं तथा पसीने से लथ-पथ हो गई बालों की लटें छूट गईं और बांहों की चूड़ियाँ टूट गईं। उनकी माला की लड़ी भी टूट गई और उनकी जीर्ण चोली भी फट गई। मैंने यह समझ लिया कि वह प्रेमपाश में बँधी कपोती के समान व्याकुल हैं। सर्पिणी जैसे मणि के छिन जाने पर व्याकुल होकर छटपटाने लगती है, उसी प्रकार मैंने उनको देखा। मैं कहाँ तक राधा जी की दशा का वर्णन करूँ, वह तो प्रेम में दीवानी होकर बहुत ही बुद्धिहीन बन गई हैं।

विशेष—(i) विप्रलम्भ शृंगार की 'उन्माद और जड़ता' इन दो दशाओं का इस पद में बहुत सुन्दर वर्णन है।

(ii) उत्प्रेक्षा अलंकार है।

कृष्ण-वचन उद्धव-प्रति

ऊधो! मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं।
हंस सुता की सुंदरि कगरी अरु कुंजन की छाहीं॥
वै सुरभी, वै बच्छ दोहनी, खरिक दुहावन जाहीं।
ग्वाल बाल सब करत कुलाहल नाचत गहि गहि बाहीं॥
यह मथुरा कंचन की नगरी मनि-मुक्ताहल जाहीं।
जबहिं सुरति आवति वा सुख की जिय उमगत, तनु नाहीं॥
अनगन भाँति करी बहु लीला जसुदा नंद निबाहीं।
सूरदास प्रभु रहे मौन ह्वै, यह कहि कहि पछिताहीं॥४००॥

शब्दार्थ—खरिक—गोशाला । जाहीं—जिसमें । निबाहीं—निर्वाह किया ।

व्याख्या—कृष्ण ने उद्धव से ब्रज की सुन्दरता का स्मरण करके प्रत्युत्तर में कहा कि हे उद्धव ! मुझसे ब्रज का विस्मरण नहीं होता। ब्रज में सूर्य की कन्या यमुना की सुन्दर कछार है और घने-घने कुंजों की छाया है। ब्रज की वे गायें, बछड़े और दुहनियाँ! जब हम गोशाला में दूध दुहाने जाते थे तो मेरे साथी जो रास्ते में शोर करते हुए हाथ में हाथ डालकर नाचते-गाते हुए चलते थे, मुझसे भूलते नहीं हैं। हे उद्धव ! यह मथुरा सोने की नगरी अवश्य है और यहाँ मोती और मणियों की खान भी हैं परन्तु जब मुझे ब्रज में भोगे हुए सुख का स्मरण होता है तो मेरा हृदय वहाँ पहुँचने के लिए व्याकुल हो उठता है और मैं सुधबुध भूल जाता हूँ। मैंने वहाँ अनेकों प्रकार की लीलायें की थीं जिन्हें यशोदा और नन्द ने हँस-हँसकर निर्वाह किया था। सूर कहते हैं कि कृष्ण उद्धव से इतना कहते-कहते ही चुप हो गये और ब्रज का स्मरण कर-कर के पछताने लगे।

विशेष—प्रस्तुत पद भ्रमरगीत का अन्तिम पद है।

वस्तुतः कृष्ण ब्रज तथा ब्रज की सभी वस्तुओं को याद करके अवश्य ही पछताने लगे होंगे क्योंकि वे उनसे बहुत प्रेम करते थे।

परिशिष्ट

सहायक ग्रंथों की सूची

१. सूरसागर	—महात्मा सूरदास द्वारा रचित
२. भ्रमरगीतसार	—पं० रामचन्द्र शुक्ल
३. सूर-मीमांसा	—डा० ब्रजेश्वर वर्मा
४. महाकवि सूरदास	—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी
५. सूर का भ्रमरगीत एक अन्वेषण	—विश्वम्भरनाथ उपाध्याय
६. सूर की भाषा	—डा० प्रेमनारायण टंडन
७. सूर-निर्णय	—श्री प्रभुदयाल मीतल तथा श्री द्वारकानाथ पारीख
८. अष्टछाप	—डा० धीरेन्द्र वर्मा
९. हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा	—डा० स्नेहलता श्रीवास्तव
१०. सूर और उनका साहित्य	—डा० हरवंशलाल शर्मा
११. सूर-साहित्य	—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी
१२. सूर-सौरभ	—डा० मुन्शीराम शर्मा
१३. सूरदास	—पं० रामचन्द्र शुक्ल
१४. संक्षिप्त हिन्दी नवरत्न	—श्री मिश्र बन्धु
१५. भक्तिशिरोमणि महाकवि सूरदास	—श्री न० मो० सान्याल
१६. सूर की काव्य कला	—डा० मनमोहन गौतम
१७. हिंदी साहित्य में भ्रमरगीत की परम्परा	—डा० सरला शुक्ला